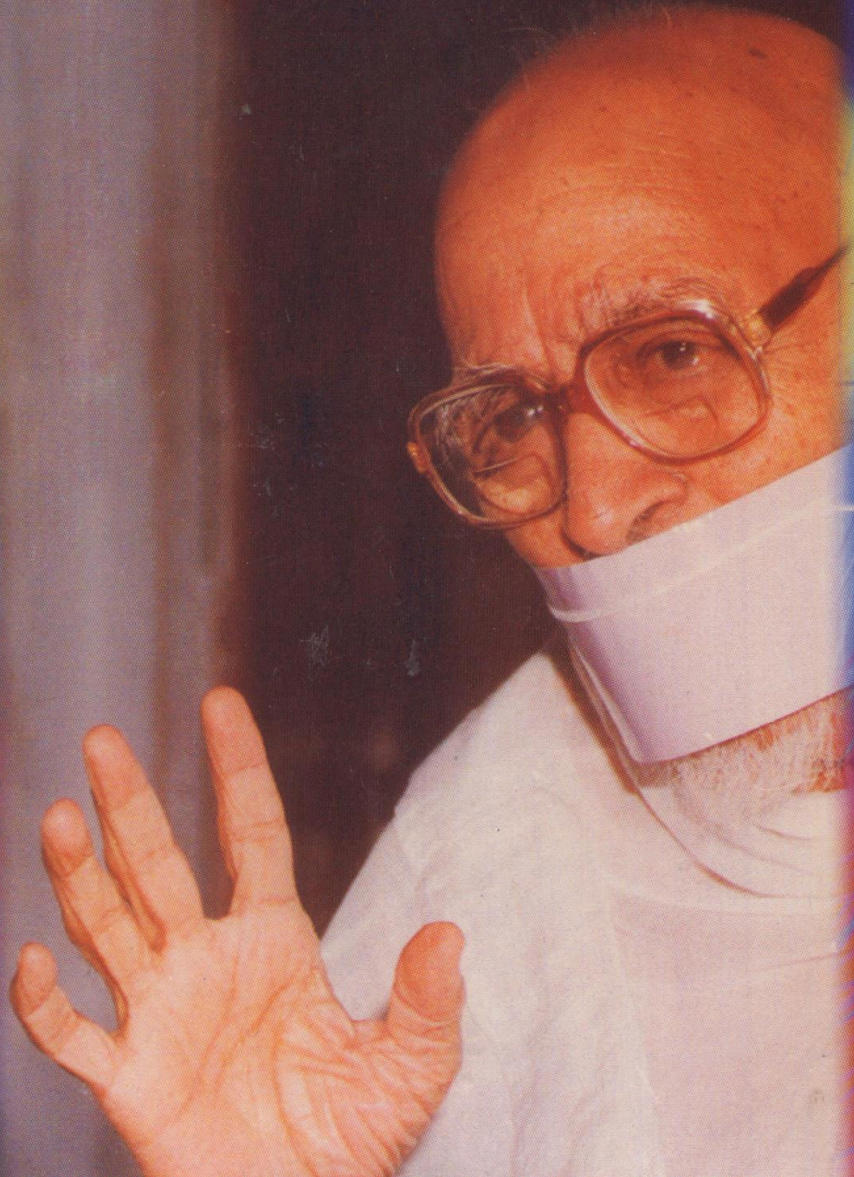


तुलसी वाङ्मय

जोत जले अब ज्ञान की

आचार्य तुलसी



तुलसी वाङ्मय

प्रवचन पाथेय ग्रंथमालाह्र१०

जोत जले अब ज्ञान की

आचार्य तुलसी



जैन विश्वभारती प्रकाशन
लाडनूं

जोत जले अब ज्ञान की

आचार्य तुलसी

संपादक :

मुनि धर्मरुचि

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती

लाडनूँ (राज.) ३०४३०६

© प्रकाशकाधीन

संस्करण : २००४

मूल्य : रुपयो मात्र

आवरण :

मुद्रक :

सांखला प्रिटर्श, सुगन निवास

चंदनसागर, बीकानेर ३३४००१ (राज.)

PANI IAANA SE PHLE

ISBN 81

by Acharya Tulsi

Rs.00.00

●————— चार —————●

स्वकथ्य

प्रवचन करना एक कला है तो उनका संकलन-संपादन करना भी एक कला है। दोनों कलाओं की स्वतंत्र सत्ता है और स्वतंत्र महत्त्व है। कभी-कभी तो मुझे ऐसे लगता है कि प्रवचन करने में जितना समय और श्रम लगता है, उन्हें लिखने एवं संपादित करने में उससे कहीं अधिक समय और अधिक श्रम लग जाता है। हमारे धर्मसंघ के साधु-साध्वियां श्रमशील हैं। श्रम-निष्ठा के संस्कार उन्हें विरासत में प्राप्त हुए हैं। वे अपने लिए जितना श्रम करते हैं, उससे भी अधिक श्रम धर्मसंघ की सेवा में समर्पित करते हैं। वे स्वयं उजागर न होकर धर्मसंघ को उजागर करना चाहते हैं। वे निरंतर काम करते हुए भी उसे गुरु की कृपा का अवदान मानकर चलते हैं। वे अपने जीवन में जहां कहीं सफलता का वरण करते हैं, उसे गुरु की शक्ति का सुफल मानते हैं। यही कारण है कि हमारा धर्मसंघ सदा उदितोदित रहता है। जब तक हमारे साधु-साध्वियों में श्रद्धा, समर्पण और सेवा के संस्कार घनीभूत रहेंगे, धर्मसंघ के बहुआयामी विकास के पग रुकेंगे नहीं।

धर्मसंघ का आचार्य होने के नाते प्रवचन करना मेरी दिनचर्या का एक अभिन्न अंग बन गया। कई बार दिन में दो-चार प्रवचन करने का अवसर मिल जाता है। एक बार तो प्रायः बोलना ही होता है। 'प्रवचन' मेरी हाँवी नहीं है। इसी प्रकार इस क्षेत्र में मेरी अरुचि भी नहीं है। जब जैसी जनता सामने होती है, मैं अपने प्रवचन का विषय और शैलीहदोनों बदल लेता हूँ। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि मेरी बात सुनकर श्रोताओं को कोई दिशा मिल रही है और कभी-कभी मैं स्वयं ही बोलता-बोलता आत्म-विभोर हो जाता हूँ। कभी-कभार ऐसा भी प्रसंग आता है, जब मैं पूरे मन से नहीं बोलता हूँ। पर बहुत बार ऐसा होता है कि प्रवचन करने में मुझे अतिरिक्त आत्मतोष मिलता है। जिस समय मैं ग्रामीण लोगों

के बीच में बैठता हूँ, उनकी समस्याएं सुनता हूँ, उन्हें व्यसन-मुक्ति और रूढ़ि-मुक्त होने की प्रेरणा देता हूँ और वे मेरी छोटी-से-छोटी सलाह को बड़े प्रेम से स्वीकार करते हैं, शराब, तंबाकू आदि नशीली वस्तुएं छोड़ते हैं, सामाजिक कुप्रथाएं छोड़ते हैं और अपनी सादगीपूर्ण भक्ति-भावना से मेरे दिल में स्थान बना लेते हैं, उस समय मैं अभिभूत हो जाता हूँ। ऐसे भोले-भाले सीधे-साधे लोगों के बीच दो-दो घंटे लगातार बोलने पर भी मैं थकान का अनुभव नहीं करता।

गांवों की तरह मैं शहरों में जाता हूँ, रहता हूँ। वहां की प्रबुद्ध जनता संपर्क में आती है। उसके साथ मानवीय और राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में चर्चा करता हूँ। उस समय भी मुझे बड़ा अच्छा लगता है। विद्वान लोगों की परिषद में दार्शनिक और मानवीय दृष्टि का विश्लेषण करते समय मैं स्वयं को भूला-सा जाता हूँ।

गांवों और शहरों में दिए गए मेरे प्रवचनों को संकलित-संपादित करने का सिलसिला यदा-कदा शुरू होता है, तब मुझे लगता है कि इनका क्या उपयोग होगा। किंतु जब वे मुद्रित होकर सामने आते हैं, तब ऐसी प्रतीति होती है कि जन-साधारण के लिए प्रवचन-साहित्य का जितना उपयोग है, दार्शनिक और सैद्धांतिक साहित्य का उतना नहीं है। इसी कारण इस काम में रुचि रखनेवाले साधु-साध्वियों को मैं प्रोत्साहित करता रहता हूँ। मुनि धर्मरुचि भी अभिरुचिसंपन्न साधु है। शारीरिक दृष्टि से कुछ कठिनाई रहने पर भी वह जिस काम में लग जाता है, उसे पूरे मन से करता है। 'प्रवचन पाथेय' का यह चौथा भाग सन १९७७ में लाडनू प्रवास के समय दिए गए प्रवचनों का एक संकलन है। उस समय लिखे गए प्रवचनों का उसने इस वर्ष पुनः निरीक्षण कर उन्हें पठनीय सामग्री के रूप में प्रस्तुत कर दिया। यह प्रस्तुति पाठकों को सोचने और समझने की गहरी प्रेरणा दे, यही अभीष्ट है।

बीदासर

आचार्य तुलसी

५ जनवरी १९८९

संपादकीय

आचार्य श्री तुलसी एक अमर गाथा हैंहयुग-सृजन की, प्रबल प्रेरणा हैंहजीवन जागरण की। लाखों-लाखों लोग जहां उन्हें एक जैन मुनि के रूप में जानते हैं, तेरापंथ के नवमाधिशास्ता के रूप में पहचानते हैं, वहां करोड़ों-करोड़ों व्यक्तियों की नजर में उनका व्यक्तित्व एक मानवधर्म/जैन-धर्म के प्रवर्तक के रूप में उभरा है। निस्संदेह वे एक संप्रदायविशेष से अनुबद्ध/संबद्ध हैं। परंतु उनका दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं है, बहुत व्यापक है। संपूर्ण मानव जाति के उदितोदित भविष्य के प्रति वे अत्यंत संवेदनशील हैं। इसी लिए व्यक्तिगत से लेकर अंतरराष्ट्रीय स्तर तक की हर समस्या के संदर्भ में वे सोचते हैं और उसे समाहित करते हैं। उनके इस समाधान से जन-जन को यथार्थ के धरातल पर सोच-समझ का एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है।

जैन दर्शन में सम्यक दृष्टि का सर्वाधिक महत्त्व है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक नहीं बनता, तब तक उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। उसका व्रत भी अव्रत ही होता है। दृष्टिकोण के मिथ्यात्व के कारण उसका आचरण भी सम्यक कब बन पाता है! इसलिए जीवन-विकास की प्राथमिक अपेक्षा है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो। प्रकारांतर से हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सम्यक दृष्टि की प्राप्ति मुक्ति का प्रवेश-द्वार है। मानना चाहिए, जिसने सम्यक दृष्टि प्राप्त कर ली, सोच-समझ की यथार्थता पा ली, उसने एक अपेक्षा से सब-कुछ प्राप्त कर लिया।

प्रवचन करना आचार्य श्री की जीवनचर्या का एक अंग है। उन्हें सुनने के लिए तेरापंथी और जैन आते हैं तो अजैन भी आते हैं। पुरुष आते हैं तो महिलाएं और बच्चे भी आते हैं। महाजन आते हैं तो हरिजन भी आते हैं। आस्तिक आते हैं तो नास्तिक और कम्यूनिस्ट भी आते हैं। साहित्यकार, वकील, न्यायाधीश, डॉक्टर, इंजीनियर आदि प्रबुद्ध वर्ग के

लोग आते हैं तो गांवों के अनपढ़ किसान और जंगलों में रहनेवाले आदिवासी भी आते हैं। परंतु वे भीड़ के रूप में केवल इकट्ठे नहीं होते, बल्कि मंत्रमुग्ध-से बन ग्रहणशील मानस से उनका शब्द-शब्द सुनते भी हैं। तब घटित होता है एक आश्चर्य! एक चमत्कार!! मैंने साक्षात् देखा है, कम्यूनिस्ट एवं नास्तिकों को सहसा आस्तिक बनते हुए। मैंने देखा है, धर्म को रूढ़ि और दकियानूसी विचार समझनेवालों द्वारा उसे जीवन की शांति और आनंद के लिए एक अनिवार्य अपेक्षा एवं निर्विकल्प साधन के रूप में स्वीकार किए जाते हुए। देखा है मैंने वर्षों से पी जानेवाली चिल्में फोड़ी जाते हुए, बीड़ी-सिगरेट के बंडल व पॉकेट फेंके जाते हुए। मैंने देखा है, सर्वण हिंदुओं द्वारा अस्पृश्यता को मानवजाति का कलंक मान उसे सदा-सदा के लिए विदा कर एक हरिजन भाई को सगे भाई की तरह गले लगाए जाते हुए। मैंने देखा है, कड़े-से-कड़ा सामाजिक प्रतिबंध एवं कानून जहां असफल रहे, वहां आचार्य श्री के चंद शब्दों ने बड़े-बड़े अपराधियों के दिल और दिमाग को प्रायश्चित्त की भूमिका पर रूपांतरित कर दिया। परिणामतः अपने अभिशप्त जीवन से ऊपर उठकर उन्हें एक आदर्श नागरिक का जीवन जीने के लिए संकल्पबद्ध होते हुए मैंने देखा है।.....

ऐसा क्यों होता है? बेशक आचार्य श्री का प्रवचन-कौशल अनूठा है। उनकी अभिव्यक्ति अजब-गजब की है। परंतु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रवचन में मात्र आचार्य श्री के शब्द भाषायित नहीं होते, अपितु उनका स्वयं का जीवन भी बोलता है, उनकी साधना भी बोलती है, उनकी आत्मा भी बोलती है; और जहां व्यक्ति का जीवन बोलता है, साधना बोलती है, आत्मा बोलती है, वहां शब्द मात्र शब्द नहीं रहते, शक्ति बन जाते हैं। उनमें एक गुरुत्वाकर्षण पैदा हो जाता है; व्यक्ति के हृदय को छूने की अर्हता अद्भूत हो जाती है। ऐसा एक-एक क्षण, एक-एक दृश्य और वे जादुई शब्द लिपिबद्ध गुंफित किए जा सकें हयह कितनी सुखद कल्पना है! पर यह जितनी सुखद है, उतनी सहज कहां? कोई कुशल साहित्य-शिल्पी ही ऐसा कर सकता है। मैं तो साहित्य की प्रथम कक्षा का एक विद्यार्थी मात्र हूँ। अभी बिल्कुल प्राथमिक ज्ञानहक, ख, ग..... ही सीख रहा हूँ। फिर यह प्रयास/साहस मैंने क्यों किया? कैसे किया?

२० जुलाई, १९९७ (वि. सं. २०३४) की वह संध्या। 'भिक्षु-विहार' जैन विश्वभारती का वह दक्षिणाभिमुख बरामदा। प्रतिक्रमण के पश्चात मैं पूज्य गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुआ। चरण-वंदन कर मैं ज्योंही उठने की तैयारी में था, आचार्यवर के बिना किसी पूर्व भूमिका के निर्देश की भाषा में फरमायाह 'कल से तुम्हें प्रातःकालीन प्रवचनों का संकलन करना है।' अपनी अक्षमता देखते हुए मेरा आत्म-विश्वास सहसा यह दायित्व ओढ़ने की स्वीकृति नहीं दे पाया। पर साथ ही गुरुदेव के निर्देश को अस्वीकार करने की भी मेरी मानसिकता नहीं थी। तत्काल चिंतन आया कि जब गुरुदेव का आशीर्वाद मेरे साथ है, फिर मैं क्षमता-अक्षमता की चिंता करूं।

बस, दूसरे दिन से प्रवचन-संकलन का कार्य प्रारंभ हो गया। अभ्यास और अनुभव की कमी के कारण प्रारंभ में काफी कठिनाई रही। पर मानसिक संकल्प मुझे इस दिशा में सतत प्रवृत्त रहने के लिए प्रेरित करता रहा। लगभग दो माह का प्रवचन-संकलन मैंने आचार्यवर को निवेदित किया। उसे देखकर उसमें रही त्रुटियों का दिग्दर्शन करवाते हुए उन्होंने जो-कुछ कहा, वह मेरे उत्साह को द्विगुणित करनेवाला था।

एक-डेढ़ वर्ष तक यह क्रम चलता रहा। मैं चाहता था कि यह क्रम आगे से आगे बढ़ाता रहूं, पर अस्वास्थ्य का इतना बड़ा अवरोध सामने उपस्थित हो गया कि मुझे अपनी भावना के प्रतिकूल यह कार्य बंद करना पड़ा। अलबत्ता अस्वास्थ्य में भी जैसे-तैसे पिछले प्रवचनों को व्यवस्थित कर सका, यह भी मेरे लिए कम तोष का विषय नहीं था।

वर्षों का समय व्यतीत हो गया। यह प्रवचन-संकलन जैन विश्व-भारती की अलमारियों में पड़ा रहा। इस बार वि. सं. २०४३ का पावस-प्रवास करने आचार्यवर लाडनू पधारे। वही जैन विश्वभारती का प्रांगण। वही 'भिक्षु-विहार' का दक्षिणाभिमुख बरामदा। वही संध्याकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात चरण-वंदन का समय। प्रवचन-संकलन की बात चल पड़ी। प्रसंगवश मैंने निवेदन कियाह 'प्रवचन-संकलन की पुरानी फाइलें पड़ी हैं। यदि वह संकलन संपादित कर दिया जाए तो उसका समुचित उपयोग हो सकता है।' चूंकि आचार्य श्री के साहित्य-संपादन का कार्य मुख्य रूप से महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभा जी करती हैं, इसलिए मेरा निवेदन उन्हीं के लिए था। पर आचार्य श्री ने

कहाह 'नहीं, वे नहीं करेंगी। तुम्हारा संकलन तुम्हें ही संपादित करना है।' मेरे सामने बड़ी कठिनाई थी। संपादन का कोई अनुभव नहीं और स्वास्थ्य की प्रतिकूलता। मैंने अपनी स्थिति निवेदित की। आचार्य श्री ने कहाह 'अनुभव तो काम करते-करते ही होगा। स्वास्थ्य अभी अनुकूल नहीं है तो कोई बात नहीं, जब ठीक हो, तब करना। पर यह कार्य करना तुम्हें ही है।'

लगभग छह माह का समय शारीरिक अस्वस्थता से जूझते हुए बीत गया। बार-बार मन में यह बात आती कि आचार्यप्रवर का निर्देश है, फिर भी कार्य नहीं कर रहा हूँ, यह मेरे लिए शोभनीय नहीं है। आखिर लाडनू चातुर्मास की संपन्नता के पश्चात आचार्यवर सुजानगढ़ होते हुए चाड़वास पधारे। स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार था। मैंने निर्णय कियाहअब कैसी भी स्थिति क्यों न हो, मुझे यह कार्य करना है। और आचार्यवर के मंगल आशीर्वाद के साथ मैंने कार्य प्रारंभ कर दिया। प्रवचन पाथेय का यह चौथा भाग उसका ही फलित है। इस कार्य की संपन्नता के साथ मैं अपनी संपादन-यात्रा की जितनी मंजिल तय कर पाया हूँ, उससे बहुत अधिक अभी अवशिष्ट है। पूज्य गुरुदेव का वरदहस्त मेरे सिर पर है। उसकी छत्र-छाया में मैं अपनी यह यात्रा निर्विघ्न संपन्न कर सकूंगाहऐसा विश्वास है।

परमाराध्य गुरुदेव मेरे जीवन-निर्माता हैं, संयम-प्रदाता हैं। उनके चरणों में अपना जीवन समर्पित कर मैं निश्चित हूँ, कृतार्थ हूँ। जब जीवन ही समर्पित कर चुका, तब उनके प्रति शाब्दिक कृतज्ञता-समर्पण बहुत छोटी बात है। गुरुदेव का तो मंगल आशीर्वाद ही काम्य है। इस आशीर्वाद के संरक्षण में मैं उनके हर इंगित, आदेश व निर्देश को समर्पित भाव से आकार देता रहूँ, यही उनके प्रति कृतज्ञता होगी।

संघ-परामर्शक मुनि श्री मधुकर जी का सतत सान्निध्य मेरे जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। समयोचित प्रेरणा, निर्देश और मार्गदर्शन द्वारा उन्होंने मुझे जीवन के हर क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया है।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभा जी का अत्यंत कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने न केवल अपने अनुभवपूरित सुझावों से मुझे लाभान्वित किया, अपितु साध्वी निर्वाणश्री जी को अन्यान्य कार्यों से मुक्त कर इस कार्य में सहयोग करने के लिए नियोजित भी किया। साध्वी निर्वाणश्री जी मेरी

संसार-पक्षीया बहिन हैं। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे मेरे जीवन-विकास की विभिन्न प्रवृत्तियों में प्रेरक और पूरक रही हैं। इस संपादन-कार्य में भी उनका जो सहयोग/सहकार मिला है, मिल रहा है, वह अत्यंत मूल्यवान है। पर इसके लिए मैं उनका आभार मानूँह्यह उनके लिए अरुचिकर है। और फिर इस निमित्त वे स्वयं लाभान्वित हुई हैं, हो रही हैंह्यह स्वयं अपने-आपमें आभार ही है।

आचार्यप्रवर के प्रवचन सर्वतनहिताय हैं। सहस्रों-सहस्रों लोगों ने उनके संबोधन से संबोधि प्राप्त की हैह्यह एक तथ्य है। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मैं स्वयं इससे बहुत अधिक लाभान्वित हुआ हूँ। प्रवचनों के संकलन-संपादन के निमित्त मुझे ज्ञान के अथाह सागर में बार-बार डुबकियां लगाने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह मेरे जीवन के लिए एक वरदान है। यह वरदान प्राप्त कर मैं अपने-आपको अत्यंत सौभाग्यशाली महसूस करता हूँ। मेरा यह सौभाग्य जन-जन का सौभाग्य बने, उसे सोच-समझ की सही दिशा प्राप्त हो, जीवन जीने की सच्ची कला उपजब्ध होह्यहसी ललक के साथ……

चूरू (राजस्थान)
२४ फरवरी १९८७

हमुनि धर्मरुचि

● ————— बारह ————— ●

प्रकाशकीय

प्रवचन पाथेय यथा नाम तथा गुण, राष्ट्रसंत आचार्य तुलसी के प्रवचनों का संकलन पाठकों के लिए उनके व्यक्तित्व-निर्माण का पाथेय है। इन प्रवचनों के माध्यम से आचार्यश्री ने अपनी दीर्घकालीन अध्यात्म-साधना के अनुभवों का, जो जीवन के सर्वांगीण विकास के मार्गदर्शक तत्त्व हैं, सांगोपांग निरूपण किया है।

जिस प्रकार ॐ शब्द की भाषा के विस्तीर्ण की कोई सीमा नहीं होती, उसी प्रकार भाषा के व्यापकता की भी कोई सीमा नहीं होती, कोई बंधन नहीं, केवल एक ही बंधन है अध्यात्म। आचार्य तुलसी के प्रवचन इसी अध्यात्म से प्रतिबंधित हैं एवं प्रस्तुत ग्रंथावली उसी भाषा का संग्रह है। अध्यात्म को सहज ग्राह्य बनाने में आचार्यश्री ने अपनी वाणी द्वारा विविध प्रस्तुतियों के माध्यम से गूढ़ रहस्यों को सामान्य भाषा में प्रस्तुत किया है।

जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित साहित्य की शृंखला में प्रवचन-साहित्य का विशेष महत्त्व है। इसी क्रम में यह प्रवचन पाथेय भाग-८ का दूसरा संस्करण आपके लिए प्रस्तुत है, जो अपने आपमें इसकी उपयोगिता एवं महत्त्व को उजागर करता है।

मेधासंपन्न मुनिश्री धर्मरुचिजी ने इस प्रकाशन के संपादन में जो श्रमशीलता का परिचय दिया है, उसके लिए श्रद्धा-आभार व्यक्त है।

आशा है, पाठकगण अपन जीवन के निर्माण में इस साहित्य से दिशा-दर्शन प्राप्त करेंगे।

जैन विश्वभारती, लाडनू (राज.)

२४ जुलाई १९९२

श्रीचंद बैंगानी

मंत्री

जैन विश्व भारती

● ————— चौदह ————— ●

अनुक्रम

१. धर्म संप्रदाय की चौखट में नहीं समाता	१
२. संसार क्या है	६
३. धर्मास्तिकाय : एक विवेचन	८
४. अधर्मास्तिकाय की स्वरूप-मीमांसा	११
५. आकाशास्तिकाय का स्वरूप	१४
६. लोक-स्थिति : एक विश्लेषण	१८
७. सृष्टि क्या है	२०
८. सृष्टिवाद : एक पर्यालोचन	२२
९. पुद्गल का स्वरूप	२४
१०. पुद्गल के लक्षण	२५
११. पुद्गल की विभिन्न परिणतियां	२६
१२. क्या अंधकार पुद्गल है	३१
१३. क्या छाया स्वतंत्र पदार्थ है	३३
१४. परमाणु का स्वरूप	३८
१५. परमाणु : एक अनुचिंतन	४०
१६. परमाणु-संश्लेष की प्रक्रिया	४३
१७. काल	४४
१८. काल के लक्षण	४७
१९. षड्रव्यों की स्थिति	५०
२०. पुद्गल, धर्म व अधर्म की स्थिति	५२
२१. संसार में जीव की अवस्थिति	५३
२२. द्रव्य के सामान्य गुण (१)	५८
२३. द्रव्य के सामान्य गुण (२)	६२
२४. द्रव्य के विशेष गुण (१)	६४
२५. द्रव्य के विशेष गुण (२)	६९

२६. पर्याय : लक्षण व प्रकार (१)	७१
२७. पर्याय : लक्षण व प्रकार (२)	७४
२८. नव तत्त्व	७८
२९. उपयोग के दो प्रकार	८०
३०. ज्ञान और अज्ञान : एक विमर्श	८२
३१. मतिज्ञान के प्रकार	८५
३२. श्रुतज्ञान	९२
३३. श्रुतज्ञान के प्रकार	९६
३४. अवधिज्ञान के प्रकार	९९
३५. मनःपर्यायज्ञान के प्रकार	१०५
३६. केवलज्ञान	१०८
३७. दर्शन और उसके प्रकार	११०
३८. इंद्रिय के प्रकार	११४
३९. इंद्रियों के विषय	११९
४०. मन : एक मीमांसा	१२४
४१. भाव : आत्मा का स्वरूप	१२८
४२. भाव और कर्म	१३०
४३. औदरिक भाव	१३२
४४. औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव के प्रकार	१३५
४५. औदरिक भाव के प्रकार (१)	१३९
४६. औदरिक भाव के प्रकार (२)	१४३
४७. पारिणामिक भाव के प्रकार	१४६

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रम	२३७
२. नामनुक्रम	
३. पद्यानुक्रम	
४. कथाओं/घटनाओं/दृष्टान्तों की सांकेतिका	
५. पारिभाषिक कोश	
६. प्रेरक वचन	



•———— बीस —————•



१ : धर्म संप्रदाय की चौखट में नहीं समाता

जैन-दर्शन भारतीय दर्शनों में एक प्रमुख दर्शन है। वस्तुतः यह एक बहुत गहरा दर्शन है। जीव से लेकर मोक्ष तक की अत्यंत सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक चर्चा इस दर्शन में प्राप्त होती है। मैं चाहता हूँ, जैन कहलानेवाला हर व्यक्ति, चाहे वह भाई हो या बहिन, एक सीमा तक जैन-दर्शन का ठोस ज्ञान अवश्य करे, अन्यथा वह अपने धर्म व दर्शन के प्रति न्याय नहीं कर सकता। चिंतन आया कि चातुर्मास-काल के लंबे प्रवास में यदि जैन-सिद्धांतों का विवेचन हो तो स्थानीय लोगों के लिए यह उपक्रम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसी दृष्टि से मैं *जैनसिद्धांतदीपिका* का वाचन प्रारंभ कर रहा हूँ।

दर्शन : धर्म : संप्रदाय

दर्शन, धर्म और संप्रदायहृये तीन अलग-अलग शब्द हैं। दर्शन यानी दृष्टि/देखना। जब तक किसी वस्तु का साक्षात नहीं देख लिया जाता, तब तक सुने-सुनाए या पढ़े-पढ़ाए के आधार पर उसे जानना अधूरा दर्शन है। परंतु देखने का तात्पर्य केवल आंखों से देखना नहीं है। वह तो बहुत स्थूल दर्शन है। वास्तव में तो आत्मा से साक्षात देखना ही देखना है, दर्शन है। हमारे तीर्थंकर द्रष्टा थे। द्रष्टा किसी के आधार पर कुछ नहीं कहते, वे तो स्वयं आत्मा से साक्षात देखते हैं और फिर उसका विवेचन जन-साधारण के सामने करते हैं। इस अपेक्षा से उन द्रष्टा ऋषियों, महार्षियों या तीर्थंकरों की वाणी *दर्शन* कहलाती है।

तीर्थंकरों द्वारा जो कुछ बताया गया, उसके अनुसार जीवन का व्यवहार करना *धर्म* कहलाता है। दूसरे शब्दों में जीवन के चरम लक्ष्यहृमोक्ष तक पहुंचने के लिए किया जानेवाला आचरण *धर्म* है।

संप्रदाय का अर्थ हैहृ गुरुक्रम। एक व्यक्ति कोई रास्ता निकालता है और फिर अनेक व्यक्ति उस रास्ते पर चलने लगते हैं।संख्या बढ़ते-

बढ़ते उनका एक समूह बन जाता है और वही संप्रदाय कहलाता है। कुछ लोग संप्रदाय को धर्म की आराधना का एकमात्र आधार मानते हैं तो इसके विपरीत कुछ लोग संप्रदाय को धर्माधना में सर्वथा बाधक तत्त्व मानते हैं। मैं इन दोनों चिंतनों को एकांगी मानता हूँ। मेरी दृष्टि में एकांततः संप्रदाय न तो धर्म की आराधना में साधक है और न ही बाधक। जहाँ व्यक्ति अकेला साधना करता है, वहाँ संप्रदाय बाधक बनता है। पर अकेले रहकर साधना करनेवाले साधक बहुत थोड़े ही हो सकते हैं, क्योंकि इसमें कठिनाइयाँ बहुत हैं। आम लोगों के लिए तो सामूहिक साधना का क्रम ही सुविधाजनक एवं श्रेयस्कर है; और इस क्रम में संप्रदाय की बहुत बड़ी उपयोगिता है।

कुछ लोग धर्म और संप्रदाय को एक ही मानते हैं। पर तत्त्वतः धर्म और संप्रदाय दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। धर्म आत्मा है तो संप्रदाय शरीर। जिस प्रकार आत्मा शरीर में रहती है, उसी प्रकार धर्म संप्रदाय में रहता। जिस प्रकार आत्म-विहीन शरीर का संसार में कोई अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार धर्म के बिना संप्रदाय की मूल्यवत्ता ही क्या !

एक व्यक्ति ने मुझसे कहाह 'आचार्यजी ! धर्म के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न इतने संप्रदाय नहीं होने चाहिए, क्योंकि सब अपनी-अपनी बात करते हैं, अलग-अलग बात करते हैं। ऐसी स्थिति में हम लोगों के सामने बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है कि हम किसकी बात मानें और किसकी न मानें।' और भी बहुत-से लोगों के मन में यह बात हो सकती है। इसका समाधान स्पष्ट है। कलकत्ता, बंबई आदि शहरों में कपड़े की हजारों-हजारों दुकानें हैं। उनकी बात हम छोड़े, बीकानेर की ही बात लें। यहाँ पर भी कपड़े की संभवतः सैकड़ों दुकानें होंगी। सभी दुकानवाले अपना-अपना कपड़ा दिखाते हैं, अपनी-अपनी बात बताते हैं। क्या यह ग्राहकों के लिए एक बड़ी उलझन नहीं है? इतनी दुकानें न होकर यदि एक ही दुकान होती तो अच्छा नहीं होता? पर वास्तविकता किसी से छिपी नहीं है। यदि पूरे बीकानेर में कपड़े की एक ही दुकान हो जाए तो ग्राहकों को बड़ी परेशानी हो जाएगी। सैकड़ों दुकानों के रहने से कोई कठिनाई नहीं है। हाँ, ग्राहक को इस बात का निर्णय अवश्य करना होता है कि कौन-सा कपड़ा ठीक है और उसे कहां से लेना है।

सत्य संप्रदाय-विशेष की बतौती नहीं

यही बात संप्रदायों के बारे में है। भिन्न-भिन्न संप्रदाय अपनी-अपनी बात कहते हैं और भिन्न-भिन्न रूपों में कहते हैं। यह निर्णय तो व्यक्ति को अपने चिंतन से करना होगा कि उसे किस संप्रदाय को स्वीकार करना है। पर एक संप्रदाय को स्वीकार करने का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि व्यक्ति दूसरे-दूसरे संप्रदायों के सत्य के प्रति आंखे मूंद ले। वस्तुतः सत्य/ज्ञान अनंत है। वह किसी संप्रदाय-विशेष की बपौती नहीं है। हमारा काम है, जहां भी सत्य मिले, उसे सहर्ष ग्रहण करें।

एक व्यक्ति असत्य न बोलने का संकल्प करता है। क्या यह धर्म नहीं है ? चाहे किसी संप्रदाय को माननेवाला व्यक्ति इस संकल्प को ले, यह धर्म ही है। आप बताएं, कौन संप्रदाय सत्य को धर्म के सूत्र के रूप में स्वीकार नहीं करता ? सभी संप्रदाय सत्य की साधना का धर्म ही मानते हैं। जो संप्रदाय सत्य को धर्म-तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करता, वह वास्तव में संप्रदाय है ही नहीं।

सांप्रदायिक विद्वेष का आदि बिंदु

संप्रदाय में सत्य है, पर संप्रदाय ही सत्य नहीं है। संप्रदाय के बाहर भी अनंत-अनंत सत्य विद्यमान है। इस तथ्य को स्वीकार कर चलने से हमारे सामने कोई कठिनाई या उलझन पैदा नहीं होती। कठिनाई या उलझन वहीं शुरू होती हैं, जहां व्यक्ति अपने संप्रदाय में सत्य को कैद कर देता है। वस्तुतः सांप्रदायिक विद्वेष का प्रारंभ इसी बिंदु से होता है।

सत्यग्राही दृष्टिकोण अपनाएं

जो संप्रदाय परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, उन्हें धर्म-संप्रदाय कहलाने का अधिकार ही नहीं मिलना चाहिए। यद्यपि हर व्यक्ति अपने धर्म-संप्रदाय के सत्य को जन-जन तक पहुंचाने के लिए स्वतंत्र है, तथापि इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह दूसरे-दूसरे संप्रदायों के सत्य को अस्वीकार करे। उन पर मनगढ़ंत और मिथ्या आरोप लगाए क्षेत्र जहां दृष्टिकोण होता है, वहां भिन्न-भिन्न संप्रदाय होकर भी परस्पर कोई वैमनस्य नहीं होता। इसके विपरीत जहां दृष्टिकोण सांप्रदायिक होता है, वहां सत्य की हत्या हो जाती है और अपने-अपने अहं का पोषण होने लगता है। इसकी परिणति होती है। हटकराव। अपेक्षा है, सांप्रदायिक

व्यामोह से दूर रहकर सत्यग्राही दृष्टिकोण अपनाया जाए। इसी में व्यक्ति, संप्रदाय व धर्म का हित निहित है।

हम मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम मूर्तिपूजक समाज की आलोचना करें, उस पर गलत आक्षेप-प्रक्षेप करें। हां, हम अपने विचार दृढ़ता के साथ जनता के सामने रखने में स्वतंत्र हैं। मुझसे बहुधा पूछा जाता है कि आप मूर्ति को मानते हैं या नहीं। आचार्य भिक्षु से भी यही प्रश्न किसी ने पूछा था। इसके समाधान में उन्होंने कहाह 'हम मूर्ति और पत्थर की मूर्ति को पत्थर की मूर्ति मानते हैं।' तब दूसरा प्रश्न किया गयाह 'आप मूर्ति को भगवान मानते हैं या नहीं ? इस बार प्रश्न का समाधान प्रतिप्रश्न की शैली में दिया गयाह 'क्या आप भगवान मानते हैं ? उत्तर मिलाहहम मूर्ति को भगवान नहीं, भगवान की प्रति कृति मानते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहाहमूर्ति को भगवान की प्रतिकृति तो हम भी मानते है।

बंधुओं ! मैं मूर्ति को अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण मानता हूं। हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि मूर्ति में इतिहास और स्थापत्य कला भरी पड़ी है। एकाग्रता एवं स्मृति में भी वह निमित्त बन सकती है। अमूर्तिपूजक होते हुए भी ये बातें कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है

धर्म कहीं भी किया जा सकता है

वस्तुतः मूर्ति कोई पूजने की वस्तु नहीं, अपितु प्रेरणा लेने की वस्तु है। हालांकि कोई मूर्ति की पूजा करता है, उसमें मैं हस्तक्षेप नहीं करता। हां, यदि कोई मेरे से इस संबंध में परामर्श करे और विचार जानना चाहे तो मैं उसे अपने विचार देने को तैयार हूं। इस संदर्भ में एक बात और स्पष्ट कर दूं। पूजा नहीं करने का यह तात्पर्य नहीं कि मैं मंदिर में जाना ही पाप मानता हूं। मेरी दृष्टि में मंदिर में जाने या न जाने से धर्म का कोई सीधा संबंध नहीं है। धर्म तो आत्मा का तत्त्व है। वह मंदिर में भी किया जा सकता है घर व दुकान में भी किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि कोई न करना चाहे तो न घर पर कर सकता और न मंदिर में कर सकता। कहने का सारांश यह है कि आदमी करना चाहे तो कभी और कहीं धर्माराधना कर सकता है और न करना चाहे तो अच्छे-से-अच्छे समय और पवित्र-से-पवित्र स्थान में भी धर्म की अराधना नहीं कर सकता।

अनाग्रही दृष्टि

मैं अपनी बात बताऊं। मैं अनेक बार मंदिरों में गया हूँ। और गया ही नहीं हूँ, वहां जाकर मैंने भगवान की स्तुति भी की है। मंदिरों में ही क्यों मैं तो मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारों में भी गया हूँ। मुझे इसमें कोई कठिनाई महसूस नहीं होती। हां, जो लोग मुझे एकांत सांप्रदायिक दृष्टिकोण से देखते हैं, वे लोग ऐसा सोचते हैं कि मैं मंदिर, मस्जिद आदि में नहीं जा सकता।

आपने मेरी नाक रख ली

लगभग पचीस-तीस वर्ष पूर्व मैं जयपुर में प्रवास कर रहा था। एक दिगंबर भाई प्रायः प्रतिदिन प्रवचन सुनने आता था। यहां सुनी हुई बातों को वह फिर अपने दूसरे-दूसरे साथियों को भी सुनाता था। प्रतिदिन की भांति वह एक दिन आया और बोलाह 'आचार्यजी ! आपको मंदिर चलना होगा'। मैंने कहाह 'मंदिर में जाने में मुझे कोई दिक्कत नहीं, पर आज जाना कठिन लगता है उसने आग्रह की भाषा में कहा नहीं आपको आज ही चलना होगा। मैंने उसे समझाने का प्रयत्न किया आज का आग्रह मत करो। और कभी मैं चल सकता हूँ। आज जाने में असुविधा बहुत है।' पर उसका आग्रह और तीव्र हो गया आपको सुविधा हो या असुविधा, पर मेरी यह बात तो स्वीकार करनी ही होगी।'

मैं उसके अति आग्रह को टाल नहीं सका। असुविधा के बावजूद मैं मंदिर गया और वहां जाकर मैंने भगवान की स्तुति गाई। जब मैं मंदिर से बाहर आया तो वहां भाई भी साथ-साथ बाहर आया। बाहर आते ही उसने भवविह्वल स्वर में कहाह 'आचार्यजी ! आज तो आपने मेरी नाक रख ली।' मैं उसके कथन का आशय नहीं समझ सका। प्रश्नायित नयनों से मैंने पूछाह 'कैसे ? तब उसने रहस्य पर से परदा उठाया आज मेरे और मेरे साथियों के बीच एक जिद हो गई थी। मैंने कहा कि आचार्यजी मंदिर में आ सकते हैं और साथियों का कथन था कि वे किसी हालत में मंदिर में आना स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए मैंने आपसे यहां आने का इतना आग्रह किया था। यह सुनकर मुझे उस भाई के साथियों की सोच पर बहुत तरस आया। मैंने कहा यदि यह बात तुम पहले ही बता देते तो शायद मैं और जल्दी आ जाता। खैर जो हुआ वह ठीक है।'

बंधुओ! मैं नहीं समझता मंदिर, मस्जिद..... में जाना कोई पाप है

या उससे मूर्ति न पूजने का विश्वास खंडित होता है। मैंने अतीत में इस बारे में अनेक बार स्पष्ट शब्दों में अपने विचार जनता के सामने रखे हैं और अब भी जब-कभी प्रसंग उपस्थित होता है, मैं इस संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करता हूँ, ताकि लोगों में भ्रांतियां न फैलें।

व्यक्ति एक संप्रदाय में खड़ा रहकर दूसरे-दूसरे संप्रदायों के सिद्धांतों का अध्ययन कर सकता है और सत्य को ग्रहण कर सकता है। आप देखें, हम एक संप्रदाय (जैन श्वेतांबर तेरापंथ) के साधु हैं। पर यदि कोई चाहे तो आज हमारे अनेक साधु सांख्य, वेदांत, बौद्ध आदि दर्शनों पर अधिकारपूर्ण भाषा में वक्तव्य दे सकते हैं।

अधूरी जानकारी

प्रसंगवश एक बात और कहना चाहता हूँ दर्शन का विषय-क्षेत्र बहुत गहन और सूक्ष्म है। इसलिए इस क्षेत्र में काम करनेवालों को यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जब तक उन्हें जिस विषय की पूर्ण और यथार्थ जानकारी न हो, तब तक वे उस विषय पर अपनी कलम न चलाएं। बड़े-बड़े विद्वान भी कभी-कभी विषय की पूरी एवं यथार्थ जानकारी के अभाव में उस विषय के साथ न्याय नहीं कर पाते। यदि शंकराचार्य का उदाहरण हमारे सामने है। अद्वैतवाद के वे प्रवर्तक थे। उनकी विद्वत्ता में मुझे कोई संदेह नहीं। पर स्याद्वाद के बारे में वे भी न्याय नहीं कर सके। उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्व. डॉ. संपूर्णानंद एक विशिष्ट विद्वान एवं कट्टर अद्वैतवादी थे। मैं लखनऊ गया, तक उनसे मिलना हुआ। मैं उनकी कोठी पर रात-भर रहा। दर्शनिक साहित्य पर चर्चा करते हुए मैंने पूछाह 'आदि शंकराचार्य के बारे में आप क्या धारणा रखते हैं।'

छूटते ही वे बोले भयंकर विद्वान थे वे।' तब मैंने पूछा स्वाद्वाद के बारे में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह कहां तक यथार्थ है?'

यद्यपि डॉ. संपूर्णानंद आदि शंकराचार्य के अनन्य भक्त थे, तथापि उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी था। इसलिए उन्होंने बड़ी ऋजुता के साथ स्वीकार कियाह 'इस विषय पर वे यथार्थ नहीं लिख पाए।'

इनका संभावित कारण उन्होंने यह बताया कि उन्हें इस विषय की पूरी एवं यथार्थ जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी होगी। जब आदि शंकराचार्य जैसे धुरंधर विद्वान भी पूरी और यथार्थ जानकारी के अभाव

में किसी विषय का गलत प्ररूपण कर सकते हैं, तब साधारण विद्वानों की तो बात ही क्या। इसलिए मैंने कहा कि जिन लोगों को दार्शनिक विषयों की यथार्थ व पूर्ण जानकारी न हो, उन्हें इस विषय पर कलम चलाने का संवरण करना चाहिए।

मैंने सुना है कि कुछ विद्वान जैन-आगमों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रयास कर रहे हैं। प्रयास सुंदर है। पर जैन-आगमों के तलस्पर्शी ज्ञान के अभाव में वे सही-सही कहां तक कर पाएंगे। यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है उनके प्रति मेरे मन में बहुत ऊंची भावना है। इस दिशा में उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। पर अनेक स्थलों पर उनका अनुवाद भी आलोच्य है।

जैन-दर्शन की बात मैं कर रहा था। सचमुच ही यह एक वैज्ञानिक दर्शन है। हालांकि जैन लोग दर्शन को कितना आत्मसात करते हैं, यह एक अलग प्रश्न है, तथापि इसका अत्यंत आवश्यक है, यह निर्विवाद है। जैसा कि मैं कई बार कहा करता हूं, आज कर्मणा जैन कम, जन्मना जैन अधिक हैं। इसलिए जैन कहलानेवाले बहुत कम लोग इस दर्शन आत्मसात कर पाए हैं। मेरा प्रयास है कि हर जैन कहलानेवाला व्यक्ति जैन-दर्शन का प्रारंभिक ज्ञान तो अवश्य करे। इस दृष्टि से *जैनसिद्धांतदीपिका* का विवेचन अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। इसी आशा के साथ आज मैं विराम लेता हूं।

गंगाशहर

११ जुलाई १९७८

२ : संसार क्या है

जैनसिद्धांतदीपिका के वाचन की बात मैंने कल कही। आज उसका प्रारंभ हो रहा है। इस ग्रंथ की रचना मैंने आज से अट्ठाइस-तीस वर्ष की थी। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह जैन-सिद्धांतों का ग्रंथ है। सर्वप्रथम मंगलाचरण आदि वाक्य के रूप में निम्नांकित श्लोक है

**आराध्याराध्यदेवं स्वं, सिद्धं सिद्धार्थनन्दनम्।
विदधे बोधवृद्ध्यर्थं, जैनसिद्धान्तदीपिकाम्॥**

हूँ आराध्यदेव, सिद्धिप्राप्त, सिद्धार्थपुत्र भगवान महावीर की आराधना करता हुआ मैं बोधवृद्धि के लिए जैनसिद्धांतदीपिका की रचना करता हूँ।

आप पूछ सकते हैं कि बोधवृद्धि से क्या तात्पर्य जो अबोध हैं, उन्हें बोध देने के लिए जो अल्पबोध हैं, उनके बोध को पढ़ाने के लिए और जो बोधप्राप्त हैं उनके बोध को स्थिर रखने के लिए मैं यह प्रयास कर रहा हूँ।

ज्ञेय नौ ही तत्त्व हैं

सबसे पहले हमें यह समझना चाहिए कि संसार क्या है,। हमारा लक्ष्य क्या है, उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन कौन-कौन से हैं। आप कहेंगे। संसार को जानने से क्या प्रयोजन। बहुत बड़ा प्रयोजन है। जिस घर में हम रहें और उससे अपरिचित हों, इससे बड़ा और क्या अज्ञान हो सकता है ! आप देखें, मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी अपने घर को जानते हैं। अतः जिस घर में हम रहते हैं, उसे जानना बहुत जरूरी है। यह संसार एक प्रकार का घर ही है। यदि हम संसार को सम्यक रूप से जान लेंगे तो बहुत संभव है कि हम उसमें उलझेंगे नहीं। संसार में उलझने का कारण उसको यथार्थ रूप में न जानना ही है। उसका सम्यक ज्ञान होने के पश्चात व्यक्ति उससे मुक्त

होने के लिए सचेष्ट हो जाता है।

हमें इस तथ्य को भली-भांति ध्यान में ले लेना चाहिए कि हर पक्ष का प्रतिपक्ष होता है। दुःख है तो सुख भी है। जीव है तो अजीव भी है। आश्रव है तो संवर भी है। मोक्ष है तो संसार भी है। प्रतिपक्ष को जाने बिना हम पक्ष को नहीं जान सकेंगे। पक्ष को जानने के लिए हमें उसके प्रतिपक्ष को अनिवार्य रूप से जानना होगा। हम सुख को तब तक नहीं जान सकेंगे, जब तक दुःख को सम्यक रूप से नहीं जानेंगे। मोक्ष को जानने के लिए संसार को जानना ही होगा। हमारे यहां नौ तत्त्वों का विवेचन है। उनमें से कुछ हेय हैं और कुछ उपादेय। पर ज्ञेय नौ ही तत्त्व हैं। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से संसार हेय है और मोक्ष उपादेय है, तथापि ज्ञेय दोनों ही हैं। इस दृष्टि से मैंने कहा कि मोक्ष को समझने के लिए संसार को समझना आवश्यक है।

द्रव्य, गुण और की समन्विति का नाम संसार है। द्रव्य यानी पदार्थ। संसार की हर वस्तु एक पदार्थ है। गुण अर्थात् द्रव्य का सदा साथ रहनेवाला धर्म या स्वभाव। अग्नि का धर्म हैह्रउष्मा। जल का धर्म हैह्रशीतलता। वायु का धर्म हैह्रगतिशीलता। इसी प्रकार हर द्रव्य का अपना स्वभाव या धर्म है। पदार्थ में प्रतिक्षण होनेवाला परिवर्तन 'पर्याय' कहलाता है। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिसमें परिवर्तन न हो। यदि उसमें परिवर्तन हो तो वह पदार्थ ही नहीं है।

धर्माधिकाश-पुद्गल-जीवास्तिकाया द्रव्याणि।

आस्तिकायः प्रदेशप्रचयः। धर्मादयः पञ्चास्तिकायाः सन्ति।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवांसितकायह्ये पांच द्रव्य हैं। मूलतः धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवह्ये पांच शब्द हैं। इस सबको पीछे *अस्तिकाय* शब्द है। इस प्रकार ये पञ्चास्तिकाय हैं। जैन-शास्त्रों में पञ्चास्तिकाय का विशद विवेचन प्राप्त है। दिगंबर जैनाचार्य श्री कुंदकुंद का एक ग्रंथ है। उसका नाम ही पञ्चिस्तिकाय है। उस ग्रंथ में उपर्युक्त पांच अस्तिकायों का विवेचन किया गया है। इन पांचों को हम द्रव्य कहते हैं।

आप कहेंगे कि पचीस बोल ग्रंथ के अंतर्गत बीसवें बोल में हमने तो छह द्रव्य सीखे हैं, फिर यहां पांच द्रव्य कैसे। यह कोई भूल नहीं है। ऐसा अर्गीकरण चिंतनपूर्वक ही किया गया है। छह द्रव्यों के अंतर्गत इन

पांच अस्तिकायों के अतिरिक्त काल को भी साथ रखा गया है। पर हमने इसे अलग अलग रखा है, क्योंकि यह अस्तिकाय नहीं है। वस्तुतः काल एक औपचारिक द्रव्य है। शेष पांच द्रव्य जिस प्रकार वास्तविक हैं, वैसे यह वास्तविक नहीं है। घड़ी की बड़ी सुई एक बार पूरी घूम आई और आपने एक घंटा मान लिया।

कालश्च ।

जीवाजीवपर्यायत्वात् औपचारिकं द्रव्यमसौ, इत्यस्य पृथग् ग्रहणम् । क्षणवर्तित्वान्न च आस्तिकायः ।

काल जीव और अजीव का पर्याय है। जीव या अजीव जिन विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हैं, उनका कारण काल ही है। एक दिन, दो दिन, संसार क्या है ? एक महीना एक वर्ष..... ये सब काल के कारण ही हैं। अमुक व्यक्ति पांच वर्ष का हो गया दस वर्ष का हो गया अमुक मकान बीस वर्ष पुराना है आदि-आदि हम काल के कारण ही जानते हैं, तथापि काल स्वयं में कुछ भी नहीं है। इसलिए इसे औपचारिक या काल्पनिक द्रव्य कहा गया है और पांच अस्तिकाय द्रव्यों से अलग रखा गया है।

अस्तिकायः प्रदेशप्रचय ह्रप्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं। प्रश्न होगा, प्रदेश किसे कहते हैं। प्रदेश का अर्थ है अणुअणु/भाग। यह कंबल आपके सामने है। यह एक द्रव्य है। इसमें छोटे-छोटे हजारों धागे होंगे। आप कल्पना से प्रत्येक धागे को एक प्रदेश मान लें तो बहुत-से प्रदेश मिलकर एक द्रव्य का निर्माण हो गया। हमारे शरीर में छोटे-छोटे कितने अंग-प्रत्यंग हैं। इन सबके योग का नाम ही शरीर है। जिस पंडाल में आप बैठे हैं, उसकी तरफ आप जरा ध्यान दें। मैं पूछना चाहता हूँ, क्या यहां बिछाई हुई मिट्टी पंडाल है ? आप कहेंगे नहीं। फिर क्या ऊपर का छप्पर पंडाल है ? नहीं। क्या ये खंभे पंडाल हैं ? नहीं, ये भी पंडाल नहीं हैं। फिर क्या यहां बैठ हुए हजारों नर-नारियां पंडाल हैं ? नहीं-नहीं, ये भी पंडाल नहीं हैं। आखिर पंडाल है क्या ? वास्तव में ये सब चीजें अलग-अलग रूप में पंडाल नहीं हैं। इनका समन्वित रूप ही पंडाल है। ये सारी चीजें पंडाल के अंग हैं। इसी प्रकार बहुत-से प्रदेशों के समूह का नाम अस्तिकाय है । एक प्रदेश से अस्तिकाय नहीं बनता।

गंगाशहर, १२ जुलाई १७७८

३ : धर्मास्तिकाय : एक विवेचन

पांच अस्तिकाय और कालहइन छह द्रव्यों का विवेचन मैंने प्रारंभ किया था। अस्तिकाय में दो शब्द हैं अस्ति और काय। अस्ति शब्द प्रदेश एवं सतहइन दो अर्थों में व्यवहृत होता है।

प्रदेश का विवेचन पहले किया जा चुका है। सत त्रैकालिक अस्तित्व का अभिव्यंजक शब्द है। इसलिए अस्ति से केवल वर्तमान का ही भूत और भविष्य का भी अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ, संसार है। यह अतीत में सदा था और आगे सदा रहेगा। हम जीव हैं। अतीत में जीव थे और सदा जीव बने रहेंगे। यह कभी संभव नहीं कि जो आज जीव है, वह कल न रहे या गए कल में न रहा हो। हां, यह अवश्य है कि उसका रूप प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। आज हम जिस अवस्था में हैं, अतीत में वैसे नहीं थे, भविष्य में वैसे नहीं रहेंगे। इसके बावजूद हमारा त्रैकालिक अस्तित्व है। इसलिए मैंने कहां, सत है (वर्तमान), था (भूत) और रहेगा (भविष्य)हइस त्रयात्मक रूप को अभिव्यक्त करनेवाला शब्द है।

काल की मुल्यवत्ता

पांच अस्तिकायों को समझना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन काल को समझना है। काल क्षणवर्ती है। अर्थात् वर्तमान का क्षण ही काल है। जो काल बीत गया, उस पर हमारा कोई अधिकार नहीं। उसे हम पकड़ नहीं सकते। भविष्य का कुछ भरोसा नहीं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति की उम्र आज साठ वर्ष की है। मैं पूछना चाहता हूं, साठ वर्ष कहां गए ? क्या उसके पास सुरक्षित हैं ? बिलकुल नहीं। भविष्य में वह कितने वर्ष और जिएगाहइसका कोई पता नहीं है। केवल आज का दिन, नहीं-नहीं, वर्तमान का केवल एक क्षण उसके हाथ में है। यह (वर्तमान) क्षण गया कि दूसरा क्षण आया। दूसरा क्षण आया कि पहला क्षण

सामाप्त। उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता। इसी प्रकार आनेवाले क्षण का भी पहले क्षण तक कोई अस्तित्व नहीं होता। इसलिए कहा गया कि काल क्षणवर्ती है। अतीत और भविष्य से उसका विसंबंध है, इसलिए वह 'सत' नहीं है।

यद्यपि काल केवल क्षणवर्ती है, फिर इसके प्रति बहुत सावधानी रखने की अपेक्षा है। औपचारिक द्रव्य होने के बावजूद इसका महत्व किसी दृष्टि से कम नहीं आंकना चाहिए। बचपन, जवानी, बुढ़ापा, नया, पुराना आदि जीव-अजीव की जितनी भी अवस्थएं हम देखते हैं, वे सभी इसी के कारण होती हैं। इसके बिना किसी का काम नहीं चलता। छोटा (क्षणवर्ती) होते हुए भी यह बहुत सक्षम है। छोटा तो अणु (एटम) भी होता है। पर उसकी शक्ति कितनी बड़ी होती है, यह आज के वैज्ञानिक युग में सर्वविदित है।

द्रव्य का स्वरूप

गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

गुणानां पर्यायाणां च आश्रयःह्यआधारो द्रव्यम्।

गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय दोनों हों, वह द्रव्य है। जिसमें ये दोनों नहीं हैं। वह द्रव्य नहीं है।

द्रव्य के धर्म या स्वभाव को गुण कहते हैं।

द्रव्य में क्षण-क्षण होनेवाली परिणतियां पर्याय कहलाती हैं।

आपको यह ख्याल में रखना चाहिए कि हर वस्तु का अपना स्वतंत्र धर्म होता है। उसे मिटाने का तात्पर्य हैह्यउस वस्तु की समाप्ति। उदाहरणार्थ, अग्नि का स्वभाव हैह्यउष्णता। यह कभी संभव नहीं कि अग्नि तो हो और उसमें अष्णता न हो। अग्नि द्रव्य है और उष्णता उसका गुण। गुण और गुणी दोनों कभी अलग-अलग नहीं हो सकते। राजस्थानी में कहावत हैह्य

जाका पड्या स्वभाव, जासी जीव स्युं।

नीम न मीठो होय, सींचो गुड-घीव स्युं॥

यानि जिसका जो स्वभाव है, गुण है, वह उसके जीवन के साथ ही सामाप्त होगा, पहले नहीं। नीम के वृक्ष को चाहे कोई गुड-घी से भी

क्यों न सींचे, वह कभी मीठा नहीं हो सकता। उसका कड़वापन कभी समाप्त नहीं हो सकता।

अग्नि की तरह पानी का स्वभाव हैह्रशीतलता। हवा का स्वभाव हैह्रगतिशीलता। क्रोधी का स्वभाव हैह्रक्रोध करना। लोभी का स्वभाव हैह्रसंग्रह करना। इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतंत्र स्वभाव है।

जैसा कि मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूँ, द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों का होना अनिवार्य है। गुण वस्तु का स्वभाव है तो पर्याय उसमें प्रतिक्षण होनेवाला परिवर्तन है। उदाहरणार्थ, यह सफेद कपड़ा है। इसका गुण हैह्रसफेदी। इसका पर्याय हैह्रइसकी सफेदी में प्रतिक्षण होनेवाला परिवर्तन। जैसी सफेदी इस कपड़े को लेने के वक्त थी, वैसी अब नहीं है। प्रतिक्षण इसमें परिवर्तन होता है और भविष्य में होता रहेगा।

एक शब्द : अनेक अर्थ

पांच अस्तिकाय द्रव्यों में सबसे पहला द्रव्य हैह्रधर्मास्तिकाय। धर्म शब्द कई अर्थों में व्यवहृत होता है। **आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः**ह्रआत्मशुद्धि का साधन धर्म है। वस्तु के स्वभाव/गुण को भी धर्म कहते हैं। लौकिक कर्तव्य भी इसका एक अर्थ है। पर प्रस्तुत संदर्भ में यह इन सब से सर्वथा अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यहां इसका वाच्यार्थ हैह्र

गतिसहायो धर्मः।

गमनप्रवृत्तानां जीवपुद्गलानां गतौ उदासीनभावेन अनन्य-सहायकं द्रव्यं धर्मास्तिकायः, यथाह्रमत्स्यानां जलम्।

गति में सहायक होनेवाले द्रव्य को धर्म कहते हैं। गति-सहायक द्रव्य का अधूरा नाम धर्म है। पूरा नाम धर्मास्तिकाय है आप पूछेंगे कि अधूरा नाम क्यों। अधूरा नाम इसलिए कि इसमें सुविधा है। फिर यह हमारी प्राचीन पद्धति भी रही है। भगवान महावीर के प्रथम गणधर का नाम इंद्रभूति गौतम था। पर आप ध्यान दें आगम/साहित्य में सैकड़ों स्थलों पर उनके लिए केवल गौतम (गोयमा) शब्द व्यवहृत हुआ है। गौतम अधूरा नाम भी नहीं, केवल उनका गोत्र था, फिर भी उन्हें इसी नाम से पुकारा गया है। मैं अपना नाम तुलसी बताता हूँ। पर मेरा पूरा नाम तुलसी नहीं, तुलसीराम है। हमारे धर्मसंघ के आद्य प्रणेता को आचार्य भीखणजी कहते हैं। पर वास्तव में उनका पूरा नाम भीखणजी

नहीं, अपितु भीखणचंद जी या भीखमचंद जी था। इस श्रृंखला में और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। सारांश यह है कि जब दो-तीन अक्षर बोलने से काम चले फिर कौन छह-सात अक्षर बोले ?

धर्मास्तिकाय का स्वरूप

हां, तो मैं बता रहा था गतिसहायक द्रव्य का नाम धर्म (धर्मास्तिकाय) है। आप पूछेंगे की जिज्ञासा होगी कि धर्म किसकी गति में सहायक होता है। 'किसकी' का कोई प्रश्न ही नहीं है। जीव और पुद्गल दोनों की सभी प्रकार की गतिक्रियाह्रसूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पंदन तक में यह सहयोगी है। हम चलते हैं, सोते हैं, बैठते हैं, हाथ हिलाते हैं, आंखें बंद करते हैं, खोलते हैं, खाते हैं, पीते हैं..... श्वास लेते और छोड़ते हैंहइन सब क्रियाओं में यह द्रव्य सहायक है। इसी प्रकार अजीव की भी सभी प्रकार की गतिक्रियाओं में यह द्रव्य निमित्तभूत है।

उपादान और निमित्त

हम जानते हैं कि कारण के दो प्रकार हैंहउपादान और निमित्त। किसी भी चीज के निर्माण में ये दोनों कारण जरूरी हैं। जिस प्रकार निमित्त कारणों के मिलने पर भी उपादान कारण के अभाव में वस्तु नहीं बनती, ठीक उसी प्रकार उपादान कारण की उपस्थिति के बावजूद निमित्त कारणों के अभाव में भी कार्य सिद्ध नहीं होता। मिट्टी से घड़ा बनता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। मिट्टी के बिना घड़े की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पर मिट्टी से घड़ा तब तक नहीं बनेगा, जब तक निमित्त कारणों के रूप में चाक, अग्नि, कुशल कुंहार..... नहीं मिलेंगे। दोनों कारणों के योग से ही कोई वस्तु निर्मित होती है।

यद्यपि गति में उपादान कारण तो जीव व पुद्गल स्वयं ही हैं, पर निमित्त कारण के रूप में धर्मास्तिकाय का अपना अलग महत्व है। (और भी अनेक निमित्त कारण हो सकते हैं, पर मुख्य कारण यही है।) धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव और पुद्गल किसी भी प्रकार की गतिक्रिया करने में असमर्थ हैं। मछली में गति करने की शक्ति है। पर पानी के अभाव में वह गति नहीं कर सकती। ट्रेन में चलने की शक्ति है, पर पटरी के अभाव में वह चल नहीं सकती। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के संबंध में जाननी चाहिए। प्राणी और पुद्गल में गति करने की शक्ति है। पर वे गतिक्रिया तभी कर सकते हैं, जब उन्हें

धर्मास्तिकाय का अनिवार्य रूप से सहयोग प्राप्त हो।

इस संदर्भ में एक बात और ज्ञातव्य है। यद्यपि धर्मास्तिकाय के सहयोग से ही कोई जीव या पुद्गल गतिक्रिया कर सकता है, पर वह किसी को गति करने के लिए प्रेरित नहीं करता। हां, कोई उसका सहयोग ले तो वह इनकार भी नहीं करता। मध्यस्थ भाव से वह सहयोगी बनता है। इसलिए धर्मास्तिकाय को जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी के रूप में स्वीकार किया गया है।

मरने के बाद गति!

मैं तो धर्मास्तिकाय के द्वारा गति की बात बता रहा था, पर लोग तो मरने के बाद भी गति करते हैं। मैं पूछना चाहता हूँ, मरने के बाद कैसी गति ? वह तो मरने के साथ ही हो जाती है। हां अंतिम समय में यह प्रयास करना तो उचित ही है कि काल प्राप्त करनेवाला सद्परिणामों में शरीर त्याग करें, जिससे उसकी अधोगति न हो। पर मरने के बाद गति करने की बात समझ में नहीं आती। समझ में आए या न आए, पर लोगों में यह अंधविश्वास बहुत है। इस अंधविश्वास को मिटाना बहुत जरूरी है।

सद्गति : दुर्गति

संत के पास एक युवक आया और बोलाह 'मेरे पिताजी काल-धर्म को प्राप्त हो गए, अतः आप ऐसा प्रयास करें, जिससे उनकी सद्गति हो।' संत ने कहा 'मरने के बाद कैसी गति वह तो उनके कर्मों के अनुसार हो गई।'।

पर वह युवक अपनी बात को दोहराता रहा। संत के मन में आयाहयह ऐसे नहीं समझेगा। इसे तो युक्ति से समझना होगा। उन्होंने युवक से कहाह 'अच्छा, जाओ और दो घड़े ले आओ, एक कंकर-पत्थर से भर कर और दूसरा घी से भरकर।'।

युवक तत्काल घर गया और संत के आदेशानुसार दोनों घड़े लेकर पुनः उनके चरणों में उपस्थित हो गया। तब संत ने उसे निर्देश दिया 'जाओ, इन दोनों को नदी में उड़ेल दी। युवक को कुछ भी समझ में नहीं आया। जरा हैरानी के स्वर में उसने संत पूछाह 'इन्हें नदी में उड़ेलने का उद्देश्य ? संत ने पहेली की भाषा में कहाह गति करने के लिए।' युवक समाहित होने के स्थान पर और अधिक उलझ गया। इसके बावजूद

युवक समाहित होने के स्थान पर और अधिक उलझ गया। इसके बावजूद पिता की सद्गति की ललक में उसने दोनों घड़े ले जाकर पार्श्ववर्ती नदी में उड़ेल दिए। उड़ेलते ही कंकर-पत्थर सारे नीचे चले गए और घी पानी के ऊपर तैरने लगा। संत युवक के साथ ही नदी के तट पर आए थे। वे ऊचे स्वर में बोलेह 'अरे ! ये कंकर-पत्थर डूब रहे हैं, इन्हें बचाओ।

युवक तपाक से बोलाह 'महाराज ! ये तो भारी हैं, डूबेंगे ही। इन्हें कैसे बचाया जा सकता है ! घी हलका है, इसलिए वह तैरने लगा, डूबा नहीं। संत ने प्रश्न की भाषा में कहाह 'तत्त्व समझे या नहीं ?' 'मैं तो कुछ नहीं समझा।' उसकी आंखों में जिज्ञासा प्रतिबिंबित हो रही थी। तब संत मर्म का उद्घाटन करते हुए प्रतिबोध की भाषा में बोलेह 'जिस प्रकार कंकर-पत्थर अपने भारीपन के कारण डूब गए और घी अपने हलकेपन के कारण तैरने लग गया, ठीक इसी प्रकार तुम्हारे पिता की गति भी हो गई। यदि उनकी आत्मा कर्मों से भारी है तो उन्हें सद्गति कैसे मिलेगी ? इसके विपरीत यदि वे कर्मों से हलके हैं तो उनकी सद्गति को कौन रोक पाएगा ? वस्तुतः गति करने-करवाने से नहीं होती; वह तो व्यक्ति के स्वयं के कर्मों के अधीन है।'

सविवेक चिंतन को महत्त्व दें

बंधुओ ! यही बात में आपसे कह रहा था। हर व्यक्ति की गति उसके कृत कर्मों के द्वारा होती है। वह भी उसके मरने के साथ ही हो जाती है। बाद में उसकी गति करने का प्रयास तो सर्वथा अज्ञान ही है। कुछ लोग अपने पिता, पितामह आदि की मृत्यु के पश्चात मृत्युभोज करते हैं। मैं नहीं समझता, हलवा-पूड़ी तो दूसरे-दूसरे खाएं पेट पिता या पितामह का भरे, यह कहां का न्याय। यह बात तो समझ में आ सकती है कि व्यक्ति ने अपने पिता, पितामह के स्वर्गवास के प्रसंग पर अपने संबंधियों को इकट्ठा किया और उनके खाने-पीने आदि की व्यवस्था की। पर इससे काल-प्राप्त उसके पितामह को तृप्ति मिलेगीहऐसा चिंतन तो सर्वथा नासमझी की बात प्रतीत होता है। समाज में इस प्रकार के एक-दो नहीं, अपितु अनेकानेक अंधविश्वास पल रहे हैं। यद्यपि पिछले वर्षों में अणुव्रत एवं नयामोड़ के माध्यम से इस दिशा में समाज ने काफी करवट ली है, फिर भी संतोषजनक स्थिति नहीं है। अब भी बहुत

परंपराओं को परिवर्तित, संशोधित एवं समाप्त करने की अपेक्षा है। मैं इस संदर्भ में स्थूल रूप में आपसे एक ही बात कहना चाहता हूँ कि किसी भी कार्य के करने में आप चालू परंपरा से भी अधिक महत्त्व अपने सविवेक चिंतन को दें। सब लोग इस कार्य को करते हैं और करते आए हैं, इसलिए आप भी करें तथा सभी लोग इसे छोड़ रहे हैं, इसलिए आप भी इसे छोड़ेह्ये दोनों बातें चिंतन की परिचायक नहीं हैं।

महिलाएं पौरुष को जगाएं

विधवा बहिनों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता हैह्यह आप लोगों से छिपा नहीं है। पति गुजर गया, इसलिए महीनों एवं वर्षों तक घर से बाहर नहीं जानाह्यइस रूढ़ि का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। क्या कोई पुरुष अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात इस प्रकार घर में रहने को तैयार है ?

कहते हैं कि विधवा बहिन जब कपड़े बदलती है तो उसे कोई देख नहीं सकता। सुहागिन बहिनों की बात तो बहुत बाद है, घर के बाल-बच्चे तक भी उसे नहीं देख सकते। मुझे बताया गया कि बड़ी निर्दयता के साथ उसके कपड़े उतारे जाते हैं। यहां तक कि मानवीय व्यवहार की सीमा का भी अतिक्रमण हो जाता है। मैं नहीं समझता, विधवा होनेवाली बहिन का ऐसा क्या दोष है, जिसके कारण उसके साथ ऐसा आमानवीय व्यवहार किया जाता है। क्या सधवा रहना या विधवा होना किसी के वश की बात है ?

समाज में विधवा बहिनों के साथ आज भी ऐसा अन्याय होता है, यह आश्चर्य की बात है। परंतु इससे भी अधिक आश्चर्य तो मुझे इस बात का होता है कि बहिनें इस अन्याय और अभिशाप को वर्षों से सहन किए जा रही हैं। क्या उनमें थोड़ी-सी भी चेतना नहीं है ? क्या उनका स्वाभिमान सर्वथा सो गया है ? मैं मानता हूँ इन कुरुढ़ियों को मिटाने के लिए बहिनों को ही क्रांति करनी होगी। यदि बहिनें दृढ़ संकल्प के साथ इस अभिशाप को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो जाएं तो कोई कारण नहीं कि ऐसी परंपराएं स्वयं अपनी मौत समाप्त न हो जाएं। पर बहिनें अभी तक अपने पौरुष को जगा नहीं पाई हैं। मुझे तो यहां तक कहने में कठिनाई नहीं कि इस गलत परंपराओं को बहिनें स्वयं अपने अज्ञान के कारण पोषण दे रही हैं।

काले कपड़े छोड़े दो!

अजमेर में मैं एक सड़क से होकर गुजर रहा था । कुछ बहिनें भी काले कपड़े पहिने साथ थीं। सामने से एक वर राजा आ रहा था। ज्यों ही उसने काले कपड़ों वाली बहिनों को दूर से देखा, वह अपशकुन से बचने के लिए तत्काल एक तरफ टल गया। उन काले कपड़ोवाली विधवा बहिनों के पीछे कुछ विधवा बहिनें सफेद कपड़ों में भी थी। वर राजा ने उन्हें भी देखा, पर उनसे बचने का उसने कोई प्रयास नहीं किया। मेरे मन में तत्काल चिंतन आया कि बहिनें काले वस्त्र पहनकर स्वयं अपना अपमान करवाती है। स्थान पर आकर मैंने विधवा बहिनों को संबोधित करते हुए कहाहबहिनो! तुम काले कपड़े पहनना छोड़ दो। ये काले कपड़े पता दूरसे-दूरसे लोगों के लिए अपशकुन हैं। या नहीं पर तुम लोगों के लिए तो निश्चय ही अपशकुन हैं। इस बात के साथ ही मैंने आज की सारी घटना सुनाई।

मूल्य जीवन की पवित्रता का

मैं जब विहार करता हूँ तो हमारी विधवा बहिनें सुहागिन बहिनों को आगे कर देती हैं और स्वयं पीछे हट जाती है। एक दिन मैंने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहाहये सुहागिन बहिनों आपको शकुन देंगी। मैंने पलटकर पूछाहक्या तुम अपशकुन देती हो? तुम सात्त्विक और पवित्र जीवन जीती हो, धर्म की आराधना करती हों, फिर तुम्हारा अपशकुन कैसा? बंधुओ! मेरी दृष्टि में विधवा और सुहागिन होने का उतना महत्त्व नहीं, जितना जीवन की पवित्रता एवं धर्माधना का है।

धर्मास्तिकाय की गति की बात कहते-कहते मैं प्रवाह में बह गया। पर मैं जानता हूँ, ये बातें भी समय-समय पर प्रवचन में अपनी आवश्यक हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब तक समाज कुरुदियों एवं अंधविश्वासों से मुक्त नहीं होगा तब तक उसका विकास असंभव है। इसलिए मैंने प्रसंगवश ये सारी बातें कही। आप लोग इन पर गहराई से विचार करें और कुरुदियों से समाज को मुक्त करने की दिशा में अपने चिंतन एवं विवेक को काम में लें। इसमें न केवल आपका और पूरे समाज का ही भला है, अपितु धर्म, धर्मगुरु और धर्मशासन का भी हित एवं गौरव समाविष्ट है।

गंगाशहर, १५ जुलाई १९७८

४ : अधर्मास्तिकाय की स्वरूपहमीमांसा

पांच अस्तिकाय द्रव्यों के अंतर्गत धर्म का विवेचन कल मैंने किया।
दूसरा अस्तिकाय द्रव्य है अर्धधर्म ।

स्थितिसहायोऽधर्मः ।

स्थानगतानां जीवपुद्गलानां स्थितौ उदासीनभावेन
अनन्यसहायकं द्रव्यं अधर्मास्तिकायः, यथाहपथिकानां छाया ।

जीवपुद्गलानां गतिस्थित्यन्यथानुपपत्तेः, वाय्वादीनां
सहायकत्वेऽनवस्था-दिदोषप्रसङ्गाच्च धर्माधर्मयोः सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् ।
एतयोरभावादेव अलोके जीवपुद्गलादीनामभावः ।

जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होनेवाले द्रव्य को अधर्म कहते हैं। जिस प्रकार धर्म जीव व पुद्गलों की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी है, उसी प्रकार अधर्म जीव व पुद्गलों की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी द्रव्य है। आपका प्रश्न हो सकता है कि गति में तो दूसरे के सहयोग की अपेक्षा की बात समझ में आती है, पर स्थितिहठहरने में भी दूसरे के सहयोग की अपेक्षा की बात का क्या तात्पर्य है, जिस प्रकार गतिकार्य में सहयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार स्थिति में भी अनिवार्य रूप से सहयोग अपेक्षित है। एक व्यक्ति चलते-चलते थक गया। वह विश्राम करना चाहता है। लेकिन चारों तरफ धूप-ही-धूप है। इसलिए वह ठहर नहीं पाता। चलता ही जाता है। अब चलते-चलते कहीं मार्ग में छाया आ जाती है। छाया आते ही वह ठहर जाता है। यद्यपि ठहरने में उपादान कारण, जैसा कि मैंने कल भी बताया था, मूल होता है, तथापि निमित्त कारणों का भी कम महत्त्व नहीं है। रोटी बनाने के लिए आटा उपादान कारण है उसके अभाव में रोटी की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पर केवल आटे से तो रोटी नहीं बनती उसे लिए चूल्हा, तवा, बेलन, चकला..... बहुत-सी चीजों निमित्त कारण के

रूप में विद्यमान हो जरूरी हैं। अधर्म को भी हमें इसी रूप में समझना चाहिए। यद्यपि स्थिति में उपादान कारण तो जीव या पुद्गल स्वयं है, तथापि निमित्त कारण के रूप में पथिक के लिए छाया की तरह अधर्म सहयोगी है। जीव व पुद्गलों की स्थिति उसके बिना कदापि संभव नहीं है। इसलिए अधर्म को जीव और पुद्गलों की स्थिति में मध्यस्थ भाव से अनन्य सहयोगी माना गया है।

तीर्थकरों की वाणी यथार्थ क्यों

हमारे सामने यह विवशता है कि हम धर्म और अधर्म को आंखों से देख नहीं सकते, क्योंकि ये दोनों अमूर्त द्रव्य हैं। इसके बावजूद हमें इनके अस्तित्व पर विश्वास करना चाहिए। आगम-साहित्य में पृष्ठ-के-पृष्ठ इनके विवेचन से भरे पड़े हैं। आगमों के प्रवचनकार केवलज्ञानी थे। उन्होंने अपने आत्मज्ञान के द्वारा जो देखा, वही संसार को बताया। इसलिए आगम-वाणी की यथार्थता में संदेह करने की किंचित भी गुंजाइश नहीं है। झूठ कौन बोलता है ?

क्रोधाद् वा लोभाद् वा हासाद् वा वाक्यमुच्यते ऽऽनृतम्।

यस्यतु नैते दोषाः तास्याऽनृतं करणं किं स्यात् ?

ह व्यक्ति क्रोध, लोभ और हास्य के वशीभूत होकर झूठ बोलता है। जिस व्यक्ति में ये दोष नहीं, वह झूठ क्यों बोलेगा ?

हमारे आगम-प्रवचकार वीतराग प्रभु भी इन सब दोषों से सर्वथा मुक्त हैं। अतः उनकी वाणी असत्य कैसे हो सकती हैं? इसके साथ ही एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि जब उनकी और-और बातें सत्य साबित हुई हैं तो इस कथन की यथार्थता में संदेह कैसे किया जा सकता है ?

तीर्थकरों ने कहा, बोलने के साथ ही हमारे शब्द सारे लोक में फैल जाते हैं। उनके इस कथन को दूसरे-दूसरे लोग मानने को तैयार नहीं थे। पर आज उनकी यह बात शत-प्रतिशत सत्य हो रही है। रेडियो इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह प्रमाण है उनकी सर्वज्ञता का। दूसरा उदाहरण बताऊं। जैन तीर्थङ्करों ने वनस्पति को सजीव बताया। पर लोग वनस्पति को सजीव नहीं मानते थे। उनको तीर्थङ्करों का यह कथन अयथार्थ प्रतीत होता था। पर जब डॉ. जगदीशचंद्र बसु ने एक लंबे समय के अनुसंधान के पश्चात यह प्रमाणित किया कि वनस्पति भी जीव है; उसमें भी सुख-दुःख की अनुभूति है, वह हंसती है, रोती है तब

लोगों को तीर्थकरों की वाणी की यथार्थता को स्वीकार करना पड़ा। इस तरह की एक-दो नहीं, अपितु बीसियों बातें बताई जा सकती हैं, जिन्हें लोग यथार्थ नहीं मानते थे, पर वे वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा शतशः सत्य साबित हुई हैं। इस माने में हमें विज्ञान का ऋणी रहना चाहिए। साथ ही हमें अपनी कमजोरी भी ऋजुतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिए कि हम सब बातों को यथार्थ मानते हुए भी प्रयोग के धरातल पर सत्य साबित करने में असफल रहे ।

जैन-तीर्थङ्करों की वाणी की यथार्थता में आज संदेह करने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रही है। अतः धर्म और अधर्म के अस्तित्व को नकारने का कोई कारण नहीं है।

वस्तु के अस्तित्व का आधार

धर्म व अधर्म यद्यपि हमें दिखाई नहीं देते, फिर भी उन्हें अस्वीकार न करने का एक कारण यह भी है कि उनके गुण हमारे सामने प्रत्यक्ष है। गुणी के बिना गुण का कोई अस्तित्व नहीं होता। इस दृष्टि से जब धर्म और अधर्म के गुण हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं तो उनके अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। एक व्यक्ति हमें दिखाई नहीं देता, पर उसकी आवाज सुनाई देती है। ऐसी स्थिति में क्या हम उस व्यक्ति के अस्तित्व को नकार सकेंगे ? कभी नहीं। इसलिए दिखाई देने या न देने की बात किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने और न करने के लिए अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती।

आगमकार कहते हैं, धर्म और अधर्म के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा जीवों और पुद्गलों की गति और स्थिति नहीं हो सकती । कहा जा सकता है कि गति में तो वायु, पानी आदि भी सहयोगी हैं, फिर धर्म को ही सहयोगी क्यों माना जाए। यहां प्रतिप्रश्न पैदा होगा, वायु तो स्वयं गतिशील है, ऐसी स्थिति में वायु की गति में कौन सहयोगी है। यदि यह कहा जाए कि सूक्ष्म वायु तो पुनः प्रश्न होगा कि सूक्ष्म वायु की गति में सहयोगी कौन। इस प्रकार हम चलते ही जाएं, पर कहीं अंत नहीं होगा और ऐसा करने से अनवस्था दोष आ जाएगा। इसलिए हमें कोई-न-कोई ऐसे द्रव्य को स्वीकार करना ही होगा, जो स्वयं स्थिर होकर दूसरों को गति दे। आपको ख्याल होना चाहिए कि गतिशील पदार्थ कभी दूसरों को गति प्रदान नहीं कर सकता। स्थिर

पदार्थ ही दूसरों को गति प्रदान कर सकता है। पटरी रेलगाड़ी को गति प्रदान करती है, पर वह स्वयं स्थिर होती है। यदि वह स्वयं गतिशील बन जाए तो गाड़ी की कैसी गति होगी, इसे बताने की अपेक्षा नहीं ये सीढियां हमारे चढ़ने-उतरने में सहयोगी बनती हैं। पर सहयोगी तभी हैं, जब स्वयं स्थिर है। यदि स्वयं गतिशील हो तो ये हमारे चढ़ने-उतरने में सहयोगी नहीं बन सकतीं। इसलिए लोक के सभी जीवों और पुद्गलों की गति में धर्म के अस्तित्व को मानना ही होगा। इसी प्रकार जीवों और पुद्गलों की स्थिति में अधर्म के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। (धर्म और अधर्म स्वयं अगतिशील द्रव्य हैं।)

लोक में धर्म और अधर्म दोनों सर्वत्र व्याप्त हैं। अलोक में केवल आकाश है। जीवों और पुद्गलों का वहां सर्वथा अभाव है। पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों। इसका समाधान यही है कि अलोक में धर्म व अधर्म नहीं हैं तथा दोनों ही धर्म एक अधर्म के अभाव में वह न गति स्थिति है। यदि अलोक में और इन दोनों धर्म व अधर्म होता तो वहां भी जीव व पुद्गल अवश्य होते। पर ऐसी स्थिति में वह अलोक होता ही नहीं। वह अलोक इसी लिए तो है कि वहां आकाश के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

धर्म व अधर्म दोनों द्रव्यों की अपेक्षा से एक-एक द्रव्य, क्षेत्र की दृष्टि से, जैसा कि अभी-अभी बताया, लोकपरिमाण हैं। यानी ये दोनों पूरे लोक में व्याप्त है। काल की दृष्टि से ये आनादि-अनंत और भाव की दृष्टि से अरूपी हैं।

गंगाशहर

१५ जुलाई १९७८

५ : आकाशास्तिकाय का स्वरूप

पंचास्तिकाय द्रव्यों के प्रतिपादन के क्रम में धर्म और अधर्म का विवेचन मैंने पिछले प्रवचनों में किया। तीसरा द्रव्य है आकाश।

अवगाहलक्षण आकाशः।

आवगाहःह्रअवकाशः, आश्रयः स एव लक्षणं यस्य स आकाशास्तिकायः। दिगपि आकाशविशेषः न तु द्रव्यांतरम्।

आकाश को सभी दर्शन और दार्शनिक मानते हैं। कोई ऐसा दर्शन या मत नहीं है, जो आकाश के अस्तित्व को नकारता हो। अद्यपि अमूर्त द्रव्य होने के कारण हम आकाश को अपनी आंखों से नहीं देख सकते, फिर भी उसका अस्तित्व जाना जा सकता है। अवगाह एक ऐसा लक्षण है, जो आकाश के अस्तित्व को प्रकट करता है। अवगाह का अर्थ है ह्रअवकाश/आश्रय। यदि आकाश नहीं तो हम कहां ठहरें? संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों को आश्रय देनेवाला तत्त्व आकाश ही है।

आकाश कहां है

आप पूछेंगे, आकाश कहां है। मैं जूछता हूं आकाश कहां नहीं है? और यह प्रतिप्रश्न ही पूर्व प्रश्न का उत्तर है। कहां है, यह प्रश्न तभी पूछा जा सकता है, जब पदार्थ कहीं हो और कहीं न हो। पर जो चीज सर्वत्र व्याप्त हो, उसके लिए यह प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता। आकाश समूचे लोक और अलोक में व्याप्त है। आकाश को नीला कहा जाता है। पर यह साहित्य की भाषा है, आगम की नहीं। आगम की भाषा में आकाश अरूपी है। फिर वह नीला कैसे हो सकता है? हमें आकाश नीला दिखाई देता है, उसका कारण दूरी है। निकट जाने पर वह नीला नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि दिखाई देनेवाला वस्तुतः आकाश नहीं, अपितु परमाणु-पिंड है।

दिशाएं क्या है

आकाश को कोई जाने या न जाने, पर दिशाओं को तो सभी

जानते हैं। जैन-आगमों में चार, दश, अठारह दिशाओं का वर्णन प्राप्त है। इनमें मुख्य चार ही हैं—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर। इनको पहचानने का सीधा-सा तरीका है—सूर्य उदय हो, उस ओर मुंह कर खड़े होने पर सामने की ओर पूर्व, पीठ की ओर पश्चिम, दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बायें हाथ की ओर उत्तर होता है। प्रश्न है कि दिशाएं क्या हैं, क्या ये स्वतंत्र द्रव्य हैं। नहीं, ये स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, आकाश के ही विभिन्न विभाग हैं।

आत्मवाद का आदि बिंदु

पूछा जा सकता प्रश्न है कि दिशाओं के प्रयोग का उद्देश्य क्या है। इसका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। मैं कहां से आया हूं और मौत के पश्चात कहां जाऊंगा, यह प्रश्न ही आत्मवाद का आदि बिंदु है। कोई प्राणी आज जन्म लेता है, इसका अर्थ है कि वह आज से पहले अन्यत्र कहीं अवश्य था और मरने के पश्चात अन्यत्र कहीं अवश्य जाएगा। जैन-दर्शन आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करता है। ऐसा कोई समय अतीत में न आया और न भविष्य में कभी आएगा, जब आत्मा आत्मा न रहे।

अनादि की आदि कैसी

आप की जिज्ञासा हो सकती है पूछेंगे, क्या जैन-दर्शन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानता है? हां, मानता है। पर इस प्रश्न का उत्तर मिलना असंभव है कि आत्मा का जन्म कब हुआ। मैं तो क्या, आज तक कोई केवलज्ञानी या तीर्थङ्कर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। और उत्तर दें भी कैसे? जिसका प्रारंभ है ही नहीं, उसका प्रारंभ कैसे बताया जाए? सांचे में ढली चूड़ी का कोई छोर पूछे तो क्या बताया जा सकता है? नहीं बताया जा सकता। उसका छोर है ही नहीं। जिस वस्तु का छोर है ही नहीं, उसका यदि छोर निकाला जाएगा तो क्या वह असत्य नहीं होगा? छोर उसी का निकाला जा सकता है, जिसका छोर हो। प्रारंभ उसी का बताया जा सकता है, जिसका प्रारंभ हो। इसलिए मैंने कहा, आत्मा का प्रारंभ हुआ, यह नहीं बताया जा सकता। अनंतकाल से वह जन्म-मरण करती रही है।

प्रश्न होगा, क्या कोई आत्मा जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त हो सकती है। हां, ऐसा दिन आ सकता है, जब कोई आत्मा जन्म-मरण की शृंखला को तोड़ दे। आपकी जिज्ञासा होगी, यह कैसे संभव है। यह

साधना, तपश्चर्या सब उसी के लिए ही तो है। आप लोग प्रतिदिन हजारों की संख्या में उपस्थित होकर प्रवचन सुनते हैं, यह भी उसी जन्म-मरण की शृंखला को तोड़ने की दिशा में एक प्रयत्न है।

दुःख सबसे बड़ा भय

जन्म-मरण से हम छुटकारा क्यों चाहते हैं, इसका समाधान इतनासा ही है कि जन्म-मरण बहुत बड़ा दुःख है और दुःख से बड़ा संसार में कोई दूसरा भय नहीं है।

संसार में सबसे बड़ा भय क्या है, यह प्रश्न एक बार भगवान महावीर ने अपने समवसरण में साधु-साध्वियों के बीच उठाया। यद्यपि प्रश्न कोई गहरा नहीं है, पर प्रश्नकर्ता बहुत गहरे थे। इसलिए इंद्रभूति गौतम-सहित सभी साधु-साध्वियों चिंतन में पड़ गईं। सभी ने सोचा कि भगवान जब प्रश्न पूछ रहे हैं तो यह कोई सामान्य प्रश्न नहीं हो सकता, जरूर कोई रहस्यमय प्रश्न है। परिणामतः किसी साधु-साध्वी ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए अपने-आपको प्रस्तुत नहीं किया। आखिर साधु-साध्वियों की मनःस्थिति का प्रतिनिधित्व करते हुए इंद्रभूति गौतम ने भगवान को सविधि वंदना कर निवेदन किया भंते ! हम इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं जानते। यदि आपको तनिक भी कष्ट न हो, श्रम न हो तो हम आपके मुखारविंद से ही इसका समाधान सुनना चाहते हैं।' भगवान ने कहाहैनहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं, मैं समाधान देना चाहता हूं। तब इंद्रभूति गौतम ने करबद्ध प्रार्थना कीह

भंते ! आप अनुग्रह करें। प्रार्थना स्वीकार कर भगवान ने समाधान दियाह'संसार के प्राणियों के लिए दुःख सबसे बड़ा भय है।'

अहिंसा और मैत्री : धर्म की बुनियाद

बंधुओ! संसार का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। सभी सुखाकांक्षी हैं। इस दुःख-मुक्ति व सुख-प्राप्ति की आकांक्षा में जैन-अजैन, हिंदू, मुसलमान का कोई भेद नहीं है। मनुष्य ही क्यों पशुहपक्षियों, पेड़पौधों-सहित समस्त जीव-जगत दुःख-मुक्ति व सुख-प्राप्ति की अभीप्सा से बंधा हुआ है। पर मजे की बात यह है कि व्यक्ति को स्वयं के सुख में दूसरों के दुःख का अनुभव नहीं होता। स्वयं के दुःख को वह बहुत देख लेता है, पर दूसरों को भी दुःख होता है, यह बात उसकी समझ में नहीं आती। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा,

दूसरों के दुःख समझो। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक दूसरों को दुःख न देने की बात को समझना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। अर्हत् वंदना में हम गाते हैं **हपुरिसा ! तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।** पुरुष ! वह तू ही है, जिसे तू मारना चाहता है। किसी को मारकर आदमी सोचता है कि वह मर गया। पर नैश्चयिक सचाई यह है कि मारनेवाला तो कदाचित पर भी सकता है और कदाचित नहीं भी मर सकता, किंतु मारनेवाला तो निश्चित रूप में मर गया आप पूछेंगे कि ऐसा क्यों ऐसा इसलिए कि मारनेवाले के परिणाम यदि शुद्ध हैं, तो वह मर कर भी दुर्गति में नहीं जाएगा, मारनेवाले ने तो उसका घात कर अपने को पाप-कर्मों से भारी बना ही लिया। उन कर्मों को भुगतने के लिए उसे नरक में भी जाना पड़ सकता है। इसलिए यह सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि दूसरों को दिया जानेवाला दुःख स्वयं का दुःख बनता है, दूसरों को पहुंचाई गई पीड़ा स्वयं की पीड़ा बनती है। भगवान महावीर ने इस सूत्र का प्रतिपादन कर समूचे प्राणी-जगत के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया। काश ! अहिंसा और मैत्री के इस सिद्धांत को मानव जाति समझ पाती। पशु-पक्षी जगत को हम यह सिद्धांत नहीं समझा सकते यह हमारी मजबूरी है, पर मनुष्य को भी यह सिद्धांत नहीं समझा सकेहयह हमारी कितनी बड़ी कमजोरी है ! बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जो बात व्यक्ति स्वयं के लिए नहीं चाहता वही बात दूसरों के लिए करते हुए उसे जरा भी संकोच और दर्द नहीं होता! व्यक्ति स्वयं के लिए सुख चाहता है, पर दूसरों का सुख छीन लेता है ! व्यक्ति स्वयं दुःख नहीं चाहता, पर दूसरों के लिए दुःख उत्पन्न कर देता है। मनुष्य जाति के लिए सचमुच यह अंयंत गौरव की बात होती, यदि पराए दुःख अपना दुःख समझना सीख जाता। सभी धर्म-शास्त्रों ने मैत्री व अहिंसा के इस सिद्धांत की चर्चा की है; इसे *महिमांडित* किया है, क्योंकि अहिंसा व मैत्री ही धर्म की बुनियाद है। इसके बिना धर्म कहीं टिक नहीं सकता।

आदर्श की बातें और व्यवहार

संसार के सभी महापुरुषों व धर्मगुरुओं ने धर्म के ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की बातें कही हैं। आदर्शों व सिद्धांतों के आधार पर सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर यह बहुत महत्त्व की बात नहीं कि किस धर्म में कितनी ऊंची बातें

कही गई हैं। बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि धर्म के उन आदर्शों को जीवन में कहां तक उतारा जाता है। यदि व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में अपने धर्म के ऊंचे-ऊंचे आदर्श नहीं आए तो केवल उन आदर्शों के आधार पर अपने धर्म का गौरव गाना बहुत मूल्यवान नहीं है।

आचार्य जी ! आपने बाइबिल बढ़ी है

एक घटना-प्रसंग मेरी स्मृति में आ रहा है। मैं बिहार प्रांत की यात्रा पर था। हजारों-हजारों लोग जाति, वर्ग, संप्रदाय आदि के भेद-भाव के बिना अणुव्रत की बात सुनने के लिए प्रवचनों में उपस्थित होते थे। एक दिन कुछ ईसाई पादरी भी प्रवचन-सभा में उपस्थित हुए। प्रवचन-समप्ति के पश्चात एक पादरी मेरे पास आए और प्रशंसा का पुल बांधते हुए बोलेहआचार्य जी ! आज तो आपने प्रवचन क्या किया, कमाल ही कर दिया !

मैं समझ गया कि यह प्रशंसा किसलिए है। वस्तुतः प्रशंसा एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा बड़े-से-बड़े आदमी को आकर्षित कर उसे भटकाया जा सकता है। संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत मिल जाएंगे, जो अपनी निंदा सुनकर भी अप्रसन्न न हों, पर ऐसे व्यक्ति थोड़े ही मिलेंगे, जो अपनी प्रशंसा सुनकर न फुलें। हां, तो पादरी साहब ने मेरे प्रवचन की खूब प्रशंसा की। मैंने मध्यस्थ भाव से उनकी बात सुन ली। मेरे मन पर उनकी प्रशंसा का कोई विशेष असर नहीं हुआ। अब पादरी साहब अपनी मूल बात पर आए। उन्होंने पूछाहआचार्यजी ! आपने बाइबिल पढ़ी हैं? मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दियाह‘हां, पढ़ी हैं।’ पादरी साहब को मेरे इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने पूछाहनहीं पूरी पढ़ी या नहीं? मैंने कहाहहां, काफी देखी हैं। पादरी साहब बोलेहबाइबिल में महाप्रभु क्राइस्ट ने एक बहुत ऊंची बात कही है।’ मैंने प्रमोद भाव के साथ कहा हां, बाइबिल में बहुत अच्छी-अच्छी बातें हैं। पादरी साहब अभिमान के स्वर में बोलेहनहीं-नहीं, महाप्रभु क्राइस्ट ने एक ऐसी बात कही है, जो अन्यत्र मिलनी असंभव है।’ मैंने जिज्ञासा की ‘आखिर वह बात है क्या? वे बोलेह‘महाप्रभु क्राइस्ट ने कहा है कि मित्र के साथ तो मित्रता का व्यवहार करो ही, शत्रु के साथ भी मित्रता का व्यवहार करो। आचार्यजी! देखिए, कितनी ऊंची बात है ! क्या आपने इतनी ऊंची बात अन्यत्र कहीं पढ़ी है? ऐसा कहते हुए पादरी साहब की आंखों में चमक आ गई। मुझे

पादरी साहब का यह सांप्रदायिक अहं उचित नहीं लगा। इस अहं को विगलित करने के लिए मैंने कहाह 'फादर ! मैंने भगवान महावीर की वाणी में एक इससे भी ऊंची बात पढ़ी है।' पर पादरी साहब मेरी बात सुनने तक को तैयार नहीं हुए 'इससे ऊंची बात ! यह कभी संभव नहीं। मैंने उनको झकझोरा परंतु जो है, उसे कैसे नकारा जा सकता है ? पर पादरी साहब अपनी बात पर पूर्ववत् खड़े थेहलेकिन ऐसा कभी हो नहीं सकता।' अपने उद्देश्य तक पहुंचने के लिए मैंने कहाह 'यदि आप सुनना चाहें तो मैं वह बात सुनाना चाहता हूं।' पादरी साहब अन्यमनस्क भाव से धीमे-से बोलेह 'कहिए।' मैंने कहाह 'भगवान महावीर ने कहा है, तुम किसी दूसरे को शत्रु समझो ही मत। शत्रु या मित्र तुम्हारी स्वयं की आत्मा है। फादर साहब ! अब आप दुश्मन के साथ मित्रता का व्यवहार करना बड़ी बात है या किसी को दुश्मन मानना ही नहीं, यह बड़ी बात है? पहले तो व्यक्ति किसी को दुश्मन माने और फिर उसके साथ मित्रता का व्यवहार करे, उससे क्या ही यह अच्छी नहीं कि यह किसी को शत्रु माने ही नहीं ।

मेरी सुन कर पादरी साहब का चेहरा सहसा कुम्हला गया। उनकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा की। परंतु जब वे मौन ही रहे तो मैंने कहाह 'फादर साहब ! निस्संदेह महाप्रभु क्राइस्ट, भगवान महावीर और संसार के सभी महापुरुषों ने एक ऊंची जीवनोपयोगी बातें है। पर केवल ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की बातों से क्या लाभ, जब तक वे बातें उनके अनुयायियों के जीवन-व्यवहार में नहीं आतीं? मैं आपसे ही पूछना चाहता हूं कि आज ऐसे कितने ईसाई हैं, जो अपने शत्रुओं के साथ मित्रता का व्यवहार करते हैं? ये विश्व-युद्ध किसने करवाए? क्या वे लोग महाप्रभु यीशु के अनुयायी नहीं थे? पर यह केवल ईसाइयों की बात नहीं है, अपितु जैनों की तथा अन्य सभी धर्मावलंबियों की भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। इसलिए हम धर्मगुरुओं का कार्य केवल ऊंचे-ऊंचे आदर्शों का गुणगान करना और उनके आधार पर अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास करना नहीं, बल्कि उन आदर्शों के सांचे में अनुयायियों को ढालना है।'

बंधुओ ! सचमुच धर्मशास्त्रों में आदर्श की ऊंची-ऊंची बातों की कोई कमी नहीं है। कमी यह है कि लोग उन बातों को जीवन में नहीं

उतारते। नास्तिक एवं अधार्मिक कहलानेवाले लोग धर्म के साथ खिलवाड़ करें, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य और निराशा तो तक होती है, जब मैं देखता हूँ कि धार्मिक और आस्तिक कहलानेवाले लोग भी उन आदर्शों के साथ खिलवाड़ करते हैं। तुच्छ से स्वार्थ के लिए धर्मिकता को छोड़ अधार्मिक कृत्य कर लेते हैं। इस स्थिति में मुझे कहना पड़ता है कि धर्म का जितना नुकसान तथाकथित धार्मिकों के द्वारा हुआ है, उतना अधार्मिकों व नास्तिकों के द्वारा नहीं हुआ।

सच्ची धर्मिकता

सच्ची धर्मिकता क्या होती है, इसे मैं एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहता हूँ। श्रीमद् राजचंद्र का नाम आपमें से बहुत से लोगों ने सुना होगा। महात्मा गांधी के वे एक दृष्टि से आध्यात्मिक गुरु थे। धार्मिक दृष्टि से वे जैन तथा व्यावसायिक दृष्टि से जौहरी थे। एक बार उन्होंने एक व्यापारी से मोतियों का सौदा किया। सौदा करते समय बाजार सामान्य था। परंतु सौदा तय होने के कुछ ही दिनों पश्चात मोतियों के भावों में अप्रत्याशित तेजी आ गई। ऐसे में वह मोतियों का व्यापारी कई तरह की कठिनाइयों से घिर गया। हालांकि वह भरसक इस प्रयत्न में था कि अपने किए गए सौदे के अनुसार माल उपलब्ध करवाए, तथापि निर्धारित समय निकल जाने तक भी वह ऐसा नहीं कर सका। श्रीमद् राजचंद्र से उस व्यापारी की स्थिति छिपी नहीं थी। अतः बिना पूर्व सूचना के एक दिन उसकी दुकान पर पहुंचे। वह व्यापारी श्रीमद् राजचंद्र को अपनी दुकान पर आया देख शर्मिदा होता हुआ-सा बोलाह्मराजचंद्र भाई ! मुझे इस बात का अत्यंत दुःख है कि मैं अपने सौदे के अनुसार अभी तक माल नहीं पहुंचा सका। पर आप निश्चित रहें। माल की व्यवस्था करने के लिए मैं हर संभव प्रयत्न कर रहा हूँ। मुझे भरोसा है कि कोई-न-कोई व्यवस्था अवश्य बैठेगी।

यद्यपि श्रीमद् राजचंद्र को व्यापारी की नीयत पर किंचित भी संदेह नहीं था, वे यह भी अच्छी तरह से जानते थे कि बाजार की वर्तमान परिस्थिति में यह व्यापारी कभी सौदा पूरा नहीं कर सकता। इसलिए उन्होंने व्यापारी से उस सौदे का अनुबंध-पत्र मांगा। उस व्यापारी ने ज्योंही वह श्रीमद् राजचंद्र के हाथों में थमाया, उन्होंने उस व्यापारी के देखते-देखते तत्काल उसे फोड़ कर फेंक दिया और कहाहमारा सौदा

रह हैं।’

श्रीमद् राजचंद्र के इस अप्रत्याशित व्यवहार को देख कर वह व्यापारी दंग रह गया। उसी भावमुद्रा में वह बोलाह ‘राजचंद्र भाई ! आपने यह क्या किया ! हम व्यापारी हैं। व्यापार करते हैं। व्यापार में तेजी-मंदी तो आती-जाती रहती ही है। उससे क्या कहीं सौदा रह होता है। श्रीमद् राजचंद्र ने संतोष के स्वर में कहाह ‘राजचंद्र शर्बत पी सकता है, दूध पी सकता है, पर किसी का खून नहीं पी सकता।’

श्रीमद् राजचंद्र की सच्ची धार्मिकता के प्रति वह व्यापारी श्रद्धाप्रणत था। बंधुओ ! यह है सच्ची धार्मिकता। श्रीमद् राजचंद्र के जीवन में धर्म प्रत्यक्ष फलित हुआ था। आज ऐसे तथाकथित धार्मिकों की कोई कमी नहीं हैं, जो दूसरे व्यक्ति को कमजोर अवस्था में देखकर उसे दबाने का प्रयत्न करते हैं। उनके दृष्टि में धर्म केवल मंदिर जाकर पूजा-पाठ करना है, संत-दर्शन एवं गंगा-स्नान करना है। अपने आचरण व दैनिक व्यवहार में वे धर्म के आदर्शों को अपनाना कोई आवश्यक नहीं समझते। साधु-संतों का यह काम है कि वे अपने-अपने अनुयायियों को धर्म का सही मार्ग बताकर उसे उनके जीवन-व्यवहार में प्रवेश करवाएं।

सुख-प्राप्ति का मार्ग

एक सूत्र में यदि कहूं तो दूसरों को दुःख न देना ही धर्म है। कोई किसी को सुखी बना सके, यह उसके हाथ की बात नहीं। संभाव्य यही है कि कोई किसी को दुखी न बनाए। कोई किसी को जिला सके, यह सर्वथा असंभव बात है। पर कोई किसी को मारे नहीं, यह अहिंसा और मैत्री का व्यावहारिक एवं संभावित रूप है।

भगवान महावीर से पूछा गया कि सातवेदनीय कर्म के बंध का क्या कारण है। समाधान की भाषा में भगवान ने कहा कि प्राण-भूत-जीव-सत्त्व को दुःख नहीं देना, पीड़ित नहीं करना, नहीं सताना, अनुशासित नहीं करना सातवेदनीय कर्म के बंधन का कारण है। आप देखें, भगवान ने यह नहीं कहा कि दूसरे प्राणियों को सुख देने से सातवेदनीय कर्म का बंधन होता है। इसलिए तत्त्व यही है कि दूसरों को दुःख न देना सुख-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है, धर्म है। सचमुच यह एक गहरा तत्त्व है। इसकी गहराई में बहुत कम लोग पहुंच पाते हैं। अधिकतर लोग तो किसी को सामान्य-सा सहयोग देकर अपने-आपको

बहुत बड़ा धार्मिक मान लेते हैं।

जन्म-मरण, जैसा कि मैंने कहा, बहुत बड़ा दुःख है। चूंकि दुःख से सब छुटकारा चाहते हैं, इसलिए भगवान ने धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। त्याग, तप, संयम आदि के द्वारा हम जन्म-मरण की शृंखला को सदा-सदा के लिए तोड़कर शाश्वत सुख को प्राप्त करें। इसी भावना के साथ विराम लेता हूं।

गंगाशहर

१६ जुलाई १९७८

६ : लोकहस्थिति : एक विश्लेषण

आकाश का विवेचन कल मैंने प्ररंभ किया था। आकाश के दो भाग हैं।

लोकोऽलोकश्च ।

१. लोक २. अलोक ।

प्रश्न होता है कि लोक किसे कहते हैं ।

षड्रव्यात्माको लोकः ।

अपरिमितस्याकाशस्य षड्रव्यात्मको भागः लोक इत्यभिधीयते ।
स च चतुर्दशरज्जुपरिमाणः, सुप्रतिष्ठसंस्थानः, तिर्यग् ऊर्ध्वोऽधश्च ।
तत्र अष्टादशशतयोजनोच्छ्रितोऽसंख्याद्वीपसमुद्रायामस्तिर्यक् । किञ्चि-
चन्न्यूनसप्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वः । किञ्चिदधिकसप्तरज्जुप्रमितोऽधः ।

लोक का स्वरूप

लोक आकाशस्तिकाय का वह भाग है, जिसमें आकाश के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और कालहये पांच द्रव्य और पाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में जिस आकाश में छहों द्रव्य प्राप्त हैं, वह लोक कहलाता है ।

लोक आकाश का एक बहुत छोटा-सा भाग है। इसको आप एक स्थूल उदाहरण से समझें। यह सामने शामियाना है। इस शामियाने में कही चार अंगुल की कोई कारी लगा दी गई। इतने बड़े शामियाने में चार अंगुल की कारी का अस्तित्व नहीं के बराबर है। बस आकाश में लोक इस कारी जितना ही है, शेष सारा अलोक है। निष्कर्ष यह है कि अलोक की तुलना में लोक बहुत ही छोटा है। पर छोटा होकर भी लोक दूसरी दृष्टि से बहुत बड़ा है, क्योंकि अनंत-अनंत जीव और पुद्गल इसी लोक में समाए हुए हैं ।

पूछा जा सकता है कि 'लोक' का परिमाण क्या है। 'लोक' चौदह रज्जु का है, सुप्रतिष्ठक आकरवाला है। रज्जु यानी रस्सी। पर यह रस्सी कोई सामान्य छोटी-मोटी रस्सी नहीं है। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र समा जाए उतना बड़ा एक रज्जु होता है। आपको यह सुनकर विस्मय नहीं होना चाहिए, क्योंकि आज विज्ञान ने इससे भी अधिक-अधिक विस्मयकारी बातों के सामने रखी हैं। लोक का जो चौदह रज्जु का परिमाण बताया गया है, वह उसकी ऊपर से नीचे तक की लंबाई का है। सुप्रतिष्ठक आकार तीन सिकोरों को एक निर्धारित क्रम में रखने से बनता है। वह क्रम इस प्रकार है एक सिकोरा उलटा, उस पर दूसरा सिकोरा सुलटा और पुनः तीसरा सिकोरा उलटा।

लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है १. तिरछा लोक २. ऊधो-लोक ३. अधोलोक।

ऊर्ध्व लोक सात रज्जु से कुछ कम का है। अधोलोक सात रज्जु से कुछ अधिक का है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन का है। इसे मध्य लोक भी कहते हैं। इन तीनों को मिलाकर चौदह रज्जु होता है। यह चौदह रज्जु का लोक सातवें नरकहमहातमःप्रभा के नीचे से प्रारंभ होकर सिद्धशिला के अंतिम छोर तक है। इसके दो भाग हैं। हम मध्य लोक के जिस भाग में हैं, उससे ऊपर नौ सौ योजन तथा नीचे नौ सौ योजन है। हमारे यहां एक लोकपुरुष की भी कल्पना की गई है। लोकपुरुष का आकार वर्तमान जैन-प्रतीक के समान है। यह सारा विवेचन मैं जैन भूगोल-खगोल के आधार पर कर रहा हूँ। प्रश्न आप कहेंगे कि उपस्थित होगा क्या भूगोल-खगोल भी जैनों का, बौद्धों का वैदिकों का..... अलग-अलग होता है। हालांकि भूगोल-खगोल तो अलग-अलग नहीं होता, पर उसे बतलानेवाले अलग-अलग हैं। इसलिए उनके माप में कहीं-कहीं अंतर है। हमें अपने शास्त्रों में प्राप्त भूगोल-खगोल का ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा दूसरे-दूसरे लोगों की मान्यताओं से हम अपनी मान्यताओं की तुलना कैसे कर सकेंगे और कैसे उसके अंतर को समझ पाएंगे।

लोक की स्थिति

बंधुओं ! इस लोक की स्थिति बड़ी विचित्र है। जीव अपने कर्मों के कारण इस लोक में विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। कहीं जन्म

है। कहीं मरण है। कहीं नृत्य है। कहीं नाटक है। कोई रोता है। कोई हंसता है।..... संसार के प्रत्येक प्राणी ने लोक का चप्पा-चप्पा छाना है। लोक का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जहां जीव अनंत-अनंत बार न जन्मा हो। प्रश्न आप पूछ सकते हैं कि इस लोक का कभी अंत भी पाया जा सकता है या नहीं अलबत्ता, अंत तो पाया जा सकता है। पर प्रतिप्रश्न यह है कि सच्चे दिल से इसका अंत चाहता कौन है, सब चक्कर खाना चाहते हैं। यदि वास्तव में ही सच्चे दिल से भवभ्रमण से मुक्त होने की तमन्ना जग जाए तो यह असंभव नहीं है। हमारे तीर्थंकरों ने इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन किया है। अहिंसा, सत्य, प्रेम, करुणा, मैत्री, प्रामेद..... की साधना भवभ्रमण से मुक्ति का रास्ता है। इस मार्ग पर चलने वाले को दुःख का काम ही नहीं, सदा आनंद-ही-आनंद है।

बंधुओ ! मुझे तो इस बात की बड़ी हंसी आती है कि लोग इस संसार में सुख देखते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि संसार दुःखमय है। किस भी प्राणी ने आज तक इस संसार में कभी सुख पाया नहीं और न भविष्य में कभी कोई पा सकेगा। जो व्यक्ति इस वास्तविकता से परिचित हो जाता है, उसे संसार से विरक्त होते समय नहीं लगता। विरक्त होने का अर्थ हैहफिर वह संसार में भटकता नहीं बहुत जल्दी उसका पार पा लेता है

प्रसंग जैन-रामायण का

प्राचीन काल में यह आम पद्धति रही थी कि बड़े-बड़े राजा और धनकुबेर संसार की वास्तविकता से परिचित होकर एक अवस्था प्राप्त होने के पश्चात संन्यास स्वीकार कर लेते थे। संसार के प्रति उनकी आसक्ति सामान्य हो जाती थी। मुझे जैन-रामायण का एक प्रसंग याद आ रहा है। राजा अपने महल में बैठा केशों को संवार रहा था। महारानी भी वही उपस्थित थी। सहसा महारानी ने चौंकने के अंदाज में कहाहमहाराज ! दूत आ गया।

राजा भी चौंका। उसने नजर घुमाकर चारों तरफ देखा। पर उसे कोई भी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं हुआ। जरा झुंझलाते हुए उसने महारानी से कहाह'तुम क्या स्वप्न में बात कर रही हो। यहां तो कोई भी दूत नहीं आया है। फिर आए भी तो कैसे! महल के दरवाजे पर सशस्त्र पहरेदार खड़े हैं।' महारानी ने कहाहमहाराज ! आप मानें या न मानें पर

दूत तो आ गया हैं। राजा ने सोचा, जब रानी कह रही है तो अवश्य कोई दूत आया होगा। शायद वह बाहर खड़ा होगा, जिससे मुझे दिखाई नहीं दे रहा है। अतः उसने महारानी से कहाकौन दूत आया है? उसे मेरे सामने उपस्थित करो।

राजा के इस निर्देश के साथ ही महारानी ने राजा के सिर से एक सफेद केश उखाड़ा और यह कहते हुए कि यमदूत आ गया है, राजा के हाथ में थमा दिया।

राजा ने मर्म को समझा और वह चिंतातुर हो गया चिंतातुर यह सोचकर नहीं कि बुढ़ापा आ गया है या मौत सन्निकट है, बल्कि यह सोचकर कुल की परंपरा का लोप हो रहा है। अयोध्या के राजकुल की यह परंपरा रही थी कि आज तक जितने भी राजा बने, उन्होंने सफेद केश आने से पूर्व ही संसार को त्याग दिया। सफेद केश के इस निमित्त मात्र से राजा के मन में वैराग्य-भावना जाग्रत हो गई और वह संन्यस्त हो गया।

बन्धुओ! आज की स्थिति तो बड़ी विचित्र है। सफेद केश आने से तो जाग्रत होता ही कौन है, सारे दांत गिर जाने के बाद भी आदमी पुनः शादी करने की बात सोचता है ! पर इसका यह अर्थ नहीं कि विरक्त होनेवालों की सर्वथा नास्तिक है। इस स्थिति में भी कुछ लोग समय-समय पर लोक की वास्तविकता से परिचित होकर उससे विरक्त होते हैं; भव-भ्रमण से मुक्ति की दिशा में प्रयाण हैं। आप भी लोक को समझें, लोक की वास्तविकता को समझें और समझकर श्रेय पथ की ओर अग्रसर होंइसी प्रेरणा के साथ प्रवचन संपन्न करता हूं।

गंगाशहर

१७ जुलाई १९७८

७. सृष्टि क्या है

आकाशास्तिकाय के विवेचन के अंतर्गत लोक का वर्णन कल मैंने किया। लोक के तीन भाग बताए गए हैं—१. मध्यलोक २. ऊर्ध्वलोक ३. अधोलोक।

आपकी जिज्ञासा हो सकती है कि किस-किस लोक में कौन-से प्राणी बसते हैं।

विविधताओं का संगम-स्थल

ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से वैमानिक देवों का प्रवास है। अर्थात् बारह कल्पोपन्न और चौदह कल्पातीत (नौ ग्रेवेयक व पांच अनुत्तर विमान) देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं। ऊर्ध्वलोक के ऊपर सिद्धशिला है।

अधोलोक में सात नरकहरत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा के जीव तथा असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमारहृये दस प्रकार के भवनपति देव रहते हैं।

मध्यलोक में मनुष्य, पक्ष-पक्षी तथा ज्योतिष्क एवं व्यंतर देव रहते हैं। व्यंतर देव भूत, पिशाच, राक्षस आदि हैं यद्यपि वे मध्यलोक में ही हैं, तथापि हमारे से नीचे हैं। जैसाकि मैंने कल बताया था, हम मध्यलोक के बीच में हैं। हमारे से ऊपर नौ सौ योजन तथा नीचे नौ सौ योजन का क्षेत्र है। व्यंतर देव नीचे के नौ सौ योजन के क्षेत्र में रहते हैं। इस सबके अतिरिक्त पांच प्रकार के स्थावर जीव (पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक) समूचे लोक में भरे पड़े हैं। लोक का ऐसा भाग नहीं, जहां स्थावर जीवों का प्रवास न हो।

लोक सर्वत्र विविधताओं से भरा है। कहीं नगर है। कहीं गांव है। कहीं पर्वत है। कहीं समुद्र है। कहीं सूखा है। कहीं हरा-भरा मैदान है।.....

सब कुछ तर्कगम्य नहीं

आप कहेंगे कि एकरूपता क्यों नहीं मैं मानता हूँ कि एकरूपता का अपना महत्त्व है। बगीचे में एक जैसे सैकड़ों पेड़ सुन्दर लगते हैं जो जंगल विभिन्न प्रकार की घासों से ही मनोरम लगता है।

जीवपुद्गलयोर्विविधसंयोगैः स विविधरूपः।

इयं विविधरूपता एव वृष्टिरिति कथ्यते।

लोक में जीव और पुद्गल भरे पड़े हैं जीव और पुद्गल का विविध रूपों में संयोग होना लोक-विविधता का कारण है। यह विविधता सदा से चलती आई और सदा चलती रहेगी। इस विविधता को हम सृष्टि, संसार, जगत या चराचर कहते हैं। आप पूछेंगे कि लोक की यह स्थिति क्यों इस क्यों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। 'क्यों' का उत्तर केवल तर्कसिद्ध बातों का हो सकता है, प्रकृति की बातों का नहीं। यह विविधता प्रकृति की बात है। अब यदि कोई पूछे कि मोर की पांखों में विविध रंग होते हैं, कबूतर की पांखों में सब रंग क्यों नहीं, पुरुष के दाढ़ी और मूँछ होता है, स्त्री के क्यों नहीं तो ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं होता, क्योंकि ये प्रकृतिगत/स्वभावगत बातें हैं। इन्हें हम तर्क से नहीं समझ सकते। तर्क तो कुरेदने के लिए होता है। समझने के लिए श्रद्धा ही महत्त्वपूर्ण है। वैसे तर्क का सर्वथा खंडन नहीं करता। वह भी एक सीमा तक उपयोगी है। पर सभी जगह तर्क नहीं होना चाहिए।

शाश्वत : सीमामुक्त

सृष्टि को समझने के लिए यह भी समझना जरूरी है कि जीव और पुद्गल का संयोग कब हुआ तथा पहले जीव हुआ या पुद्गल।

संयोगश्चापश्चानुपूर्विकः।

इस प्रश्न के समाधान में भगवान ने कहा, जीव और पुद्गल दोनों शाश्वत हैं। इनमें पौर्वापर्य नहीं है। अर्थात् ये दोनों सदा से हैं और सदा रहेंगे। कोई पहले नहीं, कोई पीछे नहीं। शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक प्रश्न आए हैं। आप बताएं, पहले मुर्गी या अंडा ? पहले बीज या वृक्ष ? अंडे के बिना मुर्गी नहीं और मुर्गी के बिना अंडा आया कहाँ से ? बीज के बिना वृक्ष नहीं और वृक्ष के बिना बीज पैदा कैसे हुआ? इन सबका उत्तर 'अपश्चानुपूर्व' है। अर्थात् इनमें पूर्व और अपर का क्रम नहीं

है। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। इस सृष्टि को भी जैन-दर्शन में 'अपश्चानुपूर्व' माना गया है।

विज्ञान मानता है कि मनुष्य से पशु पहले हुए। मनुष्य वनमानुष की संतान है। पर मैं समझता हूँ यह वास्तविकता नहीं है। आप देखें, आज लाखों-लाखों बंदर और वनमानुष हैं। यदि मनुष्य वनमानुष की संतान है तो फिर क्यों नहीं कोई बंदर या वनमानुष मनुष्य उत्पन्न करता ?

वैचारिक सहिष्णुता

कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि सृष्टि को ईश्वर ने पैदा किया है। यहां वही प्रश्न पुनः पैदा होगा कि ईश्वर को किसने पैदा किया यदि कहा जाए कि उसे तो किसी ने पैदा नहीं किया, वह तो शाश्वत है, फिर सृष्टि को ही शाश्वत मानने में क्या आपत्ति है ? लेकिन मैं यह विचार किसी पर थोपना नहीं चाहता। मेरी दृष्टि में धार्मिक व्यक्ति को कभी कोई, ऐसी बात नहीं करनी चाहिए, जो दूसरों को पीड़ा पहुंचाये। अपनी बात दूसरों को दृढ़ता के साथ बताई जाए, इसमें कोई कठिनाई नहीं। पर अपनी बात मनवाने के लिए दबाव डालना, संघर्ष करना किसी दृष्टि से उचित नहीं, क्योंकि धर्म के क्षेत्र में वितंडावाद/लड़ाई-झगड़े को कोई स्थान नहीं है। यहां तो एकमात्र हृदय-परिवर्तन का मार्ग मान्य है। मैं मानता हूँ, धर्म के नाम पर कहीं किसी प्रकार का संघर्ष या लड़ाई-झगड़ा होता है, तो वह समूचे धार्मिक जगत के लिए एक बहुत बड़ा कलंक सिद्ध होता है। हर धर्म के अधिकारियों एवं अनुयायियों को यह सोचना चाहिए कि अपने विचारों में जितने स्वतंत्र हम हैं, उतने ही स्वतंत्र दूसरे भी हैं। इस स्थिति में विरोधी विचारों को सुनकर विवाद करना या संघर्ष करना कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

प्रसंग महात्मा गांधी और कस्तूर बा का

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता-निवारण की बात उठाई। हजारों-हजारों लोगों के विचार उन्होंने बदले। पर अपनी धर्मपत्नी कस्तूर बा को वे समझाने में असफल रहे। गांधीजी ने कहा 'सब अपने विचार रखने में स्वतंत्र हैं' फिर मैं इसकी इस स्वतंत्रता को क्यों छीनूं ?' इसके बावजूद वे कस्तूर बा को समझाने का प्रयास बराबर करते रहे। आखिर समझाते-समझाते वे थक गए, पर कस्तूर बा के विचारों में कोई

परिवर्तन नहीं आया। इस स्थिति में गांधीजी को क्षणिक उत्तेजना आ गई। उन्होंने कहाह 'और सबको अपनी बात समझाना सरल है, पर कस्तूर बा को समझाना कठिन ही नहीं, महा कठिन है।' पर अगले ही क्षण वे संभल गए और बोलेह 'भले कस्तूर बा को मेरी बात समझ में आए या न आए, पर पत्नी के रूप में तो मैं जन्म-जन्मान्तरों तक इसको ही चुनता रहूंगा।'

बन्धुओ! वैचारिक सहिष्णुता का यह सूत्र लोगों को अवश्य अपनाना चाहिए। जब धार्मिक लोग भी छोटे-छोटे विचार-भेदों के लिए संघर्ष करेंगे तो अधार्मिक की तो बात ही क्या ! मैं यह बात किसी संप्रदाय-विशेष को लक्ष्य करके नहीं, अपितु सामूहिक रूप में कह रहा हूं। मेरा निश्चित अभिमत है कि धार्मिक क्षेत्र से यदि यह बुराई समाप्त हो जाए तो धर्म का रूप बहुत अधिक निखार पा सकेगा।

गंगाशहर

१८ जुलाई १९७८

८ : सृष्टिवाद : एक पर्यालोचन

सृष्टि का वर्णन मैंने कल किया। सृष्टि का प्रारंभ कैसे हुआ, इस प्रश्न पर विभिन्न दर्शनों का अलग-अलग अभिमत है। जैसा कि कल बताया गया, कुछ लोग मानते हैं कि सृष्टि ईश्वर द्वारा निमित्त है। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि सृष्टि एक अंडे से पैदा हुई है; और भी अनेक मत इस संबंध में हो सकते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल का विविध रूप में विशेष संयोग ही सृष्टि है और यह संयोग पौर्वापर्यरहित है।

संस्कृत की सुरक्षा करें

किंतु कभी-कभी एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर इतन गहरा असर आ जाता है कि लोग अपनी मूल संस्कृति को भूल जाते हैं और दूसरी संस्कृति के प्रवाह में बहने लगते हैं। जैन-दर्शन की मान्यता है कि प्राणी सुख-दुःख स्वकृत कर्मों के कारण ही प्राप्त करता है। कोई ईश्वर या भगवान किसी को सुख-दुःख नहीं देते। व्यक्ति अपने कृतकर्मों के कारण ही संसार में जन्म-मरण करता है। जिस दिन वह कर्मों की शृंखला को तोड़ देता है, उस दिन वह संसार से मुक्त हो जाता है। पर बहुत से जैन लोग पत्रों में लिखते हैं कि मैं ईश्वर से आपके दीर्घ आयुष्य की प्रार्थना करता हूँ। परमपिता परमेश्वर से अरदास करता हूँ कि आपको सुखी बनाएं। मैं पूछता हूँ, क्या यह जैन-दर्शन की मान्यता के विपरीत नहीं है ? इसी प्रकार बहुत-से जैन व्यापारी में लाभ होने पर कहते हैं कि रामजी राजी हैं। ईश्वर की कृपा है। मैं नहीं समझता, ईश्वर की भी किसी पर अकृपा होती है, वे भी कभी नाराज होते हैं। वास्तव में ईश्वर की भी किसी पर अकृपा होती है, वे भी कभी नाराज होते हैं। वास्तव में ईश्वर तो समदर्शी होते हैं। फिर उनकी कृपा या अकृपा होने की बात का कोई औचित्य नहीं है।

मैं देखता हूँ कि कुछ लोग थोड़ा-सा नुकसान होने पर भगवान को कोसने लगते हैंहहा ! भगवान तुमने बहुत बुरा किया ! मैं मानता हूँ, यह भगवान पर एक प्रकार का झूठा लांछन है। भगवान क्यों कभी किसी का बुरा करेंगे ? भगवान की बात तो बहुत आगे की है, भगवान के सच्चे भक्त भी कभी किसी का बुरा नहीं कर सकते। सारांश यही है कि हमारे सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता में ईश्वर को बीच में लाना उचित नहीं है। जैसा कि मैंने अभी बताया, कुछ लोग सृष्टि को ईश्वरकृत मानते हैं। पर जैन-दर्शन उसे जीव और पुद्गल के विविध प्रकार के संयोग का परिणाम मानता है। लेकिन बहुत-सारे जैन लोग अज्ञानवश या फिर प्रवाहपाती बनकर उसे ईश्वरकृत कह देते हैं। जैन-दर्शन की दृष्टि से यह एक बड़ी भूल हो जाती है। इस संदर्भ में मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि आज तक चाहे आप लोग कुछ भी बोलते, लिखते व सोचते आए हों, पर अब आपको अपनी भाषा, लेखन और चिंतन को बदल देना चाहिए। यदि आप ही अपनी संस्कृति की सुरक्षा नहीं करेंगे तो दूसरों से तो इस बारे में आशा ही कैसे की जा सकती है?

जीव-पुद्गल का संयोग

यह तो आपने जान लिया कि जीव और पुद्गलों के विविध प्रकार के संयोगों के कारण ही सृष्टि है। यह भी जानें कि जीव व पुद्गल का संबंध कितने प्रकार का है।

कर्मशरीरोग्रहरूपेण त्रिविधः ।

उपग्रहःहआहार-वाङ्-मनः-मनः उच्छ्वासनिःश्वासादयः ।

जीव और पुद्गलों का संयोग तीन प्रकार का हैह१. कर्म २. शरीर ३. उपग्रह ।

कर्म जीव जो भी अच्छी या बुरी प्रवृत्ति करता है, उसके प्रतिफल के रूप में जीव के साथ शुभ-अशुभ कर्मों का संयोग होता है।

शरीर संसार का प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयोग है। शरीर के बिना आत्म संसार में टिकती नहीं और आत्मा-विहीन शरीर का कोई मूल्य नहीं होता। आत्मा और शरीर दोनों परस्पर वैसे ही मिले हुए हैं, जैसे दूध और घी, तिल और तेल। यह इस प्रकार का मिलन है, जिसमें मिले हुए दोनों पदार्थ पृथक-पृथक नहीं दिखाई देते।

यद्यपि आत्म और शरीर का भेद करना सहज नहीं है। तथापि असंभव नहीं है। साधन के द्वारा हम **जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः** सूत्र का साक्षात् कर सकते हैं मैं मानता हूँ, जब तक इस सूत्र का साक्षात् नहीं होता, तब तक साधना में निखार नहीं आता। जिस दिन यह प्रत्यक्ष हो जाता है, उस दिन साधक एक विशिष्ट भूमिका में प्रवेश कर जाता है।

यद्यपि शरीर पुद्गलों से बना है, जड़ है, फिर भी वह आत्मा का अत्यंत उपकारी है। उसी के माध्यम से आत्मा कर्मों की जंजीर को तोड़ने में समर्थ होती है शरीर को भी आत्मा के साथ जुड़ने में लाभ है। आत्मा संबद्ध होने के कारण ही उसकी प्रतिष्ठा है। अन्यथा उसकी कीमत मिट्टी से अधिक नहीं है। संस्कृत कवि ने कहा है **गजाननं पूजयता जनेन किं न पूज्यते यानममुष्यमूषकः?** गणेशजी की पूजा करनेवाले को चूहे की पूजा भी करनी पड़ती है। क्यों? यह इसलिए कि चूहा गणेशजी का वाहन है। केवल चूहे को कौन पूछता है? पर गणेशजी के साथ जुड़ जाने से वह भी पूजा जाता है, सम्मान पाता है। यही बात आत्मा के साथ जुड़ जाने से शरीर की है। आत्मा से संपृक्त हो जाने के कारण ही वह महत्त्व पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें आत्मा और शरीर दोनों के महत्त्व को समझना चाहिए।

उपग्रह

उपग्रह का वाच्यार्थ है उपकरण। जीवन जीने के लिए आत्मा और शरीर के अतिरिक्त भी प्राणी को अन्य सैकड़ों प्रकार की पौद्गलिक वस्तुओं का संग्रह करना पड़ता है। ये उपकरण कहलाती हैं। आहार, वाणी, मन, श्वासोच्छ्वास आदि सब उपकरण हैं। इनके बिना सृष्टि का क्रम नहीं चलता।

हालांकि इन उपकरणों का संयोग-वियोग सृष्टि में चलता रहता है, फिर भी हमें तत्त्वतः स्वीकार करना होगा कि ये सारे संयोग त्याज्य हैं। यदि हम वियोग नहीं चाहते हैं तो हमें संयोग को छोड़ना होगा। जब तक संयोग नहीं छूटता, तब तक वियोग को न चाहने का कोई अर्थ नहीं है। हम मरना नहीं चाहते हैं तो हमें जन्म से छुटकारा पाना होगा। पर जब तक जन्म चालू है, तब तक मौत को चाहे-अनचाहे स्वीकार करना ही होगा। हम दुःख नहीं चाहते हैं तो हमें सुख-सुविधा को छोड़ना होगा। सुख से दुःख जुड़ा हुआ है। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख

का क्रम उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार रात के पीछे दिन और दिन के पीछे रात।

दुःख भी उपयोगी है

मैं तो इस संदर्भ से जरा हट कर यह भी कहना चाहता हूँ कि आदमी को दुःख सहने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। यानी प्रतिस्रोत में बहने का अभ्यास रखना चाहिए। कुंती ने वरदान मांगा कि मुझे दुःख प्राप्त होता रहे। दुःख क्यों चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर में कुंती ने कहा कि सुख होगा तो मैं आपको (भगवान को) भूल जाऊंगी। परंतु दुःख में कभी नहीं भूलूंगी। इसके साथ ही दूसरी बात यह भी है कि दुःख व्यक्ति की कसौटी है। कौन व्यक्ति कितना सहनशील एवं मजबूत है, इसकी परीक्षा सुख में नहीं, दुःख में ही हो पाती है।

बंधुओ ! सचमुच जो व्यक्ति प्रतिस्रोत में बहने की तैयारी कर लेता है, वह दुःख का पार पा लेता है। अनुकूलता और अनुस्रोत में तो सभी लोग बहते ही हैं, पर जो प्रतिकूलता, दुःख और प्रतिस्रोत में भी अपनी समता को खंडित नहीं होने देता, वह सचमुच ही महान है। मैं इसे साधना की कसौटी मानता हूँ। यह बात मैं केवल शब्दों से नहीं, अपितु अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। अनुभवरहित शाब्दिक उपदेश का मेरी दृष्टि में बहुत मूल्य नहीं है। संतों की वाणी लोग इसीलिए तो सुनना चाहते हैं और इसीलिए वह असरमारी होती है किंतु संत जो-कुछ उपदेश देते हैं, उसे पहले अपने जीवन में प्रयोग कर अनुभव करते हैं। उनकी वाणी अनुभव की वाणी होती है।

मैंने भी अपने जीवन में दुःख में सम रहने के प्रयोग किए हैं। आप पूछेंगे, क्या आपके जीवन में भी दुःख आता है मैं पूछता हूँ, दुःख किसी जीवन में नहीं आता? दुःख सभी के जीवन में आता है। अलबत्ता इतना अवश्य है कि सामान्य आदमी जहां दुःख से घबरा जाता है, अपना संतुलन खो बैठता है, वहीं साधकपुरुष अपने-आपको संतुलित रखने का प्रयास करता है, हंसते-हंसते दुःख को लांघ जाता है। हां, तो मैंने प्रतिकूलता में सम रहने का प्रयास किया है। इस प्रयास में मैं बहुत-बार उत्तीर्ण रहा हूँ तो कभी-कभी अनुत्तीर्ण भी रहा हूँ। साधक को अपनी कमजोरी स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। साधक का अर्थ ही है कि वह अपूर्ण है। यदि अपूर्ण न हो तो साधना की अपेक्षा ही क्यों?

निर्माण के लिए सहन करना जरूरी है

मैं मानता हूँ कि एक दृष्टि से कष्ट जीवन के लिए बहुत लाभप्रद है, क्योंकि कष्ट में आदमी का पुरुषत्व निखरता है। हम इस तथ्य को कभी न भूलें कि सोना आग में तपकर ही कुंदन बनता है। पर आज तो स्थिति बड़ी विचित्र है। आदमी अपने मन के विपरीत जरा-सी बात भी समभावपूर्वक सहन नहीं कर पाता। तत्काल उसकी आंखें लाल हो जाती हैं, चेना तमतमाने लगता है। वह अपना आपा खो बैठता है। आप टटोलें अपने-आपको। क्या यह वास्तविकता नहीं है? इस संदर्भ में मेरी तो निश्चित मान्यता है कि जब तक व्यक्ति सहन करना नहीं सीखता, उसका निर्माण नहीं होता। निर्माण उसी का होता है, जो चोट सहन करता है। स्खलन करने पर मैं अपने शैक्ष मुनियों को टोकता हूँ, सावधान करता हूँ। इसके साथ ही मैं उनके चेहरों को भी पढ़ता रहता कि साधु ने मेरे अनुशासन का मन से सहन किया है, किसने केवल वाणी से सहन किया है और किसनी मन व वाणी दोनों से ही सहन नहीं किया है। इस अध्ययन के आधार पर मैं परीक्षा कर लेता हूँ कि कौर होनहार है, कौन कम होनहार है और कौन कच्चा घड़ा रहनेवाला है। तत्त्व यही है कि जीवन-निर्माण के लिए हर व्यक्ति की कड़ी चोट हंसते-हंसते सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।

मैं उपग्रह के बारे में बता रहा था और चलते-चलते कहां का कहां पहुंच गया ! अब मैं पुनः अपने मूल विषय पर लौटता हूँ। जीव को अपने जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों को चलाने के लिए विभिन्न रूपों में पुद्गलों को स्वीकार करना होता है। खना, पीना, बोलना, चिंतन करना आदि सभी क्रियाओं में पुद्गलों को अनिवार्य रूप में ग्रहण करना होता है।

लोक की स्थिति

लोक को सभी दृष्टियों से समझने के लिए हमें यह समझना भी जरूरी है कि लोक की स्थिति कहां है और वह किस पर टिका हुआ है। कुछ लोग संसार को शेषनाग के फन पर टिका हुआ मानते हैं। दूसरा मान्यता के अनुसार वह बैल के सींग पर अवस्थित है। और भी अनेक मान्यताएं इस सम्बन्ध के प्राप्त होती हैं। इस बारे में जैन-दर्शन क्या कहता है यह प्रश्न है। सभी लोगों को इस प्रश्न का समाधान ख्याल में रखना चाहिए।

चतुर्धा तत्स्थितिः ।

यथा आकाशप्रतिष्ठितो वायुः वायुप्रतिष्ठित उदधिः उदधि-
प्रतिष्ठिता पृथिवी, पृथिवीप्रतिष्ठिताः त्रसस्थावराः जीवाः ।

सबसे पहले आकाश है। आकाश वायु अवस्थित है। वायु के दो प्रकार हैं—सघन वायु और तरल वायु। तरल वायु से तो आप सब परिचित हैं, पर सघन वायु से संभवतः सभी लोग परिचित न हों। आप देखें, कोटरों, टूकों आदिह के टायरों में जो वायु होता है, वह सघन वायु का एक उदाहरण है। सघन वायु इतनी ताकतवर होती है कि टनों वजन उसके सहारे उठाया जाता है।

सघन वायु का प्रयोग

पिछले दिनों मैं जैन विश्वभारती में प्रवास कर रहा था। उस समय वहां एक व्यक्ति आया और उसने सघन वायु का एक प्रयोग दिखाया। उसने एक जीप गाड़ी अपने छाती के ऊपर से निकालने के लिए सामने खड़ी कर दी और वह स्वयं जमीन पर लेट गया। उपस्थित लोगों को बड़ा डर लगा कि कहीं इसके फेफड़े चूर-चूर न हो जाएं। पर लोगों के आश्चर्य का तब ठिकाना नहीं रहा, जब जीप के निकलने के पश्चात वह व्यक्ति तत्काल ,खड़ा हो गया। वास्तव में बात यह थी कि उसने अपने फेफड़ों में वायु को सघन रूप में भर लिया था। इसी प्रकार सघन वायु के और भी अनेक उदाहरण देखने को मिल सकते हैं।

हां, तो मैं बता रहा था कि आकाश के ऊपर वायु (सघन) और वायु उदधि टिका हुआ है। (उदधि के सभी सघन और तरलद्वये दो प्रकार हैं।) उदधि पर पृथ्वी और पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीव अवस्थित हैं।

वायु पर उदधि कैसे टिकता है

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि वायु पर उदधि कैसे टिका हुआ है यह कोई असंभव बात नहीं है वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किए हैं। एक ट्यूब को हवा से बिलकुल सघन रूप में भर दिया। फिर एक रस्सी के द्वारा उसे मध्य भाग से इस प्रकार कस कर बांध दिया कि नीचे की वायु बिलकुल ऊपर न आ सके। अब उसका ऊपर का मुंह खोल दिया और उसमें जल भर दिया। जब भरने के पश्चात वह बीच की रस्सी हटा ली गई। प्रयोग में देखा गया कि वह पानी नीचे के भाग में बिलकुल नहीं गया। क्या आप बता सकते हैं,

ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण यही है कि नीचे सघन वायु है। सघन वायु पर पानी टिक गया। इस प्रयोग से यह बात बिलकुल अच्छे ढंग से समझ में आती है कि वायु पर उदधि टिका हुआ है।

लोक की स्थिति का संक्षिप्त विवेचन मैंने प्रस्तुत किया। अब संक्षेप में अलोक को भी समझा लें।

शेषद्रव्यशून्यमाकाशमलोकः ।

जहां आकाश के अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य है, वह क्षेत्र अलोक है। लोक की अपेक्षा अलोक बहुत अधिक बड़ा है। पर जीव और पुद्गल के अभाव में उसकी हमारे लिए कोई उपयोगिता नहीं है।

बन्धुओ! तत्त्व का अपना महत्त्व है। इसकी महत्ता को समझ कर आप लोगों को ये तात्त्विक बातें हृदयंगम करनी चाहिए। इससे आपका ज्ञान तो विकसित होगा ही, साथ ही आपको साधना-पथ पर आगे बढ़ने में भी बहुत सहयोग मिलेगा।

गंगाशहर

१९ जुलाई १९७८

९ : पुद्गल का स्वरूप

तात्त्विक विवेचना के अंतर्गत धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकायहइन तीनों द्रव्यों का प्रतिपादन मैं कर चुका हूँ। इसी क्रम में आज पुद्गलास्तिकाय के विषय में कुछ कहूँगा।

स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः ।

स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त द्रव्य पुद्गल है। यह जैन-दर्शन का एक पारिभाषित शब्द है। अन्य किसी दर्शन में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। स्पर्श, रस आदि के प्रकार निम्नांकित रूप में हैं

स्पर्शहृत्कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

रसहृत्तक्त, कटु, कषाय, आम्ल, मधुर।

गंधहृत्सुगंध, दुर्गंध।

वर्णहृत्कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत।

यह कभी संभव नहीं कि पुद्गल में स्पर्श तो हो और रस न हो, रस तो हो और गंध न हो, गंध तो हो और वर्ण न हो। निष्कर्ष यह है कि पुद्गल होगाक तो ये चारों अनिवार्य रूप से होंगे। यह दूसरी बात है कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण कहीं हमें दिखाई देते हैं, और कहीं नहीं भी। पर इससे उनकी सत्ता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगता। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की तो बात दूर की है, बहुत-से पुद्गल स्वयं इतने सूक्ष्म होते हैं, जिन्हें हम कोरी आंखों से नहीं देख सकते।

सूक्ष्म पुद्गल

प्राचीन समय में चूल्हे का धुआं बाहर निकालने के लिए रसोईघर में कई छोटे-छोटे छिद्र बनाए जाते थे। आजकल भी कहीं-कहीं ऐसे रसोईघर देखने को मिलते हैं। उनमें से होकर सूर्य-रश्मियां रसोईघर में आती हैं उन सूर्य-रश्मियों में सैकड़ों-हजारों करण तैरते हुए दिखाई देते

हैं पर जब उन्हें पकड़ने का प्रयास किया जाता तो वे हाथ में नहीं आते। पुद्गलों की सूक्ष्मता का एक स्थूल उदाहरण है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से तो वे रजकरण बहुत बड़े हैं। इनसे भी बहुत सूक्ष्म पुद्गल होते हैं।

पुद्गल या पुद्गलास्तिकाय के लिए हम अणु शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर इसके स्थान पर परमाणु शब्द का प्रयोग गलत हो जाएगा। इसलिए बोलचाल तथा लिखने में हमें यह सावधानी रखनी चाहिए। अज्ञानवश लोग बहुधा यह भूल कर बैठते हैं।

इस संसार में सर्वत्र पुद्गलों का एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ है। हम खाते हैं, पीते हैं सोचते हैं, श्वासोच्छ्वास करते हैं..... इन सब क्रियाओं में हम पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। पुद्गल न हों तो न हमारा खना है, न पीना है, न बोलना है, न चिंतन-मनन है, न श्वासोच्छ्वास है और न कोई अन्य क्रिया ही। दूसरे शब्दों में पुद्गलों के बिना हमारा इस संसार में कोई अस्तित्व ही नहीं है।

शरीर जीव है या अजीव

हमारा शरीर भी पुद्गल है। शरीर को पुद्गल सुनकर शायद आपके दिमाग में यह बात आ सकती है कि आचार्यश्री के कथन में यह विसंगति क्यों कुछ दिन पूर्व तो एक प्रसंग में शरीर को जीव बताया गया था और आज इसे पुद्गल बताया जा रहा है। पर आप चौंके नहीं। यह कोई विसंगति नहीं है। केवल अपेक्षाभेद है। मैंने शरीर को जीव अवश्य कहा था, वह पुद्गल नहीं है। वास्तव में जब मैं कहता हूँ कि शरीर जीव है तो उसके पीछे अपेक्षा हैहसजीव पुद्गल की। यानी शरीर सजीव पुद्गल है।

एक भ्रान्ति का निवारण

पुद्गल सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के होते हैं। जैन मुनि केवल अचित्त पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, सचित्त को नहीं। गृहस्थों में भी कुछ-कुछ लोगों को सचित्त पुद्गलों को खाने का त्याग होता है। इसलिए से सचित्त पुद्गलों को अचित्त बनाकर उनका उपयोग करते हैं। इस संदर्भ में कुछ लोगों का तर्क है कि जब सचित्त को अचित्त करके उनका उपयोग किया जाता है, तब सजीव खाने में क्या आपत्ति है, सचित्त का यह त्याग क्या मात्र विडंबना नहीं है मैं मानता हूँ, यह एक गहरी भ्रान्ति है। जो लोग इस प्रकार सोचते हैं, वे सचित्त का त्याग

करना एवं सचित्त को अचित्त बनाकर खानाहइन दोनों बातों को एक सकर देते हैं। वास्तव में त्याग करना एक बात है और सचित्त को अचित्त बना कर खाना सर्वथा दूसरी। त्याग करनेवाले के लिए यह कोई प्रतिबन्ध नहीं कि वह सचित्त को अचित्त बनाकर खाए ही। जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया, हम मुनियों को सचित्त का त्याग है, पर हम सचित्त को अचित्त कभी नहीं बनाते। मात्र सहजरूप में गृहस्थों के घेरों से प्राप्त अचित्त पुद्गलों से अपना काम चलाते हैं। कुछ गृहस्थ भी ऐसे होते हैं, जो सचित्त का त्याग रखते हैं, फिर भी सचित्त को अचित्त बनाकर नहीं खाते। आप कहेंगे, फिर क्या वे भी आपकी तरह भिक्षा करते हैं नहीं, भिक्षा करने की उनहें क्या अपेक्षा है? आप लोगों को खयाल रखना चाहिए कि बहुत-सी वस्तुओं को तो गृहस्थों को बिना त्याग भी अचित्त करना पड़ता है। रोटी, चावल, दाल, शाक, भाजी अनेकानेक वस्तुएं सहज रूप में अचित्त बनाई जाती है। त्याग से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर बहुत सही तो यह है कि खाने के काम आनेवाली चीजों में से सचित्त रूप में तो बहुत कम वस्तुएं उपयोग में आती हैं। अधिकतर तो अचित्त रूप में ही उपयोग में आती हैं। सचित्त के त्याग करनेवाला व्यक्ति केवल सहजनिष्पन्न अचित्त वस्तुओं में संतोष करे, यह सबसे अच्छी बात है। पर यदि सचित्त का त्याग करनेवाला कोई अपनी दुर्बलता के कारण सचित्त वस्तुओं को अचित्त करके खाता भी है तो उसके सचित्त के त्याग का कोई भंग नहीं है। अलबत्ता, इसे धर्म नहीं माना जा सकता। धर्म तो त्याग है, भोग नहीं।

प्रसंगवश मैंने यह बात स्पष्ट कर दी है। यद्यपि मैं विषयान्तर हो गया हूं, तथापि प्रसंग आने पर ऐसी बातों का स्पष्टीकरण कर देना उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है।

छह द्रव्यों में पुद्गल का विवेचन सर्वाधिक विस्तीर्ण है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। हमारे ये आठ कर्म भी पुद्गल ही हैं। एक-एक कर्म से अनन्त-अनन्त पुद्गल जुड़े हुए हैं। पता नहीं कब छुटकारा होगा इन कर्मों से! कर्मों से छुटकारा पाने के लिए पुरुषार्थ की अपेक्षा है। पर सामान्य पुरुषार्थ अपेक्षित है, क्योंकि ये कर्म-पुद्गल कोई एक-दो जन्मों से नहीं, अपितु अनन्त-अनन्त काल से हमारे पीछे लगे हुए हैं। परन्तु एक बात अवश्य है। गहराई में उतरकर यदि आप देखेंगे तो पाएंगे कि ये जबरदस्ती हमारे पीछे नहीं लगे हुए हैं। हमने ही इन्हें आमंत्रण देकर

बुलाया है, इनका स्वागत किया है और उनको अपने पीछे लगाया है। इसलिए हमें कर्मों पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। फिर दोषारोपण करने से कुछ बनेगा भी नहीं। बस, अपेक्षा यही है कि हम अपने-अपको संभालें। स्वयं को संभालने का अर्थ है अपने जीवन को संवर और निर्जरा से भवित करना।

गंगाशहर

२२ जुलाई १९७८

१० : पुद्गल के लक्षण

कल के प्रवचन में मैंने पुद्गल की चर्चा की थी। जैसा कि कल स्पष्ट किया था, यह जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त द्रव्य को पुद्गल माना गया है। आज हम इसके व्युत्पत्तिलभ्य शाब्दिक अर्थ को भी समझें।

पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गल इति।

जिसमें पूरणहणकीभाव और गलनहणपृथग्भाव दोनों होते हैं, वह पुद्गल है। यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य शाब्दिक अर्थ है।

आप देखें, इस पण्डाल में रेत बिछी है। कोई व्यक्ति यहां से थोड़ी रेत उठाता है और उसे दूसरी जगह डाल देता है। जहां से रे उठाई जाती है, वहां गढ़ा हो जाता है और जहां रेत डाली जाती है, वह ढेर बन जाता है। यह कार्य पुद्गल ही कर सकता है। पुद्गल के सिवाय कोई अन्य द्रव्य ऐसा सकरने में सक्षम नहीं है। आज किसी ने ऑपरेशन करवाया। आठ इंच लम्बा, दो इंच चौड़ा और तीन इंच गहरा घाव हो गया। यह घाव कैसे हुआ? वहां से मांस के रूप में एकत्रित पुद्गलों के निकल जाने के कारण। एक महीने बाद वह घाव भर जाता है। यदि वहां बहुत-से दूसरे पुद्गल आकर जमा हो जाते हैं। यह खाली करना और पुद्गल भरना का ही स्वभाव है।

इसके अतिरिक्त पुद्गल के और भी अनेक लक्षण/धर्म बताए गए हैं।

शब्द-बन्ध-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतप्रभावांश्च।

संहन्यमानानां भिद्यमानानां च पुद्गलानां ध्वनिरूपः परिणामः शब्दः। प्रायोगिको वैस्रसिकश्च। प्रयत्नजन्यः प्रायोगिकः हभाषात्म-कोऽभाषात्मको वा। स्वभावजन्यो वैस्रसिकः हमेघादिप्रभवः।

शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतम, उद्योत, प्रभा आदि पुद्गल के लक्षण धर्म हैं। ये सब पुद्गल के विभिन्न पर्याय हैं।

शब्द

शब्द से आप सगब परिचित हैं। पर यह क्यों होता है, कैसे होता है आदि प्रश्न संभवतः बहुत-से लोगों के लिए अनुत्तरित हैं। दो वस्तुओं के संघात या भेद से उत्पन्न ध्वनि का नाम शब्द है। आप अपने कमरे और खिड़की के दरवाजे बंद करते हैं तो आवाज होती है। यह आवाज क्यों? यह इसलिए कि दो कपाटों का परस्पर संघात होता है। इसी प्रकार जब आप दरवाजे खोलते हैं, तब भी आवाज होती है। यह ध्वनि इसीलिए है कि दो कपाट अलग-अलग हो रहे हैं। दरवाजे ही क्यों, कोई दो वस्तुओं का संघात या भेद होता है तो ध्वनि अवश्यंभावी है।

शब्द के दो प्रकार हैं१. प्रायोगिक शब्द २. वैस्रसिक शब्द।

प्रायोगिक शब्द

प्रयत्नजन्य शब्द। यानी जिस शब्द के होने में किसी का प्रयत्न लगता है, वह प्रायोगिक है। प्रायोगिक शब्द के दो प्रकार हैं१. भाषात्मक २. अभाषात्मक। भाषा-युक्त शब्द को भाषात्मक कहा जाता है। अभी मैं प्रवचन कर रहा हूँ, यह भाषात्मक शब्द है। बिना भाषा का शब्द अभाषात्मक कहलाता है। किसी ने ताली बजाई। शब्द हुआ। पर यह शब्द भाषारहित है, इसलिए अभाषात्मक है।

वैस्रसिक शब्द

अप्रयत्नजन्य शब्द। सहजरूप से अर्थात् अपने-आप होनेवाला शब्द। आप यह कभी न समझें कि सभी शब्द प्रयत्नपूर्वक होते हैं। बहुत-से शब्द सहज रूप से भी होते हैं। आकाश में गर्जना होती है। यह स्वाभाविक ध्वनि है। किसी ने बादलों को इकट्ठा नहीं किया। सहज रूप से बादल आपस में टकराए और ध्वनि पैदा हो गई।

अथवा जीवाजीवमिश्रभेदादयं त्रेधा।

शब्द के तीन भेद भी किए जा सकते हैं१. जीवशब्द २. अजीवशब्द ३. मिश्रशब्द।

जीव द्वारा किया गया शब्द जीव शब्द है। पक्षी चहकते हैं, कुत्ता

भौकता है, आदमी बोलता है। ये सब जीवशब्द के उदाहरण हैं।

अजीव के द्वारा होनेवाला शब्द। अजीवशब्द है। जैसे, मेघ-गर्जन इत्यादि।

जीव और अजीव दोनों के योग से होनेवाला शब्द मिश्रशब्द है। जैसे, एक व्यक्ति वीणा बजा रहा है। यहां व्यक्ति जीव है और वीणा अजीव। शब्द दोनों के योग से होता है। अकेले व्यक्ति या अकेली वीणा से शब्द उद्भूत नहीं होता।

शब्द आकाश का युग नहीं

जैसा कि मैंने पहले बताया, जैन-दर्शन के अनुसार शब्द पुद्गल का लक्षण है। कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। इसके पीछे उनका तर्क यह है कि शब्द आकाश में होता है। ठीक है, शब्द आकाश में होता है। पर आकाश में होने मात्र से वह आकाश का गुण नहीं हो सकता। आकाश में तो गति भी होती है। यदि आकाश में होने मात्र से शब्द आकाश का गुण हो तो गति को भी आकाश का गुण मानना चाहिए। परंतु ऐसा नहीं माना जाता। अतः उनके उपर्युक्त तर्क का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात और है

*मूर्त्तौऽयं नहि अमूर्त्तस्य आकाशस्य गुणो भवति श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात्,
न च श्रोत्रेन्द्रियममूर्त्तं गृह्णाति इति।*

शब्द मूर्त्त है। इसलिए वह अमूर्त्त आकाश का गुण नहीं हो सकता। जो जिसका गुण होता है, वह सदा उसके समान ही होता है, उसका विरोधी नहीं हो सकता। पूछा जा सकता है, शब्द मूर्त्त है, इसका क्या प्रमाण है। यदि मूर्त्त न हो तो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उसका कभी ग्रहण नहीं हो सकता। यह उसकी मूर्त्तता का सबसे पुष्ट प्रमाण है। अमूर्त्त को आंखें कभी नहीं देख सकतीं। कई लोग कभी-कभी कह दिया करते हैं कि हमने साक्षात् भगवान के दर्शन किए। मैं समझता हूं, उनको दर्शन नहीं, भ्रांति होती है, क्योंकि भगवान तो निरंजन-निराकार हैं। फिर वे आंखों के विषय कैसे बनेंगे? यही बात शब्द के विषय में है। शब्द यदि अमूर्त्त होता तो वह कानों के द्वारा कैसे सुना जाता।

शब्द-प्रयोग का विवेक

शब्द कोमल और कठोर दोनों प्रकार के होते हैं। हम प्रत्यक्ष

अनुभव करते हैं कि कुछ शब्द व्यक्ति को कर्णप्रिय लगते हैं, तो कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जो सर्वथा कर्णकटु होते हैं। बोलता कौवा भी है और बोलती कोयल भी है। पर दोनों के शब्दों में रात-दिन का अंतर है। कोयल की बोली सुनते-सुनते मन कभी अघाता नहीं, बल्कि कहना चाहिए कि उसे बार-बार सुनने की इच्छा होती है। इसके विपरीत यदि कौवे की बोली जरा भी कान में पड़ जाती है तो मन में आता है कि यह न बोले तो अच्छा। यह अंतर और कुछ नहीं, मात्र मधुर और कर्कश, शब्द-पुद्गलों का है। कवि ने कितना सुंदर कहा है—

कागा कासे लेत है, कोयल काको देत।

मीठे शब्द-प्रयोग से, जग अपनो कर लेत॥

मैं मानता हूँ, शब्दों का प्रयोग करना एक बहुत बड़ी कला है। इसके परिणाम बहुत गहरे होते हैं। जहां मधुर भाषण से व्यक्ति जन-जन के मन को जीत लेता है, वहीं कटु शब्दों के प्रयोग के कारण वह अपने दुश्मन या विरोधी खड़े कर लेता है।

मनुष्य की यह सहज मनोवृत्ति होती है कि वह मधुर शब्द सुनना चाहता है। कटु शब्द उसे अप्रिय लगता है। मैं तो मानता हूँ कि व्यावहारिक जीवन की आवश्यकता का एक बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण सूत्र है—मधुर भाषण। कहा तो यहां तक गया है—**सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।** अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो ऐसा सत्य भी मत बोलो, जो अप्रिय हो।

आप देखें, सत्य भी अप्रिय है तो उसे बोलने का निषेध किया गया है। वास्तव में यह एक बहुत गहरी बात है। अंधे को अंधा कहना असत्य नहीं, पर अप्रिय वचन अवश्य है। इसलिए उसे यदि अंधा कहा जाता है तो वह कष्ट का अनुभव करता है। उसी व्यक्ति को अंधा न कहकर सूरदास कहा जाए तो उसे अप्रिय नहीं लगता। आप कहेंगे, बात तो एक ही है, केवल शब्दों का अन्तर है। यही हतो मैं बताना चाहता हूँ कि एक बात होते हुए भी मधुर शब्द और कर्कश शब्द के प्रयोग का अन्तर पड़ जात है। मैं नहीं समझता, जब अमृत देने से काम चलता है, तब किसी को जहर क्यों दिया जाए, जब मधुर शब्दों से हमारा काम आसानी से चलता है, फिर कठोर शब्दों का प्रयोग क्यों किया जाए।

शास्त्रार्थ का उद्देश्य

तत्त्व यह है कि जहां तक बन सके व्यक्ति को कठारे शब्दों के प्रयोग से परहेज करना चाहिए। यद्यपि सामान्य व्यक्ति के लिए यह थोड़ा कठिन तो हो सकता है, तथापि जीवन की शान्ति के लिए यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए मैं कहना चाहता हूं कि चाहे कोई अपना विरोधी भी क्यों न हो, उसके साथ भी कभी कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। विचार-भेद किसी से भी हो सकता है। पर विचार-भेद के कारण किसी पर कटु शब्दों से प्रहार करना मेरी दृष्टि में कदापि उचित नहीं है। मैं इसमें एक प्रकार की हिंसा के दर्शन करता हूं। प्राचीनकाल में परस्पर शास्त्रार्थ होते थे। उन शास्त्रार्थों में दोनों ही पक्षों द्वारा अपने-अपने विरोधी पक्ष पर कटु और आक्षेपात्मक भाषा का प्रयोग होता था। फिर कभी-कभी तो यह कटु और आक्षेपात्मक भाषा इस सीमा तक पहुंच जाती थी कि परस्पर भयंकर संघर्ष होने लगता। आजकल भी ऐसे शास्त्रार्थ कहीं-कहीं चहते हैं। वस्तुतः शास्त्रार्थ कोई बुरा तत्त्व नहीं है, अपितु कहना चाहिए कि बहुत लाभप्रद है, बशर्ते कि वह ज्ञानार्जन की भावना के साथ जुड़ा हो। पर जहां जय-पराजय की भावना उसके साथ जुड़ जाती है, वहां ज्ञानार्जन एवं सद्भाव के स्थान पर दुर्भाव और कलह ही बढ़ता है।

मेरी दृष्टि में जय और पराजय बहुत महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व हैज्ञान देने और ज्ञान लेने का। जहां यह उद्देश्य फलित होता है, वहां शास्त्रार्थ करने में कोई आपत्ति नहीं। पर जहां यह उद्देश्य गौण होकर जय-पराजय की भावना प्रमुख हो जाती है, वहां शास्त्रार्थ न करना ही श्रेयस्कर है। मुझे लगता है, शास्त्रार्थ के साथ आमतौर पर यह भावना बन ही जाती है, इसलिए मैंने शास्त्रार्थ करना लगभग बंद कर दिया है। हां, ज्ञानार्जन की दृष्टि से कोई तत्त्व-चर्चा करे तो उसमें मुझे किंचित भी कठिनाई नहीं है।

गंगाशहर

२३ जुलाई १९७८

११ : पुद्गल की विभिन्न परिणतियां

कल के प्रवचन में मैंने शब्द की विस्तृत चर्चा की। आज पुद्गल के दूसरे लक्षण बंध से प्रवचन प्रारम्भ कर रहा हूँ।

संश्लेषःह्रबन्धः। आयमपि प्रायोगिकः सादिः, वैस्रसिकस्तु सादि-रनादिश्च।

बंध का अर्थ हैह्रसंश्लेष संयोग, अर्थात् दो, चार, पांच, दस, सौ पुद्गलों का परस्पर मिल जाना बंध कहलाता है। इसके दो प्रकार हैंह्र१. प्रायोगिक बंध। २. वैस्रसिक बंध।

कपड़े के दो टुकड़ों को सिलाई कर जोड़ दिया गया, दो कपाटों को मिला दिया गया। यह प्रायोगिक बंध है। आकाश में बादलों की घटा का बनना, मिट्टी के लाखों-करोड़ों कणों का मिलकर पत्थर बन जाना..... वैस्रसिक बंध है, क्योंकि ये सहज बनते हैं। इन्हें बनाने का किसी के द्वारा कोई प्रयास नहीं किया जाता।

संश्लेष सादि है या अनादि

प्रायोगिक बंध और वैस्रसिक बंध के सैकड़ों-हजारों उदाहरण बताए जा सकते हैं पूछा जा सकता है कि ये बंध सादि हैं या अनादि। प्रायोगिक बंध कभी अनादि नहीं होते हैं वे सदा सादिह्रप्रारंभसहित होते हैं। उनके बनने की तिथि, वार आदि सब कुछ होते हैं। आपके गंगाशहर में हजारों मकान हैं। ये मकान प्रायोगिक बन्ध ही हैं। उनके निर्माण की तिथि, वार, संवत् आदि सब प्राप्त हो सकते हैं। यानि ये सादि हैं। ये कारें, बसें आदि सब सादि हैं। इस संदर्भ में एक बात और ध्यान में लेने की है कि जो सादि होता है, वह सांत भी होता है। अर्थात् जिसका प्रारंभ है, उसका अंत भी निश्चित है। प्रायोगिक बंध सादि है, इसलिए वह सांत भी है।

वैस्रसिक बंध सादि भी है और अनादि भी। जैसा कि मैंने बादलों की घटा का उदाहरण दिया था, यह सादि बंध है। इसी प्रकार आकाश में इंद्रधनुष बनता है, यह भी सादि है। ये बनते हैं और नष्ट होते हैं। पृथ्वी, पहाड़ आदि अनादि वैस्रसिक बंध हैं, क्योंकि इनकी आदि नहीं होती है। जीव और कर्म (पुद्गल) का बंधन अनादि है।

पुद्गल की विभिन्न परिणतियां

हमें यहां यह बात समझनी है कि बंध चाहे प्रायोगिक हो या वैस्रसिक सादि हो या अनादि, सब पुद्गलों के होते हैं। पुद्गल के सिवाय और किसी द्रव्य का यह लक्षण नहीं है। इसलिए बंध पुद्गल की एक पहचान है।

सौक्ष्म्य के दो प्रकार

सौक्ष्म्य और स्थूल्य भी पुद्गल के लक्षण हैं। ये दोनों ही पुद्गल की परिणतियां हैं। सूक्ष्मता और स्थूलता से आप सभी परिचित हैं। दो सगे भाइयों में से एक का शरीर स्थूल हो सकता है और दूसरे का कृश। इस प्रत्यक्ष देखते हैं कि स्थूलता के कारण जहां कई व्यक्तियों का वजन सौ किलो से भी अधिक हो जात है, वहीं कृशता के कारण अनेक व्यक्ति चालीस किलो से कम के ही रह जाते हैं। पत्थर भारी होता है, लकड़ी उससे हलकी होती है भारीपन और हलकापन ह्ये दोनों स्थियां स्थूलता और सूक्ष्मता के कारण ही हैं।

सौक्ष्म्य द्विविधम्ह्रअन्त्यमापेक्षिञ्च। अन्त्यं परमाणोः आपेक्षिकं यथाहनालिकेरापेक्षया आम्रस्य।

सौक्ष्म्य के दो प्रकार हैंह्र१. अंत्य सौक्ष्म्य २. आपेक्षिक सौक्ष्म्य।

अंतिम सूक्ष्म को अंत्य सौक्ष्म्य कहा जाता है। दूसरे शब्दों में वह सूक्ष्म पूद्गल, जिसे फिर खंडित न किया जा सके अंत्य सौक्ष्म्य है। जैन-दर्शन में ऐसे पुद्गल को *परमाणु* की संज्ञा दी गई है।

अपेक्षा से सूक्ष्म को आहपेक्षिक सौक्ष्म्य कहा गया है। एक व्यक्ति का वजन दो मन है, दूसरे का डेढ़ मन है। डेढ़ मनवाला व्यक्ति दो मनवाले व्यक्ति की अपेक्षा से सूक्ष्म है। पर यदि डेढ़ मन वजनवाले व्यक्ति के सामने कोई मन वजनवाला व्यक्ति हो तो डेढ़ मनवाला व्यक्ति स्थूल और एक मनवाला व्यक्ति सूक्ष्म कहलाएगा।

परमाणु किसी अपेक्षा से सूक्ष्म नहीं हो, क्योंकि किसी अपेक्षा वह स्थूल नहीं होता। परमाणु के बारे में अनेक दार्शनिकों ने विचार किया है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद ने परमाणु की परिभाषा देते हुए कहा है—

जालान्तर गते भानौ, सूक्ष्मं यद् दृश्यते रतः।

तस्य षष्ठतमो भागः, परमाणुः प्रकीर्तितः॥

ह जाली से होकर सूर्य-रश्मियां अंदर आती हैं। उन रश्मियों में सूक्ष्म रजकण तैरते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन रजकणों में से एक रजकण के छठे भाग का नाम परमाणु है।

यह परिभाषा किसी समय चलती थी, पर आज नहीं चल सकती, क्योंकि उसे रजकण का सौवां, हजारवां और लाखवां हिस्सा भी किया जा सकता है। जैन-दर्शन में जैन-दर्शन में इस रजकण के दो से लेकरक असंख्य, अनन्त और अनन्तानन्त टुकड़ों तक की कल्पना की गई है। जैन-दर्शन का परमाणु अविभाज्य होता है। उसका फिर हिस्सा भाग नहीं किया जा सकता। जैन-दर्शन के इतने सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन को देखकर यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि जैन तीर्थंकर अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न थे। विज्ञान जहां पर आज पहुंचने की चेष्टा में है, वहां और वहां से भी बहुत आगे वे हजारों-हजारों वर्ष पहले पहुंच चुके हैं।

स्थौल्य के दो प्रकार

*स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्त्यं अशेषलोकव्यापिमहास्कन्धस्य।
आपेक्षिकं यथाहाम्रापेक्षया नालिकेरस्य।*

सौक्ष्म्य की तरह स्थौल्य के भी दो प्रकार हैं—१. अन्त्य स्थौल्य २. आपेक्षिक स्थौल्य।

अन्तिम स्थूल को अन्त्य स्थौल्य कहा जाता है। जैसेहलोकव्यापी महास्कन्ध।

अपेक्षा से स्थूल को आपेक्षिक स्थौल्य कहा गया है। जैसेहाम्रापेक्षया की अपेक्षा तरबूज स्थूल है।

आपकी जिज्ञासा हो सकती है कि अन्तिम स्थूल पदार्थ क्या है। जहां कल्पना की गई है कि एक ऐसा स्कन्ध है, जो अकेला ही समूचे लोक में फैलता है। एक ही बादल कई बार पूरे आकाश में छाया हुआ नजर आता है। परंतु आकाश तो अनन्त है, इसलिए एक बादल पूरे

आकाश में छा जाए, यह असम्भव है। किंतु चूंकि हमारी दृष्टि सीमित है, इसलिए जहां तक हमारी दृष्टि जाती है, वहां तक वह एक ही बादल छाया हुआ प्रतीत होता है। यह स्थूल उदाहरण मैंने समझाने के लिए दिया। इसी प्रकार चौदह रज्जु परिमाणवाले इस लोक के लिए स्कंध की कल्पना की गई है। इसे महास्कंध कहा जाता है।

केवलीसमुद्घात के समय एक आत्मा समूचे लोक में व्याप्त हो जाती है। समुद्घात के चौथे समय में आत्म-प्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं। उस समय कर्म-पुद्गलों की निर्जरा होती है। उन निर्जरित पुद्गलों का पांचवें समय में एक लोकव्यापी स्कंध बन जाता है। यही स्कन्ध महास्कंध कहलाता है।

इस प्रकार सूक्ष्मता और स्थूलता दोनों ही पुद्गल के लक्षण हैं। पुद्गल के अतिरिक्त कोई द्रव्य सूक्ष्म या स्थूल होता ही नहीं। इस संदर्भ में इतना और समझ लेना चाहिए कि पुद्गल सूक्ष्म का स्थूल और स्थूल का सूक्ष्म हो सकता है। जैसेहआज बच्चा सूक्ष्म है, पर बढ़ते-बढ़ते वह युवक बन जाता है। इसी प्रकार आज व्यक्ति स्थूल है। पर बीमारी, बुढ़ापा या चिन्ता के कारण वह सूक्ष्म होने लगता है और होते-होते बिलकुल अस्थिपंजर-सा रह जाता है।

प्रसंग रामायण का

रामायण में प्रसंग आता है कि हनुमान राम की मुद्रिका लेकर लंका में जाते हैं। अवसर देखकर वे मुद्रिका सीता की गोद में डाल देते हैं। सीता मुद्रिका हाथ में उठाती है और सोचती है कि यह मुद्रिका कहां से आई कैसे आई। मुद्रिका पर राम का नाम लिखा था। ज्यों ही उसकी दृष्टि नाम पर जाती है, वह भविह्वल हो जाती है। अब कहां और कैसे के प्रश्नों को वह भूल जाती है और उसके मन में राम की स्मृति घनीभूत बन जाती हैह

मुद्रे! ब्रूहि सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः स्वयं,
सन्ति स्वामिनि! मा विधेहि विधुरं चेतोऽनया चिंतया।
एनां व्याहर मैथिलेन्द्रतनये! नामान्तरेणाधुना,
रामस्त्वद्विरहेण क यस्यै चिरं दत्तवान्॥

सीता अत्यंत स्नेह से मुद्रिका को संबोधित करती हुई बड़ी आतुरता से पूछती है 'क्यों श्री राम और लक्ष्मण सकुशल तो हैं?'

मुद्रिका कहती हैहं'हां, स्वामिनी ! श्री राम और लक्ष्मण सकुशल हैं । पर एक निवेदन है कि आप मुझे मुद्रिका की संज्ञा से सम्बोधित न करें, कंकण के नाम से पुकारें।'

सीता आश्चर्य से पूछती हैहं'क्यों?'

मुद्रिका अपना आशय स्पष्ट करती हैहं'जब तक आप थीं, तब तक मैं मुद्रिका थी। पर आपका वियोग हो जाने पर श्री राम ने मुझे कंकण बना दिया है। अब मैं मुद्रिका के रूप में उनकी अंगुली में नहीं, अपितु हाथ में कंकण के रूप में स्थान पाती हूँ, क्योंकि आपके वियोग के कारण राम का शरीर चिन्ता से अति कृश हो गया है।'

यह बात मैंने प्रसंगवश कह दी। समझना यही है कि किन्हीं कारणों से कभी स्थूल सूक्ष्म बन जाता है और कभी सूक्ष्म स्थूल बन जाता है। मेरी दृष्टि में यह बहुत महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात हैहं समता। दोनों ही परिस्थितियों में व्यक्ति माध्यस्थ भाव रखेह्यही श्रेय-पथ है।

संस्थान

स्थौल्य के बाद हम संस्थान को समझेहं

आकृतिःहंसंस्थानम् । तच्चचतुरस्रादिकं इत्थंस्थम्, अनियताकारं अनित्थंस्थम् ।

संस्थान भी पुद्गल का एक लक्षण है। संस्थान यानी आकृति। जितनी भी आकृतियाँ या आकार हैं, वे सारे पौद्गलिक हैं। वे सभी पुद्गल होने की सूचना हैं। किसी को श्याम पुद्गलों का योग मिला और उसकी आकृति श्याम बन गई। इसके विपरीत किसी को श्वेत पुद्गलों का योग मिला और उसकी आकृति श्वेत बन गई। संस्थान के दो प्रकार हैंहं१. इत्थंस्थ २. अनित्थंस्थ।

नियत आकारवाली संरचना इत्थंस्थ कहलाती है। त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत, परिमण्डल वृत्त सब इत्थंस्थ के भेद हैं। यद्यपि परिमण्डल और वृत्त दोनों ही गोलाकार होते हैं, फिर भी इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। वृत्त मोदक की तरह गोल होता है, जबकि परिमण्डल चूड़ी की हतरह गोल। यानी जहां परिमण्डल में बीच का भाग खोखला होता है, वहीं वृत्त का यही भाग बिलकुल सघन होता है।

अनियत आकारवाली संरचना संरचना अनित्यस्थ कहलाती है। नियत आकार के अतिरिक्त जितने भी आकार बनते हैं, वे सभी अनित्यस्थ है। हम सब जीव हैं, चेतन हैं। पुद्गल जड़ हैं, अचेतन हैं। इस स्थिति में किसी के भी मस्तिष्क में यह प्रश्न उभरना स्वाभाविक है कि हमें तो आत्मा का ज्ञान करना चाहिए, पुद्गलों के ज्ञान से हमारा क्या लेना-देना। यह ठीक है कि हमें आत्मा का ज्ञान करना चाहिए। पर हमें यह भी ख्याल में रखना चाहिए कि बिना जड़ को जाने हम चेतन को नहीं जान सकते, बिना पुद्गल को जाने हम आत्मा को नहीं पहचान सकते। यद्यपि पुद्गल हेय हैं, तथापि जब तक हम उन्हें जानेंगे ही नहीं, तब तक उन्हें छोड़ेंगे कैसे? हिंसा को जानना उतना ही जरूरी है, जितना अहिंसा को। अन्यथा न तो अहिंसा को समझा जा सकता है और न ही हिंसा को छोड़ा जा सकता है। सत्य को जानने के लिए और उसी स्वीकार करने के लिए असत्य को जानना और समझना भी आवश्यक है। अन्यथा सत्य और असत्य का विवेक नहीं किया जा सकता। और जहां इसका विवेक ही नहीं होता, वहां व्यक्ति कैसे तो हेय को छोड़ेगा और कैसे उपादेय को स्वीकार करेगा?

सारांश यही है कि हमें हेय और उपादेय दोनों ही प्रकार के तत्त्वों को समान रूप से जानना और समझना चाहिए। सम्यक रूप से जानने के बाद हम हेय को छोड़ते चलें और उपादेय को ग्रहण करते चलें, यही प्रशस्त पथ है।

गंगाशहर

२४ जुलाई १९७८

१२ : क्या अंधकार पुद्गल है

पुद्गल के लक्षणों के विवेचन के अन्तर्गत कल में संस्थान तक की बात बताई। आज मैं कुछ अन्य लक्षणों की चर्चा करूंगा।

भेद

विश्लेषःहभेदः। स च पञ्चधाह

१. उत्करःहमुद्गशमीभेदवत्।
२. चूर्णःहगोधूमचूर्णवत्।
३. खण्डःहलोहखण्डवत्।
४. प्रतरःहअभ्रपटलभेदवत्।
५. अनुतटिकाहत्टाकरेखावत्।

पुद्गल का एक लक्षण हैहभेद का अर्थ होता हैहविश्लेषण। भेद के पांच प्रकार बताए गए हैंह१. उत्कर २. चूर्ण ३. खण्ड ४. प्रतर ५. अनुतटिका।

टूट-टूट कर ऊंचा उठे वह उत्कर कहलाता है। उदाहरणार्थह मोठ की फली, मूंग की फली। आप ध्यान दें, खेत में मोठ, मूंग आदि की फलियां सूखने के बाद जब अपने-आप टूटते हैं, तब ऊपर उछलती हैं। इसी प्रकार एरंड भी टूटने के बाद ऊपर जाता है। जमीन पर मिट्टी डाली जाती है तो रजें ऊपर उठती हैं। धुआं ईंधन से अलग होकर सहजरूप से ऊपर उठता है।

टूटने पर चूर्णहचूर्ण हो जाने को चूर्ण कहा जाता है। गेहूं, बाजरा आदि को जब चक्की में पीसा जाता है तो उनके पुद्गल टूटकर चूर्ण-चूर्ण हो जाते हैं।

तोड़ने से छोटे-छोटे टुकड़े होना खंड कहलाता है। पत्थर, लकड़ी इत्यादि को तोड़ने से उनके छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं।

परत-दर-परत उतरने को प्रतर की अभिधा से पहचाना जाता है। जैसेहअभ्रक के दल, प्याज के छिलके।

टूटने के बाद वस्तु में दरार का पड़ जाना अनुतटिका है। जैसेहतालाब की मिट्टी। तालाब की मिट्टी जब सूखती है तो उसमें दरारें पड़ जाती हैं।

ये सारे भेद विभिन्न रूपों में पुद्गल के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। कभी-कभी बोल-चाल की भाषा में कह दिया जात है कि उसका मन फट गया। क्या मन कभी फटता है ? वास्तव में मन कभी नहीं फटता। इस कथन का तात्पर्य इतना-सा है कि जिसके साथ व्यक्ति की आत्मीयता थी, वह अब समाप्त हो गई। पर इस फटने से हमारे पुद्गल के लक्षण-बोध का कोई संबंध नहीं है। भाषा में ये आलंकारिक प्रयोग चलते हैं और इनके प्रयोग से उसकी सुंदरता बहुगुणित हो जाती है।

आत्मा कितनी लंबी-चौड़ी है

आप जिस-किसी चीज में भेद देखें, उसे पुद्गल जानें। आत्मा में कभी भेद नहीं होता। इस संदर्भ में कुछेक प्रश्न सामने आते हैं। बहुत बार आप देखते हैं कि छिपकली की पूंछ कट जाती है। अब पूंछ भी छटपटाती है और वह स्वयं भी। युद्ध में सभुट का सिर धड़ से अलग होकर नीचे गिर जाता है। अब उसका धड़ भी छटपटाता है और सिर भी। इस स्थिति में क्या ऐसा माना जाए कि आत्मा खण्ड-खण्ड में विभक्त होती है? इस प्रश्न को अच्छे ढंग से समझ लेना चाहिए। वास्तव में इन सब प्रसंगों में शरीर की ही टुकड़े होते हैं, आत्मा अखण्ड रहती है। केवल शरीर के टुकड़ों से आत्मा का एक संबंध बना रहता है। आप पूछ सकते हैं कि यह आत्मा कितनी लम्बी-चौड़ी होती है। मैं कितनी लंबाई-चौड़ाई बताऊं? फैलाव की स्थिति में एक आत्मा समूचे लोक में व्याप्त हो सकती है। आप स्थूल उदाहरण से समझें। शरीर का एक टुकड़ा यहां पड़ा है और दूसरा टुकड़ा हजार मील दूर पड़ा है। इसके बावजूद दोनों की आत्मा एक होती है। दोनों का एक संबंध होता है। पर यह विस्तार शुद्ध आत्मा में नहीं अपितु पुद्गलयुक्त आत्मा में ही होता है।

मारणांतिक समुद्घात

शास्त्रों में मारणान्तिक समुद्घात का वर्णन है। आज कोई जीव मनुष्य-क्षेत्र में है मरकर उसे स्वर्ग जाना है। मरने से एक मुहूर्त पूर्व

उसके आत्म-प्रदेश बाहर निकलने शुरू हो जाते हैं। जहां उसे जनमना है, वहां तक उनका अविच्छिन्न तांता लग जाता है। इस क्रम में असंख्य आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं। यहां समझना यह है कि आत्मा चाहे कितनी ही विस्तीर्ण क्यों न हो जाए या फिर कितनी ही संकुचित क्यों न हो जाए, उसका संबंध सदा एक ही रहता है। उसमें भेद विश्लेष नहीं होता। भेद सदा पुद्गलों में ही हो सकता है।

अंधकार

भेद के पश्चात इम अंधकार की चर्चा करेंगे। अंधकार भी पुद्गल का एक लक्षण है।

कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः।

श्यामवर्ण पुद्गलों के सघन रूप में एकत्र होने का नाम अंधकार है। कुछ दार्शनिक अंधकार को पुद्गल नहीं मानते। उनकी मान्यता के अनुसार अंधकार मात्र प्रकाश का अभाव है। उन्होंने अपने इस कथन को यथार्थ साबित करने के लिए अनेक तर्क दिए हैं। बहुत-से लोग उनके इस कथन को सही मानते हैं। पर जैन-दर्शनियों को यह मान्यता स्वीकार नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार अंधकार अभाववत्क नहीं, अपितु भावात्मक स्थिति है। हम व्यवहार में भी 'अंधकार है'हऐसा कहते हैं। यह कथन उसके भावात्मक रूप को प्रमाणित करता है। यदि अन्धकार अभावात्मक होता तो 'अंधकार है' के स्थान पर हमारे कथन की भाषा 'प्रकाश नहीं है' यह होती है। लेकिन हम सब जानते हैं कि अंधकार को 'प्रकाश नहीं है'हऐसा नहीं कहा जाता।

दूसरी बातहयदि प्रकाश का अभाव ही अंधकार है तो कोई यह भी कह समता है कि अंधकार के अभाव का नाम ही प्रकाश है; प्रकाश नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। यदि अंधकार के स्वतंत्र अस्तित्व को इनकार किया जाएगा तो प्रकाश के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करने का आधार भी समाप्त हो जाएगा। इसलिए जब प्रकाश का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तब अंधकार के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारने का कोई आधार नहीं है। यदि नहीं हो सकता कि हम एक के अस्तित्व को तो स्वीकार करें और दूसरे को अस्वीकार।

'प्रकाश के अभाव का नाम अंधकार है'हइस कथन के विरोध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अंधकार प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सजो

वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है, अर्थात् जिसका वर्ण प्रत्यक्ष है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वर्ण किसी वस्तु/पुद्गल का ही होता है, अवस्तु का नहीं, और जब वर्ण प्रत्यक्ष है तो उसके स्पर्श, रस और गंधहृये तीनों भी स्वतः प्रमाणित हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्शहृइनमें से किसी एक के होने का अर्थ है कि ये सभी हैं। इनमें से एक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वर्ण की तरह अंधकार के स्पर्श का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। धूप से एक व्यक्ति अंधकार में जाता है तो सहज रूप में उसे ठंडक की अनुभूति होती है। शीत उष्ण, रूक्ष-स्निग्ध, गुरु-लघु, कोमल-कठोरहृये सभी स्पर्श के बिना हो नहीं सकते। इसी प्रकार अंधकार में गंध भी है, रस भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब प्रकाश में वर्ण, गंध, रस व स्पर्श है तो अंधकार में भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है। इसलिए प्रकाश के अस्तित्व की तरह अंधकार का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। इस संदर्भ में और भी अनेक तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर विस्तार के भय से मैं इस प्रकरण को यही समाप्त करता हूँ।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि सूर्योदय होते ही अंधकार कहाँ चला जाता है यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। साधारणतया कहा जाता है कि अंधकार नष्ट हो गया, समाप्त हो गया। पर यह केवल बोल-चाल की भाषा है, वास्तविकता नहीं। वास्तविकता यह है कि अंधकार वहीं-का-वहीं पड़ा रहता है, कहीं दूसरे स्थान पर नहीं जाता। केवल पुद्गलों में परिवर्तन होता। श्यामवर्ण पुद्गल सूर्य की किरणों के आते ही श्वेतवर्ण में रूपांतरित हो जाते हैं। आप इसे आश्चर्य न मानें। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि केश श्याम से श्वेत हो जाते हैं। हालांकि केशों के वर्ण-परिवर्तन में समय लगता है, जबकि यह परिवर्तन तत्काल हो जाता है।

जैन-दर्शन विज्ञानसम्मत है

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अंधकार के संबंध में जैनहृदर्शन की मान्यता विज्ञान-सम्मत है। हमें इस बात का सात्त्विक गौरव होना चाहिए कि अन्यान्य धर्मों एवं दर्शनों की तुलना में जैन धर्म और जैन-दर्शन की बातें विज्ञान से बहुत अधिक सम्मत हैं। यह बात केवल मैं या जैन-समाज के लोग कहें या तो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं, पर जब दूसरे-दूसरे लोग इसे एक सच्चाई और तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं तो

वस्तुतः ही यह महत्पूर्ण बात है।

प्रसंग कॉमरेड यशपाल का

कॉमरेड यशपाल का नाम आपने सुना होगा यद्यपि विचारों से वे कट्टर नास्तिष्क हैं, पर अच्छे विद्वान और चिंतनशील व्यक्ति हैं। हिंदी के मूर्धन्य उपन्यासकारों में से वे एक हैं। जब मैं लखनऊ गया तो वे वहीं थे। हमारे कार्यकर्ताओं ने उनसे संपर्क किया और मिलने की प्रेरणा दी। उन्होंने आने की स्वीकृति दी और वे चलने को तैयार भी हो गए, लेकिन चलते-चलते ही अचानक रुक गए और उन्होंने कार्यकर्ताओं से पूछाह 'मुझे आप लोगों ने यशपाल जैन (संपादक, जीवन-साहित्य) समझकर तो आमंत्रण नहीं दिया है?' कार्यकर्ताओं ने उनकी आशंका को दूर करते हुए कहाह

‘नहीं, हमने यशपाल जैन समझकर नहीं, अपितु कॉमरेड यशपाल समझकर ही आपको आमन्त्रित किया है।’

कार्यकर्ताओं के साथ वे आए। हम दोनों का परस्पर यह प्रथम ही साक्षत्कार था। विभिन्न विषयों पर हमारी खुलकर बातचीत हुई। वार्ता के अंतिम क्षणों में कॉमरेड यशपाल ने एक बात कहीह 'आचार्यजी! यदि आप समय दें सकें तो मैं जैन धर्म का अध्ययन करना चाहता हूँ।’

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति धर्म का नाम तक भी नहीं सुनना चाहता, वह उसके अध्ययन की बात कर रहा है! मैंने उसी भावधारा में पूछाह 'आप व्यंग्य तो नहीं कर रहे हैं?' उन्होंने कहाह 'नहीं, व्यंग्य नहीं, मेरी हार्दिक इच्छा है।' सचमुच उनके शब्दों में ही नहीं, अपितु चेहरे पर भी जिज्ञासा का भाव मूर्त रूप ले रहा था। मैंने उनसे पूछाह 'क्यों?' अपनी अवधारणा प्रकट करते हुए यशपालजी बोलेह 'यद्यपि मैं धर्म में विश्वास नहीं करता तथापि इतना अवश्य मानता हूँ कि संसार में जितने धर्म हैं, उनमें जैन-धर्म और उसका दर्शन सर्वाधिक न्याय-संग, तर्क-संगत और विज्ञान-सम्मत है।’

युवकों को आवाहन

बन्धुओ! यह विचार मात्र एक-दो विद्वानों या प्रबुद्ध लोगों का नहीं है, अपितु सैकड़ों चिंतनशील तटस्थ व्यक्ति इस विचार से सहमत हैं। मैं आपसे पूछता हूँ, इस संबंध में आप क्या कहते हैं? पर आप क्या कहेंगे! आपको इस विषय का ज्ञान भी तो नहीं है। जब ज्ञान ही नहीं तो

सम्मति या विमति हदेने का भी कोई मूल्य नहीं। मुझे इस प्रसंग में एक श्लोक की समृति हो रही हैह

**विमति सम्मति वापि, नास्तिकस्य न मृत्यते।
परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी॥**

विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न विषयों पर अपने-अपने विचार रखे। एक सुझाव आया कि चार्वाक दर्शन (नास्तिक दर्शन) के विचार भी लिए जाने चाहिए। तब कहा गयाह'नहीं, उसके विचार लेने की कोई अपेक्षा नहीं है। जो लोग आत्मा परमात्मा, मोक्ष, परलोक.....जैसी बातों में ही उलझ जाते हैं, उन अज्ञानियों को सम्मति या विमति दोनों ही नहीं चाहिए।'

बंधुओ! यद्यपि मैं आपको नास्तिक तो नहीं बता सकता, तथापि इतना अवश्य है कि जिस विषय का आपको ज्ञान ही नहीं, उस विषय पर आपकी सम्मति या विमति कोई विशेष अर्थ नहीं रखती, महत्त्व नहीं रखती। इसलिए अपेक्षित यह है कि जैन-धर्म और जैन-दर्शन को ठोस अध्ययन किया जाए। मुझे इस बात का बड़ा आश्चर्य है कि हर्मन जेकोबी (जरमन जैन विद्वान), डॉ. राधाकृष्णन जैसे अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों की जिस धर्म और दर्शन पर कलम चली है, उस धर्म और दर्शन के अध्ययन के प्रति समाज की युवापीढ़ी उदासीन है। मैं यह तो नहीं मान सकता कि हमारे युवकों में प्रतिभा या बुद्धि नहीं है। जब वे इंजीनियरिंग, डॉक्टरी आदि अन्यान्य ध्ययन के क्षेत्रों में सफलतापूर्वक आगे बढ़ सकते हैं तो निश्चित ही वे प्रतिभासंपन्न एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाले हैं। ऐसी स्थिति में तो यही लगता है कि इस विषय में उनकी रुचि अभी तक जागृत नहीं हुई है। इसके बावजूद मैं निराश नहीं हूं। मैं युवकों से कहना चाहता हूं कि वे अपनी अभिरुचि जागत करें और जैन-धर्म दर्शन का ठोस ज्ञान प्राप्त करें। पर यह अध्ययन दूसरों को समझाने के लिए नहीं, अपितु स्वांतः सुखाय होना चाहिए, स्वयं की ज्ञान-संपदा को विकसित करने के लिए होना चाहिए। जहां स्वयं को प्राप्ति होगी, वहां दूसरे तो सहजरूप से लाभान्वित होंगे ही।

गंगाशहर

२५ जुलाई १९७८

१३ : क्या छाया स्वतंत्र पदार्थ है

तात्त्विक प्रवचन के अंतर्गत कल मैंने अन्धकार और प्रकाश की विस्तृत चर्चा की थी और बताया था कि अंधकार और प्रकाश दोनों ही पुद्गल के लक्षण हैं। अंधकार और प्रकाश को यद्यपि हम आंखों से देखते हैं, तथापि उन्हें पकड़ नहीं सकते। इस संदर्भ में हमें एक बात समझ लेनी आवश्यक है। पुद्गल चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी दो प्रकार के होते हैं। हालांकि उनकी विस्तृत चर्चा तो मैं अभी नहीं करूंगा, फिर भी इतना बता देता हूँ कि चतुःस्पर्शी पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। हम उन्हें देख ही नहीं सकते। अष्टस्पर्शी पुद्गल स्थूल होते हैं, अतः वे आंखों के विषय बन सकते हैं।

मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और कार्मणा के पुद्गल चतुःस्पर्शी होते हैं, सूक्ष्म होते हैं। इनकी सूक्ष्मता में भी तरतमता है। वचन वर्गणा से मनोवर्गणा के पुद्गल सूक्ष्म हैं और मनोवर्गणा से कार्मणा वर्गणा के पुद्गल सूक्ष्म हैं शेष सभी पुद्गल अष्टस्पर्शी हैं (श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल चतुःस्पर्शी भी होते हैं) आपके मन में जिज्ञासा होगी कि वर्गणा किसे कहते हैं। जैन-दर्शन में स्थूल रूप में आठ वर्गणाएं मानी गई हैं।

अंधकार और प्रकाश भी अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं, स्थूल हैं। अतः हम उन्हें आंखों से देख पाते हैं।

छाया

प्रतिबिम्बरूपः पुद्गलपरिणामः छाया

हम देखते हैं कि जब कोई व्यक्ति धूप में चलता है तो ठीक उसके शरीर के आकार की ही छाया पड़ती रहती है। इसी प्रकार दर्पण के सामने जब कोई व्यक्ति खड़ा होता है तो ठीक उसके शरीर के आकार का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। यह पुद्गल-परिणति है। जो पुद्गल प्रतिबिम्ब के रूप में परिणत हो जाते हैं, उन्हें छाया कहा जाता है।

तदाकार छाया के रूप में पुद्गल हर प्राणी के शरीर से सदा निकलते ही रहते हैं। यह दूसरी बात है कि वे कभी पकड़े जाते हैं और कभी पकड़ में नहीं भी आते। फोटोग्राफर आता है और आपका फोटो खींच लेता है। क्या है यह फोटोग्राफी? यह फोटोग्राफी और कुछ नहीं, केवल आपके शरीर से निकलनेवाले तदाकार पुद्गलों को पकड़ने की प्रणाली है। धूप में या तेज प्रकाश में वे पुद्गल अभिव्यक्त होते हैं। अन्यथा अभिव्यक्ति नहीं होते। कैमरे में वे पकड़े जाते हैं। बिना कैमरे के पकड़े नहीं जाते।

प्रतिबिंब के अभिव्यक्त होने में उस पदार्थ का बहुत महत्त्व है, जिसमें वह प्रतिबिंबित होता है। वह पदार्थ जितना स्वच्छ व स्थिर होगा, प्रतिबिम्ब भी उतना ही साफ अभिव्यक्त हो सकेगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि श्रोता यदि एकाग्रतत्त और ग्राहक बुद्धिवाले होते हैं तो उन्हें प्रवचन का पूरा-पूरा लाभ मिलता है। इसके विपरीत यदि वे व्याग्रचित्त और अग्राहक बुद्धिवाले होते हैं तो अच्छे-से-अच्छे प्रवचन में भी उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। केवल शब्द कान में पड़ते जाते हैं और वापस निकल आते हैं। ठीक यही बात प्रतिबिंब के प्रतिबिंबित होने के संबंध में लागू होती है। पानी स्वच्छ है तो उसमें पड़नेवाला प्रतिबिंब बहुत साफ उभरता है। पर वही पानी जब गंदा और अस्थिर होता है तो प्रतिबिंब साफ नहीं उभरता।

प्राथमिक जीवन-विशुद्धि

धर्म के संबंध में भी यही बात है। व्यक्ति का चित्त जितना साफ और सरल होता है, धर्म उतना ही अधिक उसके जीवन में फलीभूत होता है। भगवान महावीर ने यह बात इन शब्दों में कही है **धम्मो सुद्धस्स चट्ठईत्तधर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है।**

यहां आहंपको एक शंका हो सकती है कि धर्म तो स्वयं आत्मा की शुद्धि का साधन है, इस स्थिति में उसके जीवन में प्रवेश पाए बिना आत्मा शुद्धि कैसे होगी। यह बिलकुल ठीक है कि धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है। धर्म को अपनाने से ही जीवन शुद्ध बनता है। पर साथ ही हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि धर्म को जीवन में टिकने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में एक सीमा तक पवित्रता की अनिवार्य अपेक्षा है। यदि जीवन में प्राथमिक पवित्रता नहीं होगी तो धर्म टिकेगा ही

कहां ? और जब उसे टिकने को ही स्थान नहीं, तब उसके द्वारा व्यक्ति के जीवन-शोधन की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसलिए हम इस तथ्य को भलीभांति समझें कि धर्म के प्रतिबिंबित होने के लिए एक सीमा तक जीवनशुद्धि अनिवार्य है। यह प्राथमिक जीवनशुद्धि यदि नहीं होती है तो जीवन में धर्म को अंकुरित होने के लिए उपयुक्त उर्वरा ही नहीं मिल पाती। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बहुत-से लोग धर्म की लम्बी-चौड़ी बातें तो बहुत करते हैं, धार्मिक क्रियाकांड आदि भी करते हैं, पर धार्मिकता उनके जीवन को छू तक नहीं पाती। उनका व्यवहार धर्म के विपरीत चलता है। इसका कारण यही तो है कि क्रियाकाण्ड आदि करते हुए भी धर्म टिक सके, उतनी प्राथमिक विशुद्धि उनके जीवन की नहीं हो पाई।

धार्मिकता की पहचान

व्यक्ति के जीवन में धर्म फलित हुआ है या नहीं, इसकी कसौटी बहुत सीधी-सी है। अगर प्रतिकूलता में व्यक्ति अपना संतुलन नहीं खोता है तो मानना चाहिए कि उसके जीवन में धर्म फलित हुआ है। इसके विपरीत मन की जरा-सी प्रतिकूलता में वह यदि अपना संतुलन खोकर आपे से बाहर हो जाता है तो यह मान लेना चाहिए कि अभी तक धर्म केवल चोगे के रूप में है, आत्मगत नहीं।

धार्मिक व्यक्ति की एक बहुत बड़ी पहचान है कि वह गुस्सा नहीं करता। गुस्सा करना अधार्मिकता का द्योतक है। एक व्यक्ति एक महात्मा के पास गया और प्रश्न की भाषा में बोलाह 'महाराज ! स्वर्ग और नरक वास्तविक हैं अथवा कपोलकल्पित ?' महात्मा ने प्रश्न को उत्तरित करने की अपेक्षा प्रतिप्रश्न कियाह 'तू कौन है ?' उसने गर्व के साथ कहाह बाबा ! मैं यहां के महान सम्राट का अंगरक्षक हूं।' व्यंग्य भरी हंसी हंसते हुए बाबा ने कहाह 'अरे ! किस मूर्ख ने बना दिया तुझे अंगरक्षक ? तेरा चेहरा ही सम्राट का अंगरक्षक बनने जैसा नहीं है। मुझे तो तू भूखा भिखारी प्रतीत होता है।'

संत के इन बोलों को सुनते ही वह अंगरक्षक गुस्से में आ गया। उसके चेहरे का रंग बदल गया। होठ फड़फड़ाने लगे। आंखें लाल हो गईं। कमर पर लटकती तलवार की मूठ की ओर आथ बढ़ गया। पर वह तलवार बाहर निकालता, उससे पूर्व ही बाबा ने मुस्कराते हुए

कहाहूँ 'अच्छा, तू तलवार भी रखता है! परंतु ख्याल रखना इस तलवार से मेरा सिर नहीं कटेगा। मेरा सिर काटने के लिए तो कोई दूसरी ही तलवार चाहिए।' अब तो अंगरक्षक का क्रोध सातवें आसमान पर चढ़ गया। तलवार बाहर निकल गई। दांत किटकिटाते हुए वह बोलाहूँ 'किस सिरफिरे से पाला पड़ा है! मेरे प्रश्न का जवाब देना तो दूर, उलटे मेरी ही आलोचना ! मैं इसे कभी भी बर्दास्त नहीं कर सकता.....' इस बार संन्यासी ने जोरदार ठहाका लगाया और बोलेहूँ 'तेरे आधे प्रश्न का उत्तर तो तुझे मिल गया है। नरक का दरवाजा तो तूने खोल लिया है। इसलिए नरक है या नहीं, यह पूछना अब बेमानी है।'

आधा प्रश्न समाहित होने की बात सुनकर अंगरक्षक जरा संभला। मन-ही-मन सोचने लगाहूँ 'अरे ! यह तो मेरी कसौटी हो रही है। मैं कहां चला गया ! उसका गुस्सा शांत हुआ। तलवार वापस म्यान में चली गई। महात्मा के प्रति दुर्व्यवहार के लिए उसका मन पश्चात्ताप से भर गया। वह उसके चरणों में गिरकर पुनः-पुनः क्षमायाचना करने लगा। तब संन्यासी ने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहाहूँ 'अब तेरे प्रश्न का पूरा समाधान हो गया है। तूने अब स्वर्ग का दरवाजा खोल लिया है।'

प्रश्न का जवाब देने की यह अनोखी शैली देखकर वह अंगरक्षक अत्यंत प्रभावित हुआ। श्रद्धावनत संत को नमन कर वह ज्यों ही लौटने लगा, संत ने उसे रोकते हुए प्रतिबोध की भाषा में कहाहूँ 'मेरी बात ध्यान से सुनो ! यह केवल क्रोध और अक्रोध/शांति की बात नहीं है, अपितु समग्र जीवन-पद्धति का प्रश्न है। जब-जब तू क्रोध की ही तरह अहंकार, माया, लोभ, वासना, ईर्ष्या.....में चला जाता है, तब-तब नरक का दरवाजा स्वतः खुल जाता है। इसी के समानांतर जब-जब तू अक्रोध/शांति की तरह ही मुक्ति, आर्जव, मार्दव, संयम, तप, त्याग, सत्य, ब्रह्मचर्य.....में आ जाता है, तब-तब स्वर्ग का दरवाजा खुल जाता है। वस्तुतः स्वर्ग और नरक को कहीं बाहर खोजना निरी भ्रान्ति है। स्वर्ग और नरक दोनों अपने भीतर ही हैं।'

बन्धुओं यही बात मैं इस रूप में कहना चाहता हूँ कि क्रोध, अहंकार, माया, लोभ वासना आदि अधार्मिकता की पहचान हैं और क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव आदि धार्मिकता की कसौटी। यदि व्यक्ति क्रोध से अक्रोध, असत्य से सत्य और माया से ऋजुता की ओर मुड़ जाता है,

तो समझ लेना चाहिए कि उसके जीवन में धर्म फलित हुआ है।

छाया : दो मान्यताएं

अब मैं अपने मूल विषय पर लौटता हूँ। मैं आपको छाया/प्रतिबिम्ब के बारे में बता रहा था। मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि किसी भी वस्तु के प्रतिबिम्बित होने में उस पदार्थ का बहुत बड़ा महत्त्व है, जिसमें वह प्रतिबिम्बित हो रही है।

छाया/प्रतिबिम्ब के बारे में जैसा कि मैंने प्रारंभ में बताया था, हर प्राणी के शरीर से तदाकार पुद्गल निकलते रहते हैं और उनकी छाया पड़ती है। यह एक मान्यता है। इस संदर्भ में एक दूसरी मान्यता और भी है। जहाँ जहाँ खड़े रहते हैं, वहाँ के पुद्गल उस रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं। इन दोनों मान्यताओं में से कौन-सी मान्यता सही है, इस विवाद में मैं नहीं जाना चाहता। इन इतना तो दोनों ही मान्यताओं से निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि छाया पुद्गल है।

आभामंडल विज्ञानसम्मत है

छाया पुद्गल है, यह बात हम शास्त्रों में सदा से पढ़ते रहे हैं। पर आज विज्ञान ने भी अनेकानेक प्रयोगों के द्वारा इसे साबित कर दिया है। हम सदा से पढ़ते और सुनते आए हैं कि हर तीर्थंकर के आभामंडल होता है। आज विज्ञान ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। स्वीकार ही नहीं किया है, विभिन्न प्रयोगों के द्वारा इसे प्रमाणित भी कर दिया है। विज्ञान तो यहां तक कहता है कि तीर्थंकर महापुरुष के ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्राणी के आभामंडल होता है। चूंकि तीर्थंकर महापुरुष का आभामंडल स्वच्छ होता है, इसलिए वह बिलकुल स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। लेकिन सामान्य प्राणी का आभामंडल इतना स्वच्छ नहीं होता, इसलिए दिखाई नहीं देता। आजकल ऐसा कैमरा विकसित किया गया है, जिसके माध्यम से सामान्य प्राणी के आभामंडल के भी फोटो लिए जा सकते हैं और लिए भी गए हैं। उन छायाचित्रों के आधार पर एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया है कि जिस व्यक्ति के विचार अच्छे या बुरे जैसे होंगे, उसके आभामंडल का छायाचित्र भी उनके अनुरूप आएगा। इस क्रम से विभिन्न व्यक्तियों के आभामंडलों के छायाचित्र भी अलग-अलग प्रकार के आएंगे। छायाचित्र ही क्यों, उनके रंग भी अलग-अलग आएंगे। आभामंडल के रंग आदि को सविस्तार

समझने के लिए जैन-दर्शन के लेश्या प्रकरण का अवधानपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। लेश्या का जैसा सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन जैन-दर्शन में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, लगभग अप्राप्त भी है।

आतप : उद्योत : प्रभा

सूर्यादीनामुष्णः प्रकाश आतपः।

चन्द्रादीनामनुष्णः प्रकाश उद्योतः।

मण्यादीनां रश्मिः प्रभा।

सर्व एव एते पुद्गलधर्माः, अत एतद्वानपि पुद्गलः।

सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहा जाता है। चूंकि यह भी पुद्गल की एक परिणति है, अतः इसे भी पुद्गल का एक लक्षण माना गया है। आ देखें, कुछ लोग इतने तेजस्वी होते हैं कि उनका तेज हर कोई सहन नहीं कर पाता। जैसे डालगणी। ऐसा कहा जाता है कि उनका चेहरा तेजयुक्त था कि हर-किसी की यह हिम्मत हो नहीं होती थी कि वह उनके नजदीक चला जाए, उनसे बातचीत कर ले। महाराज गंगासिंहजी का उदाहरण भी आपके सामने है। उनका तेज भी असाधारण था। इस क्रम में और भी अनेक व्यक्तियों का उल्लेख किया जा सकता है।

चंद्र आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहा जाता है। यह भी पुद्गल की एक परिणति है, इसलिए इसे भी पुद्गल का एक लक्षण जानना चाहिए।

आतप की तरह कुछ लोगों की शीतलता भी उल्लेखनीय होती है। पूज्य कालूगणी का उदाहरण हमारे सामने है। वे इतने शीतल थे कि हर कोई उनके पास जा सकता था, उनसे अपने दिल की बात कह सकता था। और तो क्या, छोटे-छोटे बच्चे भी मुक्त भाव से उनके चरणों में उपस्थित होते थे। मैं पहले भी कई बार बता चुका हूँ और आज पुनः बताता हूँ कि मेरे वैराग्य का मूलभूत कारण पूज्य कालूगणी की वह शीतल-सौम्य आकृति ही थी। जब-कभी कालूगणी लाडलू पधारते, मैं घंटों-घंटों खड़े-खड़े उनकी उस दिव्य आकृति को निहारता रहता। धीरे-धीरे मेरे मन में यह तीव्र भावना बन गई कि मैं भी गुरुदेव का एक छोटा-सा शिष्य बनकर उनके चरणों में समर्पित हो जाऊँ।

रत्न आदि की रश्मियों को प्रभा कहते हैं। चूंकि यह भी पुद्गल की

एक परिणति है, इसलिए इसे भी पुद्गल का एक लक्षण बताया गया है।

अंधकार, छाया, आतप आदि पुद्गल के विभिन्न लक्षणों की चर्चा मैंने अपने प्रवचनों में की। ये सभी पुद्गल के धर्म हैं। अतः पुद्गल के विभिन्न लक्षणों के रूप में इन्हें निरूपित किया गया है।

पुद्गल के दो प्रकार

पुद्गल की विभिन्न परिणति की चर्चा के पश्चात अब हमें यह समझना है कि पुद्गल के कितने प्रकार हैं।

परमाणु: स्कन्धश्च।

पुद्गल के दो प्रकार हैं१. परमाणु २. स्कन्ध

परमाणु और स्कन्ध की विस्तृत चर्चा आज मैं नहीं करूंगा। संक्षेप में आप इतना-सा समझ लें कि सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणु है और अनेक परमाणुओं का एकीभूत रूप स्कन्ध। परमाणु के अतिरिक्त सभी पुद्गल स्कन्ध हैं।

आप मेरे हाथ में यह कपड़ा देख रहे हैं। यह एक स्कन्ध है। ये मिट्टी के सूक्ष्म कण भी स्कन्ध हैं। आप कहेंगे कि इतने सूक्ष्म कण भी स्कन्ध हैं, तब परमाणु किसी कहे वास्तव में दृश्य जितने भी पुद्गल हैं, वे सब स्कन्ध ही हैं परमाणु कभी आंखों से दिखाई नहीं पड़ता।

इस संदर्भ में कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि वास्तविक परमाणु है या स्कन्ध। एक दृष्टि से परमाणु ही वास्तविक है। दो, चार, सौ, हजार, करोड़, असंख्य, अनन्त परमाणुओं से मिलकर एक स्कन्ध बनता है। पर जैसा कि मैंने पहले बताया, परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि उसकी कल्पना करना ही कठिन है। दो-पांच.....सौ, हजार परमाणुओं के स्कन्ध के देखने की बात तो बहुत दूर की है, संख्येयप्रदेशी और असंख्येयप्रदेशी स्कन्धों को भी हम अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकते।ह केवल स्कन्ध हमारी आंखों द्वारा ग्राह्य होते हैं। इसमें भी इतना और समझ लें कि सभी अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हमारी आंखों के विषय नहीं बनते। केवल वे अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हम देख पाते हैं, जो स्थूल हैं। इससे हम परमाणु की सूक्ष्मता से परिचित हो सकते हैं। आपको शायद यह बात विचित्र लगे। पर वास्तव में यह कुछ भी विचित्र नहीं है। आज विज्ञान ने बहुत-सी सूक्ष्म-सूक्ष्म खोजें की हैं। प्रकाश एक लाख छियासी

हजार मील प्रति सेकंड की रफ्तार से गति करता है। जब इस सूक्ष्मता को आप स्वीकार करते हैं, तब शास्त्रों में वर्णित सूक्ष्मता पर तो अविश्वास करने का कोई औचित्य ही नहीं है। हालांकि हमारे तीर्थकरों के पास सूक्ष्मता को मापने के लिए यंत्र नहीं थे। पर उन्हें उनकी अपेक्षा ही कहां थी ? वे आत्मद्रष्टा थे। उन्होंने आत्म-ज्ञान की गहराई में सब-कुछ प्रत्यक्ष देखा। यंत्रों से मापने का काम विज्ञान का है। वह यंत्रों को विकसित कर विभिन्न सूक्ष्मताओं को मापने का प्रयास कर सकता है।

गंगाशहर

२६ जुलाई १९७८

१४ : परमाणु का स्वरूप

परमाणु की प्रासंगिक संक्षिप्त चर्चा में पिछले प्रवचनों में कई बार कर चुका हूँ। पर उसका सांगोपांग विवेचन अभी तक अवशेष है। आज मैं परमाणु का कुछ विस्तृत विवेचन कर रहा हूँ।

अविभाज्यः परमाणुः ।

जिसका कोई विभाग न हो सके, तो कभी टूट न सके, उस सूक्ष्मतम पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। उसकी संक्षिप्त परिभाषा है। उसकी विस्तृत परिभाषा देते हुए एक प्राचीन आचार्य ने लिख है

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।

एकरसगंधवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यालिंगश्च ॥

हूँ जो किसी भी पौद्गलिक पदार्थ का अन्तिम कारण है, सूक्ष्म है, नित्य है तथा एक रस, एक गंध, एक वर्ण व दो स्पर्शयुक्त है और जिसका अस्तित्व दृश्यमान कार्यों से जाना जाता है, वह परमाणु है।

इस परिभाषा में परमाणु को पौद्गलिक पदार्थों का अन्तिम कारण बताया गया है। अन्तिम कारण को समझने से पूर्व आप कारण को समझें और कारण को समझने के लिए कार्य को भी समझें। जिससे वस्तु निर्मित होती है, वह कारण कहलाता है। तथा जो वस्तु निर्मित होती है, उसे कार्य कहा जाता है। इसे आप उदाहरण से और स्पष्ट रूप से समझ पाएंगे। मिट्टी का घड़ा बनता है। यहां मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। परमाणु कारण है, कार्य नहीं, क्योंकि परमाणुओं के मिलन से छोटे-बड़े सभी स्कंध बनते हैं, परंतु परमाणु किसी से नहीं बनता।

अन्तिम कारण वह होता है, जिसके बिना कार्य (वस्तु) होता ही नहीं। मान लीजिए, एक व्यक्ति ने हजार बूंदियों को मिलाकर एक लड्डू बनाया। दूसरे व्यक्ति ने पांच सौ-पांच बूंदियों के दो लड्डू मिलाकर एक

लड्डू बनाया । तीसरे ने ढाई सौ-ढाई सौ बूंदियों के चार लड्डुओं को मिलाकर एक लड्डू बनाया जाता सकता है। पर सबका अंतिम कारण बूंदी ही है। यदि बूंदी न हो तो लड्डू बन ही नहीं सकता। परमाणु भी अंतिम कारण है। उसके बिना कोई स्कंध बन ही नहीं सकता।

जैसा कि मैं पहले कई बार बता चुका हूँ कि परमाणु सर्वाधिक सूक्ष्म है। उसकी सूक्ष्मता की कल्पना आप एक बात से करें। किसी व्यक्ति की आंख में बालू का एक कण गिर गया। गण बिलकुल छोटा-सा है, फिर भी आंख उसे सहन नहीं करेगी। वह आंख में रह-रहकर रड़कन और पीड़ा उत्पन्न करेगा। आखिर जब उसको निकाला जाएगा, तभी उस व्यक्ति को चैन पड़ेगा। पर एक परमाणु गिर जाए तो कुछ पता ही नहीं चलेगा। एक परमाणु ही क्यों, हजार, लाख करोड़.... असंख्येय परमाणुओं का स्कंध भी गिर जाए तो भी उसे कोई रड़कन या पीड़ा अनुभव नहीं होगी इससे भी और आगे कहूँ तो सूक्ष्म अनंतप्रदेशी स्कंध का भी उसे कोई अनुभव नहीं होगा। मात्र स्थूल अनंतप्रदेशी स्कंध का अनुभव हो सकेगा। यानी बालू के एक सूक्ष्म कण से परमाणु अनंतगुण सूक्ष्म है।

ऐसे सूक्ष्म परमाणु को न तो हवा उड़ा सकती है और न पानी ही बहा सकता है अग्नि उसे जला नहीं सकती। तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण शस्त्र की धार भी उसे काट नहीं सकती। और तो क्या, लाखों सैनिकों-वाली चक्रवर्ती की सेना भी यदि उस पर से होकर गुजर जाए तो भी वह उससे सर्वथा अप्रभावित रहेगा, जरा भी इधर से उधर नहीं होगा।

परमाणु नित्य है। यानी वह सदा परमाणु था, परमाणु है और परमाणु रहेगा।

अब आपको वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की दृष्टि से परमाणु को समझना है। चूंकि परमाणु भी एक दृष्टि से पुद्गल ही है, इसलिए उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अवश्यमेव होते हैं। पर परमाणु चूंकि एकप्रदेशी ही होता है, अतः उसमें एक वर्ण, एक रस एक गन्ध और दो स्पर्श ही पाए जाते हैं।

यहां प्रश्न सामने आएगा कि परमाणु में कृष्णा, नील, श्वेत, रक्त और पीत-इन पांचों वर्णों में से कौन-सा एक वर्ण पाया जाता है परमाणु में कौन-सा एक वर्ण पाया जाता है, इसका कोई निश्चित विधान नहीं है।

पांचों वर्णों में से कोई एक वर्ण पाया जा सकता है हां, इतना अवश्य है कि वह एक वर्ण परिवर्तित होता रहता है। यानी श्वेत वर्ण का पीत वर्ण, पीत वर्ण का रक्त वर्ण, रक्त वर्ण का कृष्ण वर्ण बन सकता है। इस परिवर्तन का कोई निश्चित क्रम नहीं है।

यही स्थिति परमाणु में गन्धस और रस की भी है। कोई एक गंध और एक रस उसमें पाया जा सकता है और उनमें परिवर्तन का क्रम भी चलता रहता है।

स्पर्श के बारे में कुछ भिन्न विधान है। जहां वर्ण, गंध और रस-ये तीनों एक-एक ही पाए जाते हैं, वहां स्पर्श दो पाए जाते हैं। यहां पुनः प्रश्न आएगा, कौन-कौन से दो स्पर्श पाए जाते हैं। इसका समाधान यह कि उष्ण और शीत इन दोनों स्पर्शों में से एक स्पर्श तथा रूक्ष और स्निग्ध इन दोनों स्पर्शों में से एक स्पर्श परमाणु में होता है। पर ये भी स्थायी नहीं है। इनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

परमाणु का इतना विवेचन करने के बावजूद अब तक मैं पूरे श्लोक का अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाया हूँ। संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि उसमें बहुत थोड़े-से शब्दों में बहुत बात कह दी जाती है। दूसरी-दूसरी भाषाओं में बात को कहने के लिए बीस-तीस शब्दों की जरूरत होती है, वही बात संस्कृत भाषा में पांच-सात शब्दों में कही जा सकती है। सचमुच यह इस भाषा का अतयंत महत्त्वपूर्ण गुण है। भाषा को ही क्यों, हम वक्तृत्व को भी देखें। कुछ लोग जहां थोड़े से बहुत अधिक कहने की कला में माहिर होते हैं, वहीं बहुत से लोग बोलते तो बहुत हैं, पर उसमें तथ्य अत्यल्प या नहीं के बराबर होता है। उन पर यह कहावत चरितार्थ होती है—**‘खोदा पहाड़, निकली चुड़िया।’**

मौन की शक्ति

बोलने का अपना महत्त्व है तो न बोलने का भी अपना महत्त्व है, बल्कि बोलने की अपेक्षा न बोलना/मौन ज्यादा महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होता है। संसार के सभी महापुरुषों ने इसीलिए मौन पर बहुत बल दिया है। भगवान महावीर ने बारह वर्षों तक मौन किया। महात्मा गांधी सप्ताह में एक दिन मौन किया करते थे। बोलने से शक्ति का क्षय होता है। उस क्षरित को पुनः संगृहीत करने में मौन सर्वाधिक उपयोगी है। स्वयं के अनुभव की बात मैं बताऊँ। सुदूर प्रदेशों की यात्राओं के दौरान मुझे

बहुत अधिक बोलना पड़ता। कभी-कभी तो दिन में पांच-पांच बार प्रवचन करना पड़ता। यदि निश्चित है कि कोई चाहे कितना ही सक्षम क्यों न हो, अधिक बोलने से आखिर उसकी शक्ति तो टूटेगी ही। मैं कई बार बोलते-बोलते बहुत थक जाता। मन में प्रश्न उभरा कि इस समस्या का क्या समाधान खोजा जाए। मैंने प्रतिदिन दो घंटे मौन प्रारम्भ कर दिया। इस मौन से मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अनुभव हुआ कि दिन-भर बोलने में जो शक्ति क्षीण होती है, वह दो घंटे के मौन से पुनः अर्जित हो जाती है।

दीर्घश्वास का लाभ

कभी-कभी ऐसा भी होता कि बोलते-बोलते मेरा गला बैठने लगता और दूसरे दिन हजारों की विशाल सभा को सम्बोधित करना निश्चित होता। (उन दिनों हमारे यहां माईक का उपयोग नहीं होता था) ऐसी स्थिति में मन में विचार आता कि यह कैसे संभव होगा। मैं रात को मौन करके सो जाता। सुबह उठकर अनुभव करता कि शक्ति अर्जित तो हुई है, गला भी साफ हुआ है, फिर भी अभी तक हजारों की परिषद को सुनाने की स्थिति में नहीं हूँ। इस स्थिति में मौन के साथ-साथ मैं दीर्घश्वास का प्रयोग करता। मौन और दीर्घश्वास दोनों का योग मिलने से मुझे पूरी शक्ति प्राप्त हो जाती और मैं अपने निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार प्रवचन का पाता।

अगर हम गौर से देखें तो पाएंगे कि पूरे दिन में ऐसे बहुत कम प्रसंग आते हैं, जब बोलना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। अधिकतर तो व्यक्ति निष्प्रयोजन या बहुत सामान्य प्रयोजन से ही बोलता है। इस तथ्य से अपरिचित होने के कारण लोग अपनी शक्ति का बहुत अपव्यय करते हैं। इसीलिए हमारे तीर्थंकरों ने कहा कि निष्प्रयोजन कोई काम मत करो।

मुझे लगता है कि महापुरुषों की वाणी सुनने में तो सबके लिए उसके आचरण गत बहुत कम लोग कर पाते हैं। जब आदमी किसी मुसीबत में फंसता है, तब उसे महापुरुषों की वाणी की स्मृति होती है। इसीलिए कबीरजी ने कितना मार्मिक कहा है ह

**दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय॥**

हल दुःख में, कठिन परिस्थितियों में सभी भगवान की वाणी को याद करते हैं, पर सुख में उसे काई याद नहीं करता। यदि सुख में, अनुकूलता परिस्थितियों में व्यक्ति भगवान की वाणी को याद कर ले तो संभवतः दुःख उत्पन्न ही न हो।

पर मानव मन की यह कमजोरी ही माननी चाहिए कि वह जानते हुए भी सुख में भगवान और भगवान के उपदेश को भूल जाता है।

मैंने प्रसंगवश कुछ बातें मूल प्रतिपाद्य से हटकर भी कहीं। पर ये बातें भी कम उपयोगी नहीं हैं। समय-समय पर प्रसंगवश ऐसी बातें प्रवचन में आनी ही चाहिए, जिससे तात्त्विक ज्ञान के साथ-साथ लोगों को व्यावहारिक प्रशिक्षण भी प्राप्त होता रहे।

गंगाशहर

२७ जुलाई १९७८

१५ : परमाणु : एक अनुचिंतन

कल के प्रवचन में मैं परमाणु का विवेचन किया। आज पुनः उसी अधूरे विषय के विवेचन से प्रवचन का प्रारंभ कर रहा हूँ। मैंने कल बताया था कि परमाणु कार्य (स्कंध) का अंतिम कारण है, अंतिम सूक्ष्म है, नित्य है तथा एक वर्ण, एक गंध एक रस व दो स्पर्शों से युत है।

जब परमाणु को आंखों से देखा नहीं जा सकता, यह प्रश्न अब हमारे सामने है उसे हाथ से पकड़ा नहीं जा सकता, जब उसके अस्तित्व को किस आधार पर स्वीकार किया जाए। यह अत्यन्त कारण है। उसके बिना स्कंध की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि हमें परमाणु (कारण) दिखाई नहीं देता वह पकड़ में नहीं आता। पर उसका कार्य तो दिखाई देता ही है। जब कार्य सामने है तो कारण चाहे प्रत्यक्ष दिखाई दे या न दे, उसके अस्तित्व को कभी नकारा नहीं जा सकता। उसमें संदेह के लिए कहीं कोई अवकाश नहीं रहता। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के हाथ में मक्खन है। मक्खन दूध से निकलता है। यानि दूध मक्खन का अन्तिम कारण है। दूध के बिना मक्खन कभी हो नहीं है। यानी दूध मक्खन का अन्तिम कारण है। दूध के बिना मक्खन कभी हो नहीं सकता। पर उस व्यक्ति ने दूध कभी देखा नहीं। भले दूध नहीं देखा, परंतु जब उसने मक्खन देख लिया तो वह दूध के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता।

आपने धुआं निकलते देखा। पर वह कहां से निकल रहा है, अग्नि कहां है, यह सब दिखलाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में क्या आप अग्नि को नकार सकते हैं? कभी नहीं। क्यों? यह इसलिए कि धुआं है तो अग्नि होगी ही। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि धुआं तो मौजूद हो और अग्नि न हो। एक आदमी खूब हृष्ट-पुष्ट है, सपर कहता है। कि मैं दिन में कभी रोटी नहीं खता। इसका अर्थ है कि रात को अवश्य खाता

है, अन्यथा उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता।

न्याय-शास्त्र का एक नियम है कि कजब कार्य है तो कारण अवश्यमेव होगा। यह दूसरी बात है कि कारण कभी दिखाई देता है और कभी नहीं भी दिखाई देता। परमाणु को भी हम इसी परिप्रेक्ष्य में देखें। चाहे परमाणु हमें दिखलाई नहीं देता, पर जब स्कन्ध दिखलाई देता है तो परमाणु का अस्तित्व स्वतः प्रमाणित है।

सदृश परमाणुओं में तरतमता

परमाणु के वर्ण के बारे में मैंने कल बताया था। परमाणु में एक ही वर्ण पाया जाता है। इस संदर्भ में एक बात और ज्ञातव्य है एक ही वर्ण के परमाणुओं में परस्पर बहुत बड़ी तरतमता हो सकती है। उदाहरणार्थहृदो श्यामवर्ण के परमाणु हैं। उन दोनों परमाणुओं की श्यामता में दो गुण से लेकर असंख्य, अनन्त और अनंतानंत गुण तक का अंतर हो सकता है। यानी एक परमाणु जितना श्याम है, उससे दूसरा परमाणु लाख गुण, करोड़ गुण, असंख्य गुण, अनंतानंत गुण श्याम हो सकता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक कपड़ा भी काला होता है, एक आदमी भी काला होता है और एक भैंस भी काला होता है। पर इनके कालेपन में बहुत तरतमता रह जाती है। श्यामवर्ण कि तरह सभी वर्णों में इसी तरह तरतमता होती है।

वर्ण की तरह परमाणु की गंध और रस में भी दो गुण से लेकर अनंतानंत गुण तक तरतमता होती है। हम देखते हैं, एक इत्र ऐसा होता है, जिसकी महक दूर-दूर तक फैल जाती है। वहीं दूसरे इत्र की सुगंध कुछ दूर बैठे व्यक्ति की नाक का भी पूरा विषय नहीं बन पाती। इसी प्रकार रस की तरतमता भी अनुभव की जा सकती है। दूध मीठा है। मिश्री मीठी है। गुड़ मीठा है। पर इनके मिठास-मिठासमें बहुत तरतमता है। यह तरतमता, जैसा कि पहले बताया गया, उत्कृष्ट रूप में अनंतानंत गुण तक हो सकती है।

परमाणु में स्पर्श दो होते हैं। पर स्पर्श की तरतमता का क्रम पूर्व क्रम की तरह ही है। यानी वर्ण और रस की तरह ही स्पर्श की तरतमता भी दो गुण से लेकर अनंतानंत गुण तक हो सकती है। आप देखें, कुएं का पानी गर्म है। दूध गर्म है। चूल्हा गर्म है। भट्टी गर्म है। रेल का इंजन गर्म है। पर उनकी गर्मी-गर्मी में बहुत बड़ी तरतमता है। अब आप समझ

गए होंगे कि परमाणु परमाणु के बीच कितना अंतर हो सकता है। इस संदर्भ में एक बात और बता दूं। आज एक परमाणु में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की जो स्थिति है, वह कालांतर में परिवर्तित भी हो सकती है। आज जो परमाणु कम श्याम है, वह कल अधिक श्याम भी बन सकता है। आज जो परमाणु कत तिक्त है, वह कल अति विक्त भी हो सकता है।

परमाणु गति करता है

अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि परमाणु गति करते हैं या नहीं। परमाणु गति करते हैं। पर इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए। कि उनकी गति स्वप्ररित ही होती है। दूसरों के हिलाएं वे नहीं हिलते। आपकी जिज्ञासा हो सकती है कि परमाणुओं की गति कैसी होती है। परमाणुओं की गति इतनी तेज होती है कि आप शायद कल्पना ही नहीं कर सकते। संसार का तीव्र-से-तीव्र गतिवाला यंत्र भी उनकी तुलना में बहुत पीछे ठहरता है। शास्त्रों में उनकी गति की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कोई भी परमाणु एक समय (काल का सूक्ष्मतम हिस्सा) में लोकान्त में लोकान्त तक जा सकता है। पर इस विषय में कोई प्रतिबद्धता नहीं है। वह गति कर भी सकता है और बहुत लम्बे काल तक गतिविहीन भी रह सकता है।

परमाणु जितना सूक्ष्म है, उतना ही अधिक शक्तिशाली है। सब स्कंधों की शक्ति उसमें अन्तर्निहित है। इसलिए वैज्ञानिक कहते हैं कि जो जितना सूक्ष्म होता है, वह उतना ही अधिक शक्तिसम्पन्न होता है। होमियोपैथिक चिकित्सा-पद्धति का यह सिद्धांत है कि दवा जितनी सूक्ष्म होकर शरीर में प्रवेश करती है, वह उतनी ही अधिक असरकारी होती है। आयुर्वेद चिकित्सा-विज्ञान में भी सूक्ष्म दवा की एक परंपरा रही है। वह दवा बड़ी तीव्र गति से रोग का निरोध करनेवाली और शक्ति देनेवाली होती है।

तथापि परमाणु हमें दिखाई नहीं देता, न ही उसकी हमारे लिए कोई उपयोगी है, तथापि वह हर छोटे-बड़े स्कंध का आधार है। इस दृष्टि से उसका महत्त्व कभी कम नहीं आंकना चाहिए।

स्कंध

परमाणु की विस्तृत विवेचना के पश्चात अब आप स्कंध को

समझें।

तदेकीभावः स्कन्धः।

तेषां द्वय्यद्यनन्तपरिमितानां परमाणूनामेकत्वेनावस्थानं स्कन्धः, यथाहृद्रौ परमाणु मिलितौ द्विप्रदेशी स्कन्धः, एवं त्रिप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी च।

दो से लेकर अनन्त तक के एकीभूत परमाणु स्कंध कहलाते हैं। यानी दो, चार, दस, सौ, हजार, करोड़..... करे। संख्येय, असंख्येय और अनंत परमाणुओं तक का एक स्कंध हो सकता है। दो परमाणुओं से मिलकर बननेवाला स्कंध द्विप्रदेशी स्कंध और तीन परमाणुओं से मिलकर बननेवाला स्कंध त्रिप्रदेशी स्कंध कहलाता है। इसी प्रकार दस प्रदेशी, हजारप्रदेशी, लाखप्रदेशी, करोड़प्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येय-प्रदेशी और अनंतप्रदेशी स्कंध होते हैं। जैसा कि मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूँ, हमें केवल अनंतप्रदेशी स्कंध दिखलाई देता है। उससे छोटे स्कंध हमारी दृष्टि के विषय नहीं बन पाते।

अब हमें यह समझना है कि स्कंध केवल परमाणुओं के एकीभाव से बनते हैं या किसी अन्य प्रकार से भी।

तद्भेदसंघातभ्यामपि।

स्कन्धस्य भेदतः संघाततोऽपि स्कन्धो भवति, यथाहृभिद्यमाना शिला, संहन्यमानाः तन्तवश्च।

परमाणुओं के एकीभाव/मिलन के अतिरिक्त स्कंधों के भेद से भी स्कंध बनते हैं। एक मोटा लकड़ है। दर्शन की भाषा में वह एक स्कंध है। उसे तोड़ कर दो, चार, पांच.....टुकड़े कर दिए गए। अब उनमें से प्रत्येक टुकड़ा एक स्कंध बन गया। बीस मीटर कपड़े का एक स्थान है। वह एक थान है। वह एक स्कंध है। अब एक-एक मीटर के बीच टुकड़े कर दिए गए तो प्रत्येक टुकड़ा एक स्कंध बन गया। स्कंध को तोड़ने से तब तक स्कंध बनते रहेंगे, जब तक वह परमाणु नहीं बन जाए। यानी जब तक दो प्रदेश अवशिष्ट हैं, तब तक वह स्कंध ही कहलाएगा।

प्रसंग जैन-रामायण का

जैन-रामायण में प्रसंग आता है कि राम के निदेशानुसार लक्ष्मण ने रावण पर चक्र चलाया। चक्र रावण के पास आया। रावण ने कहाह

‘चक्र! तू मेरे पास आया तो है पर मेरी मुट्टी की ताकत शायद नहीं जानता।’ किंतु नहीं रुका। वह आगे-से-आगे उसकी ओर बढ़ता ही रहा। तब रावण ने उस पर अपनी मुट्टी का प्रहार किया। नतीजा यह आया कि चक्र के दो टुकड़े हो गए। दो टुकड़े कया हुए, दो चक्र हो गए। जब तो और भी कठिन समस्या खड़ी हो गई। उसे दो चक्रों में मुकाबला करना पड़ा। उसने दोनों मुट्टियों से उन पर प्रहार किया। परिणामतः वे चार हो गए। अब उसने ज्यो-ज्यों उन चक्रों पर प्रहार किया, त्यों-त्यों वे चक्र बढ़ते ही गए।

घटना लंबी है। पर चूंकि यहां अप्रसंगिक हो जाएगी, इसलिए मैं इसे यहीं समाप्त करता हूं। इसके माध्यम से मैं आपको मात्र यह बताना चाहता हूं कि स्कंध के भेद से भी स्कंध बनते हैं

स्कंध बनने का एक अन्य प्रकार हैहस्कंधों का परस्पर मिलन। दो, चार, सौ, हजार.....स्कंध परस्पर एकीकृत होकर भी स्कंध का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थहयह पट्ट आपके सामने है। यह एक स्कंध है। यह लकड़ी की अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों से मिलकर बना है। ये जितने टुकड़े हैं, वे सब अलग-अलग स्कंध हैं।

कैसे बनता है परमाणु

आप पूछ सकते हैं, क्या स्कंध तरह परमाणु भी बनता है। एक दृष्टि से परमाणु नहीं बनता। पर चूंकि स्कंध के टूटते-टूटते जो अन्तिम अविभाज्य खंड बच जाता है, वह परमाणु है, अतः बोलचाल में हम कह सकते हैं कि परमाणु बनता है। उदाहरणार्थहलड्डू टूटा और उसकी बूंदियों अलग-अलग बिखर गईं। जिस प्रकार एक-एक बूंदी मिलकर एक लड्डू बना था, उसी प्रकार लड्डू के टूटने से बहुत-सी बूंदियों बन गईं। परमाणु बनने का यह एकमात्र प्रकार है। इसके सिवाय और किसी प्रकार से परमाणु नहीं बनता।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि स्कंध परमाणुओं के एकीभाव को ही कहते हैं या अन्य किसी प्रकार की?

अविभागिनि अस्तिकायेऽपि स्कन्धशब्दो व्यवहियते, यथा-धर्मा-धर्माकाशजीवास्तिकायाः स्कन्धाः

जैन-दर्शन में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय और जीवास्तिकाय को भी स्कंध कहा गया है। यहां हमें यह समझना है कि

परमाणुओं के एकीभाव के अतिरिक्त अविभागी अस्तिकायों के लिए भी स्कंध शब्द का व्यवहार हुआ है।

स्कंध दो प्रकार के हैं १. स्वाभाविक २. कृत्रिम।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय स्वाभाविक स्कंध हैं, क्योंकि ये सदा-सदा से बने हुए हैं। पुद्गलास्तिकाय के स्कंध कृत्रिम हैं। वे बनते रहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायहइन तीनों का एक-एक स्कंध है। जीवास्तिकाय में प्रत्येक जीव का एक स्कंध है। पुद्गलास्तिकाय के स्कंध अनंत हैं।

पुद्गल के प्रकार

आपने यह समझ लिया कि पुद्गल अनन्त हैं। अब आपको यह जानना है कि पुद्गल के कितने विभाग हैं। जैनहृदर्शन में पुद्गल के पांच विभाग किए गए हैं १. मनोवर्गणा २. वचना वर्गणा ३. काय वर्गणा ४. श्वासोच्छ्वास वर्गणा ५. कार्मण वर्गणा।

मन रूप में प्रयुक्त होनेवाली सजातीय पुद्गल-समवाय को मनोवर्गणा कहा जाता है। जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि हम मन से जो कुछ भी चिंतन-मनन करते हैं, उसमें पुद्गलों का अनिवार्य सहयोग अपेक्षित है हम मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण करके ही चिंतन-मनन कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। मानसिक चिंतन की तरह हमारे बोलने में जो पुद्गल-समूह काम आता है, उसे वचन वर्गणा कहा जाता है। वचन वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण किए बिना हम एक शब्द भी नहीं बोल सकते। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर के रूप में काम आनेवाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम काय वर्गणा है। श्वासोच्छ्वास और कर्म-बंधन के रूप में काम आने वाले पुद्गल-समूह क्रमशः श्वासोच्छ्वास वर्गणा और कार्मण वर्गणा कहलाते हैं।

दीर्घ श्वास का मूल्य

श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों की बात मैंने अभी बताई। इस सन्दर्भ में एक बात और ज्ञातव्य है। यद्यपि वह विषय से सीधी संबद्ध तो नहीं है, तथापि आप लोगों के लिए बहुत उपयोगी है, इसलिए प्रसंगवश उसे बता ही देना चाहता हूँ।

हम सब श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं। हम ही क्यों, संसार का छोटा-बड़ा प्रत्येक प्राणी यह क्रिया अनिवार्य रूप से करता है। पर मुझे लगता है कि श्वास लेना बहुत कम लोग जानते हैं। वह हमारे जीवन के लिए जितना उपयोगी है, उतनी ही उसके प्रति उपेक्षा बरती जाती है यदि व्यक्ति श्वासोच्छ्वास के प्रति जागरूक हो जाए तो उसका जीवन ही रूपांतरिक हो जाए।

हमें सदा दीर्घ श्वास लेना चाहिए। जिसने दीर्घ श्वास लेना सीख लिया, मानना चाहिए कि उसने दीर्घ जीवन का नुस्खा प्राप्त कर लिया। आप ध्यान दें, प्राणायाम के साधक प्रायः दीर्घजीवी हुए हैं। प्राणायाम शब्द प्राण और आयाम इन दो शब्दों के योग से बना है। प्राणायाम का अर्थ है श्वास का दीर्घीकरण, श्वास-प्रश्वास की गति का नियमन। यह कोई बहुत कठिन बात नहीं है। अभ्यास के द्वारा यह स्थिति निर्मित की जा सकती है। आप स्यं इसका प्रयोग एवं अभ्यास करके देखें। आपको इसके लाभ का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा।

आप पूछेंगे कि श्वास को किस सीमा तक लंबाना चाहिए। इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है। पर एक बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि श्वास लंबाने में जबरदस्ती कभी नहीं करनी चाहिए। यानी सहजरूप से श्वास जितना दीर्घ हो सके, उसे उतना दीर्घ करना चाहिए। बलात-श्वास को दीर्घ करना खतरे से खाली नहीं है। आप घड़ी सामने रखकर अपने श्वास की गति को ओर ध्यान दें। संभवतः आपको एक मिनट में १८-२० श्वास आएंगे। अब आप संकल्पपूर्वक दीर्घ श्वास का अभ्यास शुरू करें। कुछ समय के अभ्यास से आप अनुभव करेंगे कि आपका श्वास दीर्घ होने लगा है। श्वासों की संख्या एक मिनट में १८-२० से घटकर १४-१६ रह गई है। अभ्यास की परिपक्वता के साथ यह संख्या क्रमशः घटते-घटते १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, तक पहुंच सकती है। दीर्घकालीन अभ्यास के बाद एक मिनट में एक श्वास की स्थिति भी निर्मित हो सकती है।

हमारे जीवन में दीर्घ श्वास का बहुत बड़ा महत्त्व है। मैं तो यहां तक कहता हूँ कि जिसने अपने श्वास पर नियंत्रण करना सीख लिया, उसने अपने शरीर और मन पर नियंत्रण करना सीख लिया। आप ध्यान दें, चाहे कोई शारीरिक बीमारी हो या काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, भय

जैसा कोई मानसिक आवेग हो, उस स्थिति में व्यक्ति का श्वास अस्वाभावितक/चंचल बन जाता है। श्वासों की संख्या आवे की तीव्रता के अनुपातानुसार बहुत बढ़ जाती है।

क्रोध-विजय का उपाय

क्रोध की बीमारी से कौर पीड़ित नहीं है? क्रोध पर विजय प्राप्त करने के लिए श्वास-संयम का प्रयोग बहुत उपयोगी है। जिस समय आपको क्रोध आए, उस समय आप अपने श्वास पर ध्यान दें। आप पाएंगे कि आपका श्वास स्वाभाविक नहीं रहा है। उसकी गति बढ़ गई है। यदि उस समय आप अपने श्वास की दीर्घ कर स्वाभाविक स्थिति में ला सकें तो निश्चित ही आप क्रोध-विजय के प्रयास में सफल हो सकेंगे।

एक व्यक्ति डॉक्टर के पास गया और बोलाह 'डॉक्टर साहब ! मुझे क्रोध बहुत आता है। आप कोई ऐसी दवा दें, जिससे क्रोध न आए।' डॉक्टर लोग शारीरिक बीमारी को मिटाने की दवा तो दे सकते हैं, पर क्रोध-जैसी मानसिक बीमारी की दवा प्रायः उनके पास नहीं होती। पर वह डॉक्टर बड़ा अनुभवी था। उसने उस मरीज को एक भरी हुई बोतल देते हुए कहाह 'जिस समय तुम्हें क्रोध आए, तत्काल इस बोतल को खोलकर दवा मुंह में ले लेना। पर ध्यान रखना-दवा कुछ समय तक मुंह में ही रखनी है, निगलनी नहीं है।'

वह मरीज बोतल लेकर घर आ गया। अब जैसे ही उसे क्रोध आता, वह बोतल खोलकर दवा मुंह में ले लेता। दवा से मुंह भर जाने से देखते-देखते ही उसका क्रोध विदा हो जात है। इससे उस व्यक्ति को बड़ी राहत मिली। उसके मन में विचार आयाह डॉक्टर ने तो गजब की दवा दी है, जो महीनों, दिनों, घंटों व मिनटों में नहीं, अपितु सेकंडों में ही अपना असर दिखा देती है।

बन्धुओ! उस दवा के प्रति आप भी जिज्ञासु होंगे। आपको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि उस बोतल में दवा के नाम पर केवल पानी था। पर होता यह था कि ज्यों ही उस व्यक्ति का मुंह पानी से भरता कि श्वास बंद हो जाता, और श्वास बंद हुआ कि क्रोध विदा हो जाता है।

बहुत-से लोग पूछते हैं कि क्रोध शांत कैसे किया जाए। मैं कोई डॉक्टर नहीं हूँ, तथापि उन्हें उपाय सुझाता हूँ। मैं कहता हूँ, जिस समय

गुस्सा आए, उस समय कुछ क्षणों के लिए श्वास-निरोध की आदत डालो। पर कठिनाई यह है कि जब क्रोध का उन्माद आदमी पर छाता है, उसे श्वास-निरोध की बात याद ही नहीं रहती। इसके बावजूद यह निश्चित है कि जो व्यक्तित्व संकल्पपूर्वक श्वास-निरोध का अभ्यास व प्रयोग करता है, वह अवश्यमेव लाभान्वित होता है। श्वास को सर्वथा रोकना यदि एकाएक कठिन हो तो श्वास-दर्शन करते हुए एक-एक श्वास को गिनना भी बड़ा लाभकारी सिद्ध होता है।

क्रोध को ही क्यों, अन्यान्य सभी प्रकार के आंतरिक आवेगों को शांत करने के लिए श्वास-दर्शन व श्वास-संयम का प्रयोग रामबाण औषध है। जब-कभी व्यक्ति को वासना सताए, तब तत्काल यदि वह उपर्युक्त प्रयोग करे तो निश्चय ही उसे वासना-विजय में सफलता प्राप्त होगी। यह प्रयोगसिद्ध बात है कि धधकते अंगारों से भरे बर्तन को जब ढक्कन से दिया जाता है तो अंगारे बुझ जाते हैं। कारण यह कि उनको हवा मिनी बंद हो जाती है। जब बाहर की अग्नि बाहर की हवा के आभाव में शांत हो जाती है, तब अंदर की यह आग (काम-वासना) अंदर की हवा (श्वास) के अभाव में शांत कैसे नहीं होगी?

गंगाशहर

२८ जुलाई १९७८

१६ : परमाणु-संश्लेष की प्रक्रिया

परमाणु और स्कंध की चर्चा कल मैंने की। यह तो आपने जाना कि परमाणुओं के मिलने से स्कंध बनता है। पर ये परमाणु परस्पर कैसे मिलते हैं, यह बात अभी तक बहुत-से लोग शायद नहीं जानते। क्या कोई भी परमाणु अन्य किसी परमाणु से सहजरूप में मिल जाता है या उसके मिलने की कुछ विशेष परिस्थितियां होती हैं, इस विषय का जैन-दर्शन में बड़ा सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है।

स्निग्ध और रूक्ष

स्निग्धरूक्षत्वाद् अजघन्यगुणानाम्।

अजघन्यगुणानाम्हाद्विगुणादिस्निग्धरूक्षाणां परमाणूनां तद्विषमैः
समैर्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षैः परमाणुभिः समं स्निग्धरूक्षत्वाद्धे-
तोरेकीभावो भवति न तु एकगुणानामेकगुणैः सममित्यर्थः।

अयं हि विसदृशापेक्षया एकीभावः।

सबसे पहले आप से बात को समझें कि परमाणुओं के परस्पर मिलने का मूल हेतु स्पर्श है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, स्पर्श के रूक्ष और स्निग्ध-ये दो प्रकार हैं। अब सवाल उठ सकता है, क्या दोनों से एकीभाव होता है या केवल एक से, और यदि एक से ही होता है तो वह रूक्ष से होता है या स्निग्ध से। इस प्रश्न का समाधान यह है कि मूलतः परमाणुओं का एकीभाव स्निग्धता के कारण होता है। आप देखते हैं कि दीवाल पर यदि चिकनाहट है तो रजकरण आ-आकर उस पर चिपक जाते हैं। अन्यथा रजकण आ तो सकते हैं पर चिपकते नहीं। यही बात परमाणुओं के एकीभाव पर लागू होती है। पर इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल स्निग्धता से भी एकीभाव नहीं हो सकता। स्निग्धता के साथ-साथ थोड़ी रूक्षता भी चाहिए। आप कोई मिठाई बना रहे हैं। यदि समें बहुत ज्यादा घी डाल दिया तो क्या वह

बंध सकती है? नहीं बंध सकती। बंधने के लिए स्निग्धता जरूरी है। पर वह एक सीमा तक ही जरूरी है। यदि स्निग्धता-ही-स्निग्धता हो और रूक्षता बिलकुल न हो तो वह मिठाई बंध नहीं सकती। तत्त्व यह है कि स्निग्धता के साथ-साथ एक सीमा तक रूक्षता भी जरूरी है।

परमाणुओं के परस्पर एकीभाव के संबंध में शास्त्रों में बताया गया है कि अजघन्य गुणवाले अर्थात् दो या दो से अधिक गुणवाले स्निग्ध एवं रूक्ष परमाणु क्रमशः अजघन्य गुणवाले रूक्ष एवं स्निग्ध परमाणुओं से मिलते हैं। यदि परमाणु जघन्य गुणवाले (एक गुणवाले) हैं तो उनका कभी परस्पर एकीभाव नहीं होता। अर्थात् परमाणुओं के मिलने में एक परमाणु कम-से-कम द्विगुण रूक्ष एवं दूसरा द्विगुण स्निग्ध अवश्य चाहिए।

सम और विषम परमाणु

यहां यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या सम गुणवाले परमाणु ही परस्पर मिलते हैं यह विषम गुणवाले परमाणु भी परमाणुओं के मिलने में गुणों की संख्या का सम होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। सम गुणवाले परमाणु परस्पर मिल सकते हैं तो विषम गुणवाले परमाणु भी परस्पर एकीभूत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ एक परमाणु द्विगुण स्निग्ध है और दूसरा त्रिगुण रूक्ष है तो उनका परस्पर एकीभाव हो जाएगा। इसी प्रकार एक परमाणु द्विगुण रूक्ष है और दूसरा परमाणु त्रिगुण स्निग्ध है तो उनका भी परस्पर एकीभाव हो जाएगा। सारांश यही है कि परमाणु चाहे विषम गुणवाले हों या सम गुणवाले उनका परस्पर संबंध हो जाता है। केवल एक शर्त है कि वे सब अजघन्य गुणवाले होने चाहिए। पूछा जा सकता है, क्या जघन्य गुणवाले भी परमाणु होते हैं? हां, बहुत होते हैं और उनका कभी परस्पर एकीभाव नहीं हो पाता।

परमाणुओं के परस्पर मिलने के संबंध में एक प्रश्न और पूछा जा सकता है कि क्या स्निग्ध परमाणुओं के साथ स्निग्ध परमाणुओं काह तथा रूक्ष परमाणुओं के साथ रूक्ष परमाणुओं का एकीभाव हो सकता है।

द्व्यधिकादिगुणत्वे सदृशानाम्।

अजघन्यगुणानां सदृशानां स्निग्धैः सह स्निग्धानां रूक्षैः सह रूक्षानां च परमाणूनाम्, एकत्र द्विगुणस्निग्धत्वम्, अन्यत्र चतुर्गुणस्निग्धत्वमितिरूपे द्व्यधिकादिगुणत्वे सति एकीभावो भवति, न तु समानगुणानामेकाधिकगुणानाञ्च। उक्तञ्च

निद्धस्स निद्धेण दुआहियेण लुक्खस्स लुक्खेण दुआहियेण।

निद्धस्स लुक्खेण उवेई बंधो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा।।

हां, स्निग्ध परमाणुओं के साथ स्निग्ध परमाणुओं का तथा रूक्ष परमाणुओं के साथ रूक्ष परमाणुओं का एकीभाव हो सकता है। पर होता उसी स्थिति में है, जब परस्पर मिलनेवाले परमाणुओं में द्विगुण या उनसे अधिक गुणों का अंतर हो। उदाहरणार्थह्रदो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण अथवा उनसे अधिक गुण स्निग्ध परमाणु के साथ संबंध होता है। इसी प्रकार रूक्ष परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ संबंध होने के लिए कम-से-कम दो गुणों का अंतर अवश्यंभावी है।

गंगाशहर

२९ जुलाई १९७८

१७ : काल

छह द्रव्यों की व्याख्या के अंतर्गत धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का विवेचन आप सुन चुके हैं। आज मैं काल के बारे में कुछ बताऊंगा। यद्यपि पुद्गल की तरह काल को हम देख तो नहीं सकते, तथापि उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। हालांकि यह ठीक है कि वह एक औपचारिक द्रव्य है, वास्तविक नहीं, फिर भी वह हद्रव्य तो है ही, यह हमें मानना होगा। छहद्रव्यों में उसको बराबर का स्थान प्राप्त है।

कालः समयादिः ।

*निमेषस्यासंख्येयतमो भागः समयः, कमलपत्रभेदाद्युदाहरणलक्ष्यः ।
आदिशब्दात् आवलिकापद्यश्च । उक्तञ्चह*

**समयावलियुमुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमाया य ।
संवच्छरजुगपलिया, सागरओसप्पिपरियट्ठा ॥**

काल की सबसे छोटी इकाई

समय आदि को काल कहते हैं। समय काल काल का सबसे छोटा भाग है। एक बार आंख झपकने यानी एक निमेष में असंख्य समय होते हैं। दूसरे शब्दों में निमेष का असंख्यातवां भाग समय है। समय की सूक्ष्मता को समझने के लिए कमलपत्रभेद और जीर्ण वस्त्र फाड़नाहये दो उदाहरण दिए गए हैं।

कमलपत्र-भेदहसौ कमल के पत्ते एक-दूसरे से सटे हुए हैं। कोई व्यक्ति सूई से उन्हें छेद देता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सारे पत्ते एक साथ छेदे गए हैं। किन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। पहला पत्ता जिस समय छेदा गया, उस समय दूसरा पत्ता नहीं दूसरा पत्ता जिस समय छेदा गया, उस समय तीसरा नहीं। इस प्रकार सब पत्ते क्रमशः अलग-अलग छेदे गए हैं।

दूसरा उदाहरण जीर्ण वस्त्र को फाड़ने का है। एक व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण कपड़े को शीघ्रता से फाड़ डालता है। इतनी शीघ्रता से कि प्रत्यक्षदर्शी को ऐसा लगता है कि पूरा वस्त्र एक साथ ही फाड़ा गया है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। जब तक ऊपर का पहला तन्तु नहीं फटता, जब तक नीचे का दूसरा तन्तु नहीं फट सकता। अतः यह निश्चित है कि कपड़े के फटने से कालभेद अवश्य रहता है। वस्त्र अनेक धागों से मिलकर बनता है। प्रत्येक धागे में भी अनेक रोएं होते हैं। उनमें भी ऊपर का रोआं पहले छिदता है, उसके बाद उसके नीचे का रोआं, उसके बाद उसके नीचे का, उसके बाद.....इस प्रकार एक-एक रोआं छिदते-छिदते पूरा धागा और एक-एक धागा छिदते-छिदते पूरा कपड़ा फटता है।

कमल के पहले पत्ते तथा तंतु के पहले रोएं के छेदन में जितना समय लगता है, उसका अत्यंत सूक्ष्म यानी असंख्यातवां भाग समय कहलाता है।

काल के विभिन्न विभाग

समय काल का सबसे छोटा और पुद्गलपरावर्तन काल का सबसे बड़ा भाग है। समय और पुद्गलपरावर्तन के बीच आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्व, पल्योपम, सागर कालचक्र आदि काल के विभिन्न विभाग हैं।

असंख्य समय की एक आवलिका होती है। (१६७७७२१६) एक करोड़ सड़सठ लाख सत्तर हजार दो सौ सोलह आवलिकाओं का एक मुहूर्त्त और तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र (दिन-रात) होता है। पंद्रह दिन का एक पक्ष और दो पक्षों का एक माह होता है। दो माह की एक ऋतु और तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयनों का एक साल और पांच साल का एक युग होता है। सत्तर कोड़ाकाड़, छप्पन लाख करोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है। असंख्यात वर्ष का एक पल्योपम और दस कोड़ाकोड़ पल्योपम का एक सागर होता है। बीस कोड़ाकोड़ सागर का एक कालचक्र (अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी) होता है। अनंत कालचक्र का एक पुद्गलपरावर्तन माना गया है।

बीता समय वापस नहीं आता

बंधुओ! काल-विभाग का यह संक्षिप्त विवेचन मैंने आपके सामने

प्रस्तुत किया। काल सतत प्रवहमान है। गया हुआ काल वापस नहीं आता, जबकि खोया हुआ धन वापस मिल सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः मिल सकता है, खोई हुई इज्जत भी कठिनाई से वापस मिल जाती है। और तो क्या, सफेद केश भी पुनः काले हो सकते हैं, गिर हुए दांत भी फिर आ सकते हैं।

मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कन्हू चौधरी। उसकी वय एक सौ आठ वर्ष की थी। महाराज गंगासिंहजी ने उसे कंठी बख्शिशा करके अपने राज्य के वृद्धतम व्यक्ति के रूप में सम्मानित किया था। वह पूज्य गुरुदेव कालूगणी के दर्शनार्थ आया। पूज्य कालूगणी ने पूछा 'कन्हू ! तेरे दांत तो सारे गिर गए होंगे ?' कन्हू ने करबद्ध निवेदन किया 'हां, महाराज ! एक बार तो सारे ही गिर गए थे, पर अब पुनः नए आ गए हैं' इसके साथ ही उसने अपना मुंह खोलकर दिखलाया। सचमुच उसके नए दांत आ रहे थे। इसी प्रकार बिलकुल सफेद बने उसके केश, अब पुनः काले होने शुरू हो गए थे।

हां, तो मैं आपसे बता रहा था कि धन, संपत्ति स्वास्थ्य आदि सब-कुछ पुनः प्राप्त हो सकता है, पर बीता हुआ काल किसी कीमत पर लौट कर नहीं आता। आपमें से किसी भाई-बहिन के पास यदि कोई ऐसी विद्या या शक्ति हो, जिससे की बीते हुए काल को लौटाया जा सके तो वह मुझे भी बताए। मैं उसे ग्राहक-बुद्धि से स्वीकार करूंगा। पर मैं निश्चित जानता हूँ कि आप ही क्या, संसार का कोई व्यक्ति ऐसी विद्या या शक्ति से सम्पन्न नहीं है।

चिंता नहीं, चिंतन करें

काल बीतता जा रहा है, इसकी हमें कोई चिंता नहीं होनी चाहिए। हमें तो इसे बात का चिंतन करना है कि यह काल किस प्रकार बीतता है। भगवान महावीर ने कहा

जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।

अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥

जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

ह जो-जो रातें बीत रही हैं, वे लौटकर नहीं आतीं। अधर्म करनेवालों की रात्रियां निष्फल चली जाती हैं। इसके ठीक

विपरीत धर्म करनेवालों की रात्रियां सफल होती हैं।

भगवान की इस वाणी के परिप्रेक्ष्य में आप लोग इस बिंदु पर गंभीरतापूर्वक विचार करें कि आपका जीवन किस प्रकार व्यतीत हो रहा है। यदि आपका समय सत्य, शील, संतोष, समता, मैत्री...की आराधना में व्यतीत हो रहा है, तब तो आपके जीवन की सार्थकता है। फिर आपको बीते हुए काल के लिए किंचित भी अफसोस नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका सार आपने निकाल लिया। पर इसके विपरीत यदि आपका अमूल्य समय हिंसा, शोषण, कलह, हास्य, चुगली, आलोचना-प्रतयालोचना, निठल्लेपन...में बीतता है तो अवश्य ही चिंता की बात है। सचमुच जीवन के कीमती क्षणों को इन बातों में खोना एक बहुत बड़ी निधि से हाथ धोना है। जो लोग ऐसी जिंदगी जीते हैं, उन्हें देखकर कई बार मेरे मन में विचार आता है, क्या ही अच्छा हो कि इनका सारा-का-सारा समय मुझे मिल जाए, क्योंकि मेरे पास इतना काम है कि दिन-रात व्यस्त रहने के बावजूद कभी पूरा नहीं होता, वह आगे-से-आगे तैयार रहता है। यों मैं तो मानता हूँ कि व्यक्ति के सामने काम आगे-से-आगे बना ही रहना चाहिए। जिस व्यक्ति के सामने करणीय कार्य नहीं है, वह व्यक्ति किस काम का !

खणं जाणहि

भाइयो ! आप निश्चित मानें, हमारी जिंदगी में एक मिनिट का भी काई भरोसा नहीं है। एक श्वास आया, पर दूसरा श्वास आएगा या नहीं, इसका किसी को पता नहीं है। एक पैर यहां रखा, पर दूसरा पैर रखा जाएगा या नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं है। हमारे युवक भाई जरा सोचें। मैं मानता हूँ, उनकी अवस्था जवान है। उनका जोश भी जवान है। उनकी कर्मजा शक्ति भी जवान है। साथ ही उनका अहं भी जवान है। वे शायद सोचते हैं कि मरनेवाले दूसरे ही हैं। हम तो सदा अमर रहेंगे। पर उनको मैं सजग करना चाहता हूँ कि काल समवर्ती है। वह बच्चों, बूढ़ों और जवानों पर समान रूप से वर्तता है। इसलिए भगवान महावीर ने कहाहसमयं गोयम ! पमायएहहे गौतम ! तू एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत कर। सचमुच ही अप्रमाद का यह एक बहुत गहरा सूत्र है। जो व्यक्ति काल के प्रति जागरूक हो जात है, वह फिर करणीय कार्य करने में एक क्षण का भी प्रमाद नहीं कर सकता। यानी आज करने का कार्य

कलह के लिए वही व्यक्ति छोड़ सकता है, जो काल के प्रति जागरूक नहीं है। आगम की भाषा हमें

**जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वडत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सया ॥**

हू तीन ही प्रकार के व्यक्ति कल करने की बात कर कह सकते हैं। जिनका मौत के साथ मैत्री हो या जो मौत के आगमन पर पलायन करने में समर्थ हो या जो यह जानते हो कि हम सदा अमर रहेंगे। इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई व्यक्ति करणीय कार्य करने के लिए कल की बात नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह है कि काल का आगमन हर व्यक्ति के लिए अवश्यंभावी है। इसलिए जिस क्षण व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाए, उसी क्षण से उसे धर्म की आराधना के लिए जागरूक बन जाना चाहिए। फिर एक क्षण का भी प्रमाद करना उसके लिए समझदारी की बात नहीं है। आप देखें, संसार में जितनी भी ऊंची आत्माएं हुई हैं, उन्होंने काल की स्थिति समझते हुए ध-वैभव, परिवार.....को तिलांजलि देकर संयम-आराधना का पथ अंगीकार किया है।

प्रसंग थावच्चापुत्र का

ज्ञाताधर्मकथा में थावच्चापुत्र का घटना-प्रसंग आता है। वह सेठानी थावच्चा का पुत्र था। उसके नाम से उसे थावच्चापुत्र की अभिधा से संबोधित किया जाता था थावच्चापुत्र की वृत्ति बचपन से ही धार्मिक थी। एक बार द्वारिका में तीर्थकर अरिष्टनेमि का पर्दापण हुआ। हजारों-हजारों लोग उनके उपदेशामृत से लाभान्वित होने के लिए उपस्थित हुए। भगवान अरिष्टनेमि ने अपने प्रवचन में मानव-जीवन की दुर्लभता एवं संसार की निस्सारता का बोध कराते हुए जन-जन को आत्म-संयम की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। उपदेश से प्रभावित होकर लोगों ने यथाशक्ति महाव्रत और अणुव्रत स्वीकार किए। थावच्चापुत्र भी भगवान के *समवसरण* में उपस्थित था। भगवान के उपदेशामृत से उसका हृदय आर्द्र हो गया। उसके मन में संसार से विरक्ति हो गई और वैराग्य के अंकुर फूट पड़े। अवसर देखकर वह भगवान अरिष्टनेमि के श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। बद्धांजलि मुद्रा में उसने भगवान से निवेदन कियाहू“भंते !

मैंने संसार की नश्वरता को समझी है, मनुष्य-जीवन की कीमत आंकी है। अब मैं आपके चरणों में संयम-जीवन स्वीकार कर आत्म-कल्याण करना चाहता हूँ। भगवान अरिष्टनेमि ने कहाह 'अहासुहं' जैसा तुम्हें सुखकर हो, जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।'

उन्हीं पैरों वहां से चलकर वह माता थावच्चा के पास आया और प्रणाम कर बोलाह मां ! आज मैं भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण में गया था।' थावच्चा ने उसका मस्तक सहलाते हुए कहाह 'पुत्र ! तूने अच्छा किया।' थावच्चापुत्र बोला मां ! 'मैं वहां गया ही नहीं, अपतु मैंने भगवान का प्रवचन भी सुना।' थावच्चा बोलीहबेटा ! यह तो तूने बहुत ही अच्छा किया।' भाव-विभोर होता हुआ थावच्चा पुत्र बोलाह 'मां ! मुझे भगवान का प्रवचन बड़ा मार्मिक और प्रिय लगा।' थावच्चा बोलीहबेटा ! तू अत्यंत सौभाग्यशाली है। अन्यथा प्रथम तो भगवान के दर्शन नहीं होते, धर्म की वाणी सुनने को नहीं मिलती। कदाच मिल जाती है तो उस पर प्रतीति नहीं होती, वह प्रिय नहीं गलती। अच्छा, अब तू प्रतिदिन भगवान का प्रवचन सुना कर।' थावच्चापुत्र बोलाह 'ठीक है मां ! अब मैं प्रतिदिन प्रवचन सुना करूंगा। तू मुझे आज्ञा दे, मैं भगवान का शिष्य बन जाऊं।' थावच्चा ने कहाह 'ना-ना, वत्स ! यह शिष्य बनने की बात किसने बताई? मैं तुझे इसकी आज्ञा नहीं दूंगी।' थावच्चा पुत्र ने कहाह 'मा ! अभी तूने ही तो कहा था कि उनका प्रतिदिन प्रवचन सुना कर।' थावच्ची बोलीह 'हां, प्रवचन सुनने के लिए कहा था, उनका शिष्य बनने के लिए नहीं कहा था।' उनका शिष्य बनने के लिए नहीं कहा था।'

बंधुओ! मैं नहीं समझता कि लोगों के प्रवचन सुनने का उद्देश्य क्या है। यदि प्रवचन मात्र सुनने के लिए है, उसका जीवन में कोई फलित नहीं हैह तो मानना चाहिए कि उसके श्रवण का बहुत लाभ नहीं है। वास्तव में प्रवचन सुनने का उद्देश्य तभी फलित होता है, जब प्रवचन की बातें जीवन-व्यवहार में उतारी जाएं। आज युवा-वर्ग में धर्म के प्रति अरुचि और अनास्था का भाव उभर रहा है। इसका एक बहुत बड़ा कारण तथाकथित धार्मिकों का जीवन है। उनका जीवन-व्यवहार उसके (युवा-वर्ग के) धर्म के प्रति आकृष्ट होने में बाधक बन रहा है। यदि यह भी कहा जाए तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनका जीवन-व्यवहार नई पीढ़ी में धर्म के प्रति अनास्था और अरुचि पैदा होने का एक प्रमुख कारण है। आजकल के तथाकथित धार्मिक क्रियाकांड, प्रवचन-श्रवण

आदि तो अवश्य करते हैं, पर धर्म करने के पश्चात भी वही गुस्सा, वही छल-प्रपंच, वही दुकान में बैठकर ग्राहकों के साथ धोखा, वही शोषण और अन्याय ! ऐसी स्थिति में आज का बौद्धिक एवं चिंतनशील युवक यदि धर्म के प्रति आकृष्ट न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हाँ, आकृष्ट होता है तो आश्चर्य अवश्य है।

सेठ अद्वैतवादी था। प्रतिदिन अद्वैत पर प्रवचन सुनता। एक दिन उसका बेटा भी प्रवचन सुनने के लिए चला गया। पंडितजी ने अद्वैतवाद का बहुत तपस्पर्शी विवेचन किये। **एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति.....उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।**..... बेटा बहुत प्रभावित हुआ। वहाँ से चलकर वह दुकान आया। दुकान अनाज की थी। दुकान पर बैठे उसे थोड़ी ही देर हुई होगी कि एक गाय वहाँ आई और दुकान में रखे अनाज को खाने लगी। बेटे ने गाय को देखा, पर उसे हटाने का कोई प्रयास नहीं किया। उसने सोचा कि अभी-अभी मैं प्रवचन में सुनकर आया हूँ कि इस जगत में न कोई अपना है और न कोई पराया। पशु और मनुष्य में कोई अंतर नहीं है। सब एक ब्रह्म के ही रूप हैं। अनाज मैं खाऊँ या गाय खाए, एक ही बात है। जैसा मेरा शरीर है, वैसा ही इसका शरीर है।.....

संयोग से दो-चार मिनट बाद ही सेठ दुकान की ओर आया। दूर से उसने देखा-गाय दुकार का अनाज खा रही है और बेटा हाथ-पर-आथ दिए देख रहा है। उसने अपनी चाल तेज की। यथाशीघ्र दुकान पहुँचा। झट हाथ में लट्टी संभाली। गाय के दो-चार लट्टियाँ जमाकर उसे दूर भगाया और आंखें लाल रकता हुआ बेटे से बोला कि 'ओ बकूफ ! बैठा-बैठा क्या देख रहा था ! गाय अनाज खा रही थी और तूने उसे हटाया तक नहीं।' बेटे ने अत्यंत विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि 'पिताजी ! अभी तो हम प्रवचन सुनकर आए थे कि पशु और मनुष्य एक ही है। हमारे और उनमें कोई अंतर नहीं है। इस स्थिति में अनाज हम खाएँ या गाय खाए, दोनों एक ही तो बात है। सेठ ने झिड़कते हुए कहा कि 'ये उपदेश की बातें मुझे बताना रहने दे। ये उपदेश तो मैंने तेरे से बहुत ज्यादा सुने हैं। पर ये उपदेश धर्मस्थानों में सुनने के लिए होते हैं, यहाँ दुकान पर लाने के लिए नहीं होते। यदि इन उपदेशों को दुकान पर लाया गया तो हमारा धंधा चौपट हो जाएगा।'

बंधुओ! कितना करारा व्यंग्य है यह आज के धार्मिक जीवन पर! माता-पिता तथा बुजुर्गों के लंबे धार्मिक जीवन की उपलब्धियों को देखकर उनके बच्चे धर्म को अफीम या दकियानुसी विचार समझने लगे हैं। वे ऐसे धर्म की जीवन के लिए कोई उपयोगिता नहीं देखते।

मुझे कुछ समय पहले की एक घटना याद आ रही है। एक श्रावक ने अपने लड़के की शिकायत करते हुए कहाह 'महाराजा ! मेरे बेट का समझाइए धर्म के प्रति उसके मन में जरा-सी भी अभिरुचि नहीं है। जब भी मैं उसे धर्म की बात कहता हूँ तो वह कहता है कि मुझे नहीं चाहिए धर्म।' उसको आश्वस्त करते हुए मैंने कहाह 'ठीक है, कभी मौका लगेगा तो उससे बात करूंगा।'

संयोग से एक दिन वह लड़का मेरे पास आ गया। बातचीत के प्रसंग में मैंने उससे पूछाह 'धर्म के प्रति तुम्हारे मन में इतनी अरुचि क्यों? तुम धर्म से नफरत क्यों करते हो ?'

उसने चारों तरह सहमी-सहमी दृष्टि डाली कहीं पिताजी तो माजूद नहीं हैं। फिर निश्चित होकर बोलाह 'आचार्यश्री ! वास्तव में धर्म के प्रति मेरी कोई अरुचि नहीं। जीवन की पवित्रता में मैं विश्वास करता हूँ। पर सामायिक, पौषध, उपवास संत-दर्शन आदि में मेरी अभिरुचि नहीं है और इसके कारण हैंहमेरे पिताजी।' मैंने जरा विस्मय के साथ पूछाह 'पिजाजी कारण कैसे ?' अपना मन खोलते हुए उसने कहाह 'मेरे पिताजी धर्म-क्रिया करते-करते बूढ़े हो गए हैं। पर उनका स्वभाव व व्यवहार इतना विचित्र है कि मुझे बड़ा दुःख होता है। मुंह से दिन भर गालियां बोलते रहते हैं। गुस्सा तो इस सीमा तक है कि मुझे पीट देते हैं, मेरी माताजी को पीट देते हैं। मुझे कहे गए अपशब्द और गालियां तो खैर, मैं सहन कर सकता हूँ, अपनी मार भी सहन कर सकता हूँ, पर मेरी माताजी को कुछ भी कहा जाए या उन्हें पीटा जाए, यह मेरे बर्दाश्त करने की सीमा से बाहर की बात है। इस प्रकार वे स्वयं तो अशान्त रहते ही हैं, साथ ही पूरे परिवार के वातावरण को भी अशांत बनाए रखते हैं। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उभरता है कि जब इन्हें पचास वर्ष धर्म करते हो गए और इनके जीवन में कोई रूपांतरण घटित नहीं हुआ, इन्हें मानसिक शांति नहीं मिली, तब उस धर्म से हमारा क्या भला हो सकेगा। युवक को समाहित करते हुए मैंने कहाह 'तुम्हारे पिताजी

ने धर्म को सही अर्थ में नहीं समझा है, इसलिए उनके जीवन में रूपांतरण नहीं हुआ। यदि धर्म को वे सही रूप में समझते और अपनाते तो निस्संदेह उनका जीवन शांतिमय होता पर दूसरों को बदलना किसी के साथ की बात नहीं। स्वयं को ही बदला जा सकता है। अब तुम धर्म को सही रूप में अपनाकर आदर्श उपस्थित करो।’

बंधुओ! यह एक युवक की बात मैंने कही। पर आप इसे एक युवक की बात न ही समझें। मुझे लगता है कि काफी युवकों की आज लगभग ऐसी मनःस्थिति है। गहराई से अनुभव करने से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि वस्तुतः युवा पीढ़ी धर्म के प्रति उदासीन नहीं, अपितु तथाकथित धार्मिकता से नफरत करती है। धर्म का जो व्यावहारिक फलित उसके सामने आता है, वह निश्चय ही उसे आकर्षित कररेवाला नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है, यदि आज भी धर्म का सही रूप युवकों के सामने हो, पवित्रता, मानसिक शांति आदि के रूप में उसका व्यावहारिक फलित धार्मिकों के जीवन में परिलक्षित हो तथा धर्म के क्षेत्र में उन्हें सही मार्ग-दर्शन मिले तो वे इस क्षेत्र में भी बड़े उत्साह के साथ आगे आने के लिए तैयार हैं।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि जो लोग प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनते हैं, उनका हृदय परिवर्तित क्यों नहीं होता ! क्यों उनका मानस आद्र नहीं होता! मुझे लगता है कि ऐसे लोग केवल सुनने के लिए प्रवचन सुनते हैं, ग्राहक बुद्धि से नहीं सुनते। यदि ग्राहक बुद्धि से एक भी प्रवचन सुन लिया जाए तो उससे व्यक्ति का जीवन रूपांतरित हो सकता है, हृदय आर्द्र व वैराग्य भावना से परिपूर्ण हो सकता है।

हां, तो थावच्चापुत्र का हृदय भगवान अरिष्टनेमि के एक दिन के प्रवचन-श्रवण से आर्द्र हो गया। उसने माता से पुनः-पुनः दीक्षा की अनुमति प्रदान करने के लिए सविनय प्रार्थना की। माता ने साधु-जीवन की कठिनाइयों से परिचित करवाते हुए एवं भौतिक सुखों का प्रलोभन देते हुए उसे संयम-जीवन स्वीकार न करने की बात कही। पर आज जानते हैं कि जिसके मन में वैराग्य की तीव्रतम भावना जाग्रत हो जाती है, उसे साधु-जीवन की कठिनाइयां और भौतिक सुखों के प्रलोभन संयम-पथ पर आगे बढ़ने से रोक नहीं पाते। थावच्चापुत्र भी अपने विचारों में बिलकुल दृढ़ रहा और भिन्न-भिन्न प्रकार से माता के समक्ष अपना वैचारिक पक्ष

प्रस्तुत करता रहा। आखिर माता को जब यह विश्वास हो गया कि यह अब पूर्ण रूप से विरक्त हो गया है, संसार के क्षणिक सुखों में फंसनेवाला नहीं है तो उसने उसे दीक्षा की अनुमति दे दी।

वह घर से चल कर सीधी महाराज श्रीकृष्ण के दरबार में उपस्थित हुई और बोलीहूँ 'महाराज ! मेरा इकलौता लाडला पुत्र दीक्षित हो रहा है। मैंने उसके वैराग्य की जांच करने के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं। पर वह मेरी हर परीक्षा में उत्तीर्ण रहा है। अब मैं उसकी दीक्षा का समारोह करना चाहती हूँ। अतः आप मुझे समारोह के लिए आवश्यक लवाजिमाहधोड़ी, आभूषण, छत्र आदि दिलवाने की कृपा करें।' श्रीकृष्ण ने बड़े ध्यानपूर्वक उसकी बात सुनी और उसे निश्चिन्त करते हुए कहाहूँ 'तुम्हें इस संबंध में जरा भी चिंता करने की जरूरत नहीं, मैं स्वयं उसकी दीक्षा का समारोह मनाऊंगा।'

राजा जब स्वयं दीक्षा का समारोह मनाए, फिर प्रसन्नता का कहना ही क्या ! माता थावच्चा खुशी-खुशी घर लौट आई।

थोड़ी दे पश्चात श्रीकृष्ण स्वयं चलकर थावच्चा के घर पहुंचे। कुमार के रंग-लावण्य एवं चेहरे की आकृति देखकर उनको सहसा लगा कि यह कोई मनुष्य-पुत्र नहीं, अपितु अवश्य ही देवकुमार है। उन्हें बड़ा आश्चर्य तो इस बात का हुआ कि बचपन की इस छोटी अवस्था में इसने संयम के कठोर पथ पर बढ़ने का निर्णय किया है ! उसके विचारों की दृढ़ता को मापने की दृष्टि से उन्होंने उससे कहाहूँ 'कुमार ! तू दीक्षा मत ले। तेरे जीवन की सारी जिम्मेदारी मैं लेता हूँ। यह हवा तो तेरा स्पर्श करके अवश्य निकलेगी, इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का कष्ट मैं तेरे जीवन में नहीं आने दूंगा।' थावच्चापुत्र ने बहुत ही यौक्तिक ढंग से अपनी बात कहीहूँ 'आपने संरक्षण प्रदान करने की बात कहकर मेरे पर बड़ी कृपा की। मैं आपके आदेशानुसार दीक्षा नहीं लूंगा पर दो खतरों की तरफ से पहले आप मुझे आश्वस्त कर दें। मुझे अपनी जिंदगी में कभी बुढ़ापा न देखना पड़े और मैं कभी काल द्वारा ग्रसित न होऊँ।' श्रीकृष्ण कुमार की ज्ञान-भरी बात सुनकर चकित रह गए। वे बोलेहूँ 'इन दोनों खतरों को टाल सकूँ, यह सामर्थ्य मुझमें नहीं। मैं तो क्या साक्षात् तीर्थकरदेव भी इनकी अनिवार्यता को नहीं टाल सकते। इनको टालने का तो एकमात्र मार्ग हैहूँ संयम आराधना।' था वच्चापुत्र

अत्यंत विनम्रतापूर्वक बोलाहूँ 'प्रभो ! यही कार्य तो मैं करने जा रहा हूँ।'

यह घटना लंबी है। मैं इसे अभी अंबाना नहीं चाहता। मैं तो इतना-सा बताना चाहता हूँ कि काल को सफल बनाने का एकमात्र मार्ग हैहसंयम की आराधना, धर्म का आचरण। धर्म के सिवाय इस संसार में हमारा कोई त्राण नहीं है। मृदु प्राणी धन, परिजन.....को शरण या त्राण मानकर उनमें आसक्त होता है। पर मौत, बीमारी, बुढ़ापा आदि के समय इनमें से कोई उसका त्राण या सहारा नहीं बनता। उपाध्याय विनयविनयजी ने इस स्थिति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हैह

- स्वजनजनो बहुधा हितकामं, प्रीतिरसैरभिरामम्।
मरणदशावशमुपगतवन्त, रक्षित कोऽपि न सन्तम्॥
- तुरगरथेभनराऽऽवृत्तिकलितं, दधतं बलमस्खलितम्।
हरित ययो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघु मीनम्॥
- प्रविशति वज्रमये यदि सद्ने, तृणमथ घटयति वदने।
तदपि न मुञ्चति हतसमवर्ती, निर्दयपौरुषनर्ती॥
- विद्यामंत्र महौषधिसेवां सृजतु वशीकृत-देवनाम्।
रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम्॥
- शरणमेकमनुसर चतुरंगं, परिहर ममतासंगम्।
विनय ! रचय शिवसौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम्॥

मैं इन पद्यों का सविस्तार अर्थ नहीं करूंगा। इनका सारांश इतना ही है कि मनुष्य की इस अशरण की स्थिति में धर्म ही उसका एकमात्र त्राण है, शरण है, सहारा है। इसके सिवाय सभी सहारे एक समय जाकर असहारे सिद्ध होते हैं।

ये मीठे-मीठे बातें करनेवाले पारिवारिक जन व्यक्ति की पीड़ा को नहीं बंटा पाते, बुढ़ापे को नहीं रोक पाते, उसे मौत से नहीं बचा पाते। यह मकान, यह जायदाद और अपार धन-संपत्ति सब-कुछ उस समय ज्यों-का-त्यों धरा रह जाता है।

ऐसा पता होता तो.....

कहते हैं कि मुहम्मद गजनवी भारतवर्ष से बहुत-सा धन लूट कर अपने देश लौटा। वहां जाकर उसने कई ऐसी तिजोरियां बनवाईं, जो सभी प्रकार के खतरों से सुरक्षित थीं। वह उस धन को उन तिजोरियों में रख कर बड़ा प्रसन्न था। आखिर जब मौत का समय निकट आया,

तब उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने कहाह 'यह सारा-का-सारा धन मेरी छाती पर लाकर रख दो।' उसके मन में विचार आयाहहाय ! जिस धन को प्राप्त करने के लिए मैंने कितनी-कितनी हत्याएं कीं, कितनी-कितनी लड़ाइयां लड़ीं, वह धन मेरे कुछ भी काम का नहीं! मुझे ऐसा पता होता तो मैं क्यों इतना पाप करता !

यह एक सच्चाई है। यह सच्चाई से लोग अनभिज्ञ हैं, ऐसा तो मैं नहीं कह सकता। पर आसक्तिवश या अज्ञानवश अधिकतर लोग इस धन-परिवार के चक्कर में अपने करणीय कार्य को भूल जाते हैंह यह एक वास्तविकता है। इसीलिए कवि 'किसन' ने सबको सचेत किया हैह

- जे ते मनि-माणिक है जो रे मतिमान कहै,
धरा में धरे हैं सो तो धरा ही धरायबो।
एक भूख राख, मत राख भूषण की,
वह भूख राख, जो न भूषण बनायबो।
देह देह देह फिर पायबो न एह देह,
कहा जानू इह जीव कौन जोन जायबो।
गमन के समय नग गन न गनन देह,
नग न चलेंगे संग नगन चलायबो॥
- जे ते मनि-माणिक है जो रे मतिमान क है,
धरा में धरे हैं सो तो धरा ही धरायबो।
एक भूख राख, मत राख भूषण की,
वह भूख राख, जो न भूषण बनायबो।
देह देह देह फिर पायबो न एह देह,
कहा जानू इह जीव कौन जोन जायबो।
गमन के समय नग गन न गनन देह,
नग न चलेंगे संग नगन चलायबो॥

बंधुओ! हम लोग सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं से संपन्न थे। अपने धन, परिजन, ऐशो-आराम को छोड़ कर हमने कोई भूल तो नहीं की है। हमने उन्हें निस्सार और आशरण जाना है। यही कारण है कि हम अकिंचन होते हुए भी प्रसन्न हैं।

आप रोते हैं, मैं हंसता हूं !

दिल्ली की घटना है। भारत व पाकिस्तान का उस समय बंटवारा

हुआ ही था। हजारों-हजारों शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आए। बड़ी दयनीय स्थिति थी उनकी। किसी का बेटा पीछे रह गया तो किसी का बाप छूट गया। किसी की मां छूट गई तो किसी का पति से वियोग हो गया। उनका धन छीन लिया गया, मकान छीन लिए गए। बिलकुल बेसहारे और दुखी थे वे लोग। किसी के कहने से वे सैकड़ों की संख्या में मेरे प्रवास-स्थल पर आए और अपनी दर्दभरी कहानी सुनाने लगे। सुनाते-सुनाते उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। अब मेरे सामने भी कठिन परिस्थिति थी, क्योंकि सैकड़ों व्यक्तियों को दुःख-दर्द से रोते देख अपने-आपको संभालकर रखना किसी व्यक्ति के लिए बड़ा मुश्किल होता है। पर मैंने ऐसी परिस्थितियों में अपने-आपको संभालकर रखने का अभ्यास किया है।

हां, तो उनको रोते देखकर मैंने सोचाहइन्हें आवश्यक संबल की अपेक्षा है। धन, परिवार, मकान आदि तो मैं इन्हें वापस नहीं कर सकता, पर मानसिक संबल अवश्य दे सकता हूं और वह मुझे देना चाहिए। मैंने कहाह‘भाइयों! आप अन्यथा न मानें, आपकी और मेरी स्थिति लगभग एक-जैसी है।’

मेरी यह बात सुनकर वे रोना तो भूल गए और अगली बात सुनने के लिए सोत्सुक मेरी तरफ देखने लगे। मैंने कहाह‘मकान आपके भी नहीं है और मेरे भी नहीं है। परिवार आपका भी छूट गया है और मेरा भी छूट गया है। सम्पत्ति आपके पास भी नहीं है और मेरे पास भी नहीं है।.....सारकार आप लोगों को पुनः बसाने के बारे में तो सोच रही है, पर हमारे बारे में तो ऐसी भी कोई बात नहीं है।’

उनको मेरी बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। वे बोलेह पर ‘आपके चेहरे पर तो मुस्कान है। दुःख और चिन्ता की एक रेखा भी नहीं।’

तब मैंने तत्त्व-बोध देते हुए कहाह‘हां, इन समान परिस्थितियों के बावजूद इतना अन्तर अवश्य है कि मैं सदा हंसता-खिलता रहता हूं और आप आंसू बहाते हैं। इसका कारण है कि आपसे ये सारी चीजें छीन ली गई हैं और मैंने इन्हें असार समझकर प्रसन्नतापूर्वक छोड़ दिया है। यह रोना धन-संपत्ति और परिजन के न होने का नहीं, अपितु उनके जबरदस्ती छीने जाने का है। यह हंसना-खिलना उनको स्वेच्छापूर्वक

छोड़ देने के कारण है।’

दो क्षण रुककर प्रसंग को थोड़ा-सा मोड़ देते हुए मैंने कहाहूँ ‘मैं मानता हूँ कि आप लोग कठिन परिस्थितियों में हैं। पर अब रोने और हाथ पर हाथ धरकर बैठने से कुछ भी होनेवाला नहीं है। आपमें से हर व्यक्ति के दो हाथ हैं, दो पैर हैं, शरीर भी आप लोगों के हृष्ट-पुष्ट हैं। श्रम करने की आपमें क्षमता है। चिंतन करने के लिए हर व्यक्ति के पास दिमाग है। फिर किस बात की है? आपको ख्याल रहे, आदमी ने संसार में बहुत कुछ बनाया है, आदमी को किसी ने नहीं बनाया।’

मैंने सूक्ष्मता से उनके चेहरे को पढ़ा। मुझे लगा कि मेरे इन शब्दों से उनके मन में पुनः एक आशा की किरण फूटी है। वे मानसिक दृष्टि से अपेक्षाकृत स्वस्थ हुए हैं।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि हमने अभाव में या किसी प्रलोभनवश यह संयम का मार्ग स्वीकार नहीं किया है। हालांकि कुछ अबोध लोग आज भी ऐसा मानते हैं और यदा-कदा मुंह से कह भी देते हैं कि पेट भरने के लिए ये लोग साधु बन गए हैं, तथापि हमारे मन में उनके प्रति कोई रोष-आक्रोश नहीं है। लोग हमें कुछ भी बुरा-भला कहें, गालियां दें, निंदा करें, हमारे दोष निकालें, पर हम इन सब परिस्थितियोंहप्रतिकुलताओं में अपने-आपको संतुलित रखने का प्रयास करते हैं। हमारा सिद्धांत हैह‘जो हमारा ही विरोध, हम उसे समझें विनोद।’ विरोध को विनोद में बदल देने की यह कला हमने आचार्य भिक्षु के जीवन से सीखी है। आचार्य भिक्षु से किसी ने कहाहूँ‘महाराजा ! लोग आपके दोष निकालते हैं।’ (आपकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते हैं) अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना की बात सुनकर साधारणतया व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है। पर आचार्य भिक्षु ने ऐसा सुनकर अपने मन को तनिक भी असंतुलित नहीं किया, बल्कि हंसते हुए कहाहूँ‘दोष निकालते ही तो हैं, डालते तो नहीं ! वे (आलोचक) तो मेरे हितैषी ही हैं। मैंने साधु-जीवन इसीलिए तो अंगीकार किया है कि सारे दोषों (कर्मों) को नष्ट कर दूं। कुछ दोष तो मैं स्वयं त्याग/तपस्या/स्वाध्याय/ध्यान के द्वारा निकाल रहा हूँ और कुछ वे (आलोचक) निकाल रहे हैं।’

बंधुओ! मैं मानता हूँ कि विरोधी विचारों और आलोचना-प्रत्यालोचनाओं को समभावपूर्वक सहन करने की क्षमता सभी धर्मगुरुओं

में विकसित होनी चाहिए। मुझे तब बड़ा दुःख होता है, जब मैं देखता हूँ कि धर्मगुरु कहलानेवाले, धर्म के अधिकारी कहलानेवाले समझदार लोग भी बिना सोचे-समझे कभी-कभी ऐसी छिछली एवं हलकी बात कर देते हैं, कि जिससे लाखों-लाखों लोगों में उत्तेजना या द्वेष का भाव फैल जाता है। मैं नहीं समझता, जब धर्माधिकारी लोग भी समय पर थोड़ी-सी गंभीरता नहीं रख पाते, विरोधी विचारों को हजम नहीं कर पाते, जब वे लाखों-लाखों लोगों का धार्मिक पथ-दर्शन कैसे कर सकेंगे।

मानव-जीवन की सार्थकता

काल की अनिवार्यता को बताते-बताते मैं कहां का कहां पहुंच गया। बंधुओ! अब आप काल को बहुत अच्छी तरह से समझ गए होंगे। समझने का अर्थ यही है कि आप प्रतिक्षण बीतते हुए इस काल को अधिक-से-अधिक सत्य, शील, संतोष, त्याग, तपस्या आदि के द्वारा सार्थक बनाने का प्रयास करें। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है। यह सार्थकता प्राप्त होने के बाद काल किसी क्षण क्यों न आए, कोई चिंता की बात नहीं है।

काल-परिपाक

एक दृष्टि से काल का विवेचन समाप्त हुआ है। पर एक अन्य दृष्टि से भी आपको काल को समझना है। आप इस बात को समझें कि हर कार्य, हर वस्तु काल का परिपाक मांगती है। जब तक काल का परिपाक नहीं हो जाता, तब तक अन्य सारे निमित्त मिलने पर भी कार्य बनता नहीं। आज किसान ने बीज बोया। पानी भी सींचा। पर वृक्ष एक दिन में खड़ा नहीं होता। फूल-फल से हरा-भरा होता। फूल-फल आने में समय लगता है। यानी काल का परिपाक होने पर ही वृक्ष फूलों-फलों से हरा-भरा होता है। इसीलिए संत कबीरदास ने कहा है

धीरे धीरे रे मना ! धीरे सब कुछ होय।

माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय॥

अर्थात् किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया का फल समय के परिपाक से मिलता है। इस तत्त्व को जानकर व्यक्ति को सदा धैर्य रखना चाहिए। विद्यार्थी आज पढ़ना आरंभ करे और चाहे कि मैं आज ही विद्वान बन जाऊं, यह कभी संभव नहीं है। धैर्यपूर्वक अध्ययन करने के बाद जब काल का परिपाक होगा, तभी वह विद्वान बन सकेगा।

मुख्य फल : गौण फल

कुछ लोगों की शिकायत रहती है कि हमने धर्म तो किया पर फल कुछ नहीं मिला। मैं मानता हूँ, ऐसा कभी संभव नहीं है। अलबत्ता इस संदर्भ में एक बात अवश्य ध्यान में रखने की है। धर्म के दो प्रकार के फल हैं—वास्तविक तथा प्रासंगिक। व्यक्ति ने धर्म की आराधना की और उसको मानसिक शांति की प्राप्ति हुई, जीवन की पवित्रता उपलब्ध हुई, यह उसका वास्तविक और मुख्य फल है, तात्कालिक फल है। पर धर्म-क्रिया के साथ पुण्य का बंधन भी होता है और काल-परिपाक से जब वह पुण्य उदय में आता है, तब व्यक्ति को धन, संपत्ति, पुत्र.....के रूप में भौतिक लाभ भी मिलता है। यह है धर्म का प्रासंगिक या गौण फल। वास्तविक/मुख्य/मूल तात्कालिक फल तो व्यक्ति को धर्म करने के साथ-साथ ही प्राप्त होता है। पर अनुषंगिक फल काल के परिपाक के बिना नहीं मिल पाता।

इस संदर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति को धर्म सदा आत्म-शांति और जीवन की पवित्रता के लिए ही करना चाहिए। आत्म-शांति और पवित्रता की दृष्टि से किए जानेवाले धर्म में प्रासंगिक/आनुषंगिक फल तो सहज रूप से प्राप्त होता ही है। उसके लिए धर्म करने की जरूरत नहीं है। पर संसार में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं, जो प्रासंगिक/आनुषंगिक फल—धन-संपत्ति, मकान, जायदाद, संतान आदि भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए ही धर्म करते हैं। मेरी दृष्टि में वे लोग उस नासमझ किसान कभी तूड़ी के लिए खेती करता है। हर कियान धान के लिए ही खेती करता है तूड़ी तो उसे अनाज के साथ सहज रूप में उपलब्ध होती है।

तेरापंथ धर्मसंघ के आद्यप्रणेता आचार्य भिक्षु ने धर्म करने के इस दृष्टिकोण को बहुत सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। इस दृष्टिकोण को न समझने के कारण बहुत-से लोग मुख्य/मूल/सारभूत तत्त्व को तो गौण कर देते हैं और गौण/प्रासंगिक/अनुषंगिक तत्त्व को प्रमुख।

मैंने सुनी है एक घटना। एक यूरोपीय पर्यटक भारत आया। घूमता-घूमता वह रास्थान के रेतीले प्रदेश में पहुंच गया। संयोगवश एक दिन वह मार्ग भूल गया और जंगल में भटकने लगा। उसे कड़कड़ाती भूख लग गई। पर रेतीले जंगल में खाने को मिले ही क्या ? आखिर काफी देर तक

इधर-उधर भटकने के पश्चात उसे दूर झोंपड़ी दिखाई दिया। वह उस झोंपड़े के पास पहुंचा। वह एक किसान का घर था। वह अत्यंत प्रसन्न हुआ। किसान ने अतिथि का अपनी सांस्कृतिक शैली से स्वागत किया। पर्यटक ने अपनी परिस्थिति बताई। पर कठिनाई यह हो गई कि वे दोनों ही एक-दूसरे की बात नहीं समझ पा रहे थे, क्योंकि किसान अंग्रेजी नहीं जानता था और वह पर्यटक हिंदी एवं राजस्थानी। पर अंततः वह पर्यटक संकेतों के माध्यम से किसान को यह समझाने में सफल हो गया कि मैं भूखा हूं, मुझे खाने को कुछ दो। किसान ने एक बाजरे की रोटी पर थोड़ा-सा प्याज रखा और वह उसके हाथ में थमा दी। विदेशी पर्यटक ने प्याज तो खा लिया और उस रोटी को तस्तरी समझकर फेंक दिया। उसको इतना ज्ञान नहीं था कि यह तस्तरी नहीं, रोटी है और यही सारभूत खाने की वस्तु है। प्याज तो मात्र इसके साथ लगावन के रूप में है।

बंधुओ! आप हंस सकते हैं उस विदेशी पर्यटक के अज्ञान पर। पर टटालें जीरा अपने-आपको। कहीं आप भी तो ऐसी भूल नहीं कर रहे हैं? धर्म की क्रिया यदि आप आत्म-शांति और जीवन की पवित्रता के लिए करते हैं, तब तो ठीक है, पर कहीं भौतिक सुख-सुविधाओं एवं भोग-विलास की सामग्री की प्राप्ति के लिए करते हैं तो मानना होगा कि आप भी उसी पर्यटक के साथी हैं। मैं नहीं चाहता, कोई भी व्यक्ति उस पर्यटक जैसी भूल करे। अपेक्षित है, आप धर्म करने के सही दृष्टिकोण को समझें और मात्र आत्म-शांति और जीवन की पवित्रता के उद्देश्य से उसे जीवन में स्थान दें।

गंगाशहर

३० जुलाई १९७८

१८ : काल के लक्षण

‘काल’ के स्वरूप की विस्तृत चर्चा कल की गई। आज की चर्चा काल को कैसे पहचाना जाए, इस बिंदु पर होगी।

वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्यः ।

*वर्तमानत्वम्हवर्तना । पदार्थानां नानापययिषुपरिणतिःहपरिणामः ।
क्रियाहचक्रमणादिः । प्राग्भावित्वम् । पश्चाद्भावित्वम्हअपरत्वम् ।*

जैन-दर्शन में काल को पहचानने के लिए पांच लक्षण बताए गये हैं। १. वर्तना २. परिणाम ३. क्रिया ४. परत्व ५.अपरत्व।

वर्तना

वर्तमान से रहने का नाम हैहवर्तना। यह वस्तु वर्तमान है, मौजूद है, इसे हमे काल से ही जानते हैं। इसी प्रकार यह वस्तु अतीत में थी या भविष्य में होगीहयह भी काल के द्वारा ही जाना जाता है, क्योंकि अतीत की वस्तु भी कभी-न-कभी वर्तमान में अवश्य थी और भविष्य की वस्तु भी कभी-न-कभी वर्तमान में अवश्य रहेगी। हमारे पूज्य गुरुदेव कालूगणी अब अतीत हो गए, पर मेरे से पहले वे वर्तमान थे। उनके पहले हमारे धर्मसंघ के सात आचार्य वर्तमान थे। उनके पहले दूसरे-दूसरे आचार्य वर्तमान थे और उनके पहले भगवान महावीर वर्तमान थे। इसी प्रकार भविष्य में भी जितने आचार्य होंगे, वे अपने-अपने समय में वर्तमान होंगे। काल को हम नहीं देख सकते, पर वर्तमान में मौजूद उस व्यक्ति को तो देख सकते हैं।

काल सबको चलाता है। एक-एक क्षण चलाता है। बच्चे को जवान और जवान को बूढ़ा बना देता है। काल के सिवाय संसार में और कोई दूसरी शक्ति नहीं, जो किसी को जवान या बूढ़ा बना सके। यह वर्तना है। इसके द्वारा काल को पहचाना जा सकता है।

परिणाम

परिणाम अर्थात् परिणति। हम संसार के पदार्थों में जितनी भी प्रकार की परिणतियां देखते हैं, वे सब काल के ही कारण हैं। बचपन जवानी में परिणत हो जाता है। यह काल के द्वारा ही होता है। अमुक अवस्था तक बालकपन, अमुक अवस्था तक कैशोर्य, अमुक अवस्था तक जवानी, अमुक अवस्था तक प्रौढ़ता...हये सब काल की ही विभिन्न परिणतियां हैं।

संसार के हर पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि कजो पदार्थ हमारे काम आते हैं, उन्हीं में परिणति हो। बल्कि जो पदार्थ हमारे काम नहीं आते, उनमें भी परिणति होती रहती है। उदाहरणार्थकोई कपड़ा अपने बक्से में रख दिया। कुछ वर्षों के पश्चात उस कपड़े का रंग बदल गया। वह जीर्ण-शीर्ण हो गया। आप कहेंगे, हमने तो उसे काम में नहीं लिया। तात्पर्य यही है कि काल के कारण हर पदार्थ में प्रतिक्षण सहज परिवर्तन होता रहता है।

क्रिया

काल हमारी हर क्रिया में परम सहयोगी। काल के अभाव में अन्य सभी निमित्त होने के बावजूद वह क्रिया नहीं हो पाती। इसलिए क्रिया में समय चाहे कम लगे या अधिक, पर इतना निश्चित है कि लगेगा अवश्य। इसलिए क्रिया से हम काल को पहचान सकते हैं।

परत्व : अपरत्व

अमुक व्यक्ति बड़ा है और अमुक व्यक्ति छोटा है, यह पहले जन्मा है और यह बाद में जन्मा है...हयह सब काल के कारण ही है। काल के अभाव में हम बड़े-छोटे का भेद नहीं जान सकते। इसलिए परत्व और अपरत्वहये दोनों भी काल के लक्षण हैं। इनके द्वारा काल को हम जान सकते हैं।

हमारे धर्मसंघ में स्थान, भोजन आदि की व्यवस्थाएं दीक्षा-पर्याय से होती हैं। उदाहरणार्थहरात को सोना है। जब प्रश्न सामने आता है कि सबसे पहले किसके स्थान का निर्धारण हो। हमारे आचार्यों ने व्यवस्था दी कि दीक्षा में जो सबसे बड़ा है, उसे सबसे पहले स्थान मिलना चाहिए, उससे छोटे वकजीी उसके बाद, उससे छोटे को उसके बाद, उससे छोटे को...। इस प्रकार दीक्षा-क्रम के अनुसार सबके स्थान का निर्धारण होता

है। यह दीक्षावस्था में बड़ा-छोटा होना काल का ही लक्षण है।

प्रसंग मेघकुमार का

मेघकुमार का घटना-प्रसंग हम पढ़ते हैं। उसका मन संयम से विचलित क्यों हुआ? रात-भर नींद न आने से। उसे रात-भर नींद क्यों नहीं आई? उसके सोने का स्थान रास्ते में दरवाजे के बीच था। अतः आते-जाते साधुओं के रजोहरणों और पैरों से उसके शरीर का बार-बार स्पर्श होता रहा, ठोकरें लगती रहीं। मेघकुमार को सोने का स्थान रास्ते में दरवाजे के बीच क्यों मिला? दीक्षा-पर्याय में वह सबसे छोटा था। छोटे को स्थान सबसे बाद में मिलता है। वह छोटा क्यों हुआ? काल के कारण।

काल को यद्यपि हम पकड़ नहीं सकते, देख नहीं सकते, तथापि ये पांच ऐसे लक्षण हैं, जिनसे हम उसे स्पष्ट रूप में जान सकते हैं, उसके अस्तित्व को पहचान सकते हैं। हम सब काल को पहचानें और तदनुसार अपने जीवन में मोड़ देह्ययी कल्याण का पथ है।

गंगाशहर

३१ जुलाई १९७८

१९ : षड्रव्यों की स्थिति

छह द्रव्यों के अंतर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गलहइन पांच द्रव्यों की व्याख्या संपन्न हो चुकी है। केवल जीव का विवेचन अब अवशेष है। जीव के बारे में हम अलग से फिर चर्चा करेंगे। आज में इस बात पर विचार करना है कि छह द्रव्यों की स्थिति किस-किस रूप में है।

आद्यत्रीणि एकद्रव्याणि अगतिकानि।

आकाशपर्यन्तानि त्रीणि एकद्रव्याणिहएकव्यक्तिकानि,
अगनिकानिहगतिक्रियाशून्यानि

छह द्रव्यों में प्रथम द्रव्य-धर्म, अधर्म व आकाश एक-एक द्रव्य हैं। त्रिकाल में भी इनके टुकड़े नहीं हो सकते। ये तीनों द्रव्य सर्वथा गति-शून्य हैं।

धर्म, अधर्म और आकाशहइन तीनों को छोड़कर शेष तीनों द्रव्यहकाल, जीव और पुद्गल अनेक-अनेक हैं। काल के विभाग हमारे सामने हैं। दिन, रात, प्रहर, मास, वर्ष आदि काल के विभाग हैं।

पुद्गल भी अनेक (अनंत) हैं। परमाणु अनंत हैं और पुद्गल-स्कंध भी अनंत हैं।

जीव अनेक (अनंत) हैं, यह आप सब जानते ही हैं। पर आपको यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक जीव सत्ता रूप में स्वतंत्र है। जीव न तो किसी से पैदा होता है और ही किसी में विलीन होता है। कुछ लोग संसार के जीवों को ईश्वर के विभिन्न रूप मानते हैं। वे ईश्वर को परमपिता मानते हैं और संसार के प्राणियों को उनकी संतानें। ईश्वर पूज्य है, इसलिए पूज्यता के भाव से उन्हें परमपिता कहा जाए, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। पर पैदा करने के अर्थ में ईश्वर को पिता कहना,

जैन-दर्शन के मान्यतानुसार सही नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार जीव को किसी ईश्वर या परमात्मा ने पैदा नहीं किया है। वह तो अनादिकाल से स्वयं पैदा हुआ है। इसलिए मैंने कहा कि जीव अनेक हैं और सबकी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

पुद्गल और जीवह्वये दोनों गतिशील द्रव्य हैं। काल चूंकि औपचारिक द्रव्य है, इसलिए वह न तो गतिशील है और न ही अगतिशील ही।

पदार्थों की मापक इकाई

छह द्रव्यों के कितने-कितने प्रदेश हैं, अब इस प्रश्न पर हमें विचार करना है।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानाम्

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवह्वइन चारों के प्रदेश असंख्य-असंख्य होते हैं।

धर्मास्तिकाय के प्रदेश असंख्य कैसे हैं, इस बात को आप ध्यान से समझें। यों तो धर्मास्तिकाय, जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया, एक द्रव्य है। उसके टुकड़े नहीं हो सकते। पर यदि हम उसे प्रदेश के माप से मापें तो वह असंख्येयप्रदेशी है। इस बात को आप सक स्थूल उदाहरण से समझें। यह पंडाल है। बताया गया है कि यह लगभग पंद्रह हजार घनफुट का है। पर ये पंद्रह हजार घनफुट अलग-अलग कहां हैं? इस पंडाल को मापें तो पंद्रह हजार घनफुट हैं, अन्यथा पंडाल तो एक ही है। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के बारे में जाननी चाहिए। धर्मास्तिकाय यों एक ही है। उसका कोई विभाग नहीं है। पर यदि मापा जाए तो परमाणु जितने असंख्य विभाग उसके हो सकते हैं। इस दृष्टि से धर्मास्तिकाय असंख्येयप्रदेशी है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के प्रदेश भी असंख्य-असंख्य जानने चाहिए।

एक जीव के प्रदेश भी असंख्य हैं। पर यह बात शायद आप लोगों को सहजतया समझ में नहीं आ सकती। वास्तव में जीवन में संकोच और विकोच की शक्ति होती है। वह चाहे तो अपने आत्मप्रदेशों को एक केश जितने सूक्ष्म शरीर में संकुचित कर सकता है और चाहे तो इतना विकोच कर सकता है कि पूरे लोक में उसके (एक जीव के) आत्म-प्रदेश फैल सकते हैं।

अलोकाकाशः ।

अलोकाकाश अनंतप्रदेशी है। आप कह सकते हैं, यह बात तर्कसंगत नहीं है। वस्तुतः यह विवेचन दर्शन-जगत की सूक्ष्मता है। इसे तर्क के आधार पर समझने का प्रयास करना अनावश्यक है। क्यों ? यह इसलिए कि आप इस बात को यदि तर्क से समझना चाहेंगे तो यह कभी समझ में नहीं आएगी, प्रत्युत आप और अधिक उलझ जाएंगे। इसे तो श्रद्धा से ही समझना होगा। इसे ही क्यों, ऐसी अनेक बातें श्रद्धा से ही समझनी होंगी। पर मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि तर्क सर्वथा हेय है। मैं तर्क का एकांततः विरोधी नहीं हूँ। तक-शास्त्र तो मैंने स्वयं पढ़ा है और एक सीमा तक मैं तर्क को उचित भी समझता हूँ। पर सब जगह तर्क उचित नहीं। बहुत-सी बातें तर्क से समझी जाती हैं, पर कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जो तर्क की सीमा से परे की होती हैं। आकाश इतना बड़ा क्यों है, आकाश में इतने तारे क्यों चमकते हैं, सूरज पूर्व में ही क्यों उदित होता है, जैसे सैकड़ों नैसर्गिक बातें हैं, जिन्हें तर्क से कभी नहीं समझा जा सकता। यदि इन्हें तर्क से समझने का प्रयास किया जाएगा तो सिवाय गुत्थी के और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। ऐसी बातों को तो श्रद्धा से ही समझा जा सकता है। कील लकड़ी में गाड़ी जा सकती है, दीवाल में गाड़ी जा सकता है, फर्श में गाड़ी जा सकती है, पर वज्र में नहीं गाड़ी जा सकती। इसलिए मैं आप लोगों को यह सलाह देना चाहता हूँ कि दर्शन की इन प्राकृतिक सूक्ष्म बातों को समझने के लिए आप तर्क का नहीं, विश्वास या श्रद्धा का उपयोग करें। आप देखें, केवल जैन-दर्शन में नहीं, अपितु सभी दर्शनों में नैसर्गिक नियमों को समझने के लिए तर्क को अनुपयोगी माना गया है।

बंधुओ! श्रद्धा बहुत गहरा तत्त्व है। ये बड़े-बड़े वैज्ञानिक कितने श्रद्धालु होते हैं ! मैं दाद देता हूँ इनकी श्रद्धा को। मुझे बहुत ख्याल है, जब शुरू-शुरू में वैज्ञानिकों ने चंद्रलोक में जाने की कल्पना प्रस्तुत की तो लाखों-लाखों, करोड़ों-करोड़ों लोगों ने उनका मखौल उड़ाया। पर वे अपने विचारों के अनुसार आगे बढ़ते रहे। प्रारंभिक विफलताएं उन्हें निराश नहीं बना सकीं। इस प्रयास में उनकी कई पीढ़ियां खप गईं। करोड़ों-अरबों रुपये खर्च हुए। पर अपनी श्रद्धा के बल पर आखिर उन्होंने उस कल्पना को साकार बना दिया। वे मखौल करनेवाले लोग देखते ही रह गए। अब उनके पास कुछ भी कहने को नहीं था।

मैं अपने शैक्ष साधुओं और साध्वियों से कहा करता हूँ कि तुम अभी ज्यादा तर्क में मत उलझो। तुम्हें जो आदेश, निदेश व अनुशासन मिले, उसे श्रद्धा से स्वीकार कर आगे बढ़ते रहो। आदेश, निदेश एवं अनुशासन के प्रति यह श्रद्धा तुम्हारे भावी जीवन-निर्माण का प्रमुखतम आधार बनेगी। मैं यह बात केवल सिद्धांत के रूप में नहीं, अपितु अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। मैं स्वयं कड़े अनुशासन में रहा हूँ। उस अनुशासन में मैंने दृढ़ श्रद्धा के साथ अपने चरण बढ़ाए हैं।

स्वतंत्रता सबको प्रिय है

अभी मैंने आपको बताया कि हर जीव की स्वतंत्र सत्ता है। सचमुच ही स्वतंत्रता बहुत ही प्रिय शब्द है। इससे प्रिय शब्द दूसरा हो नहीं सकता। संसार का हर मनुष्य स्वतंत्र रहना चाहता है। मनुष्य ही क्यों, ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, और कहना चाहिए कि संसार के सभी छोटे-मोटे प्राणी अपने-आपको स्वतंत्र रखना चाहते हैं। कोई परतंत्रता नहीं चाहता। कोई किसी का ताबेदार बनकर रहना पसंद नहीं करता। इसलिए यह सिद्धांत बन कि कोई किसी को अपना ताबेदार न बनाए। हमारे तीर्थंकरों ने यहां तक कहा कि यदि तुम किसी को ताबेदार बनाओगे तो तुम्हें हिंसा का पाप लगेगा। जब व्यक्ति स्वयं किसी का ताबेदार बनकर नहीं रहना चाहता, तब उसे क्या अधिकार है कि वह किसी को अपना ताबेदार बनाए?

इस संदर्भ में इतना अवश्य है कि यदि कोई अपने जीवन-निर्माण की दृष्टि से स्वयं को दूसरे के अधीन रखता है तो यह परतंत्रता नहीं है। शिष्य गुरु से निवेदन करता है कि मैं आपकी आज्ञा में रहना चाहता हूँ, मेरी सारी इच्छाएं आपकी इच्छा में विलीन करना चाहता हूँ, आप मुझे अनुशासित करें। इस स्थिति में गुरु का कर्तव्य है कि वे उस पर अनुशासन करें। उस पर अपना समय लगाएं। मैं तो यहां तक कहता हूँ कि यदि किसी के सहारे किसी का जीवन निर्मित होता है तो उसे अपना जीवन झोंक देना चाहिए। लोग कहते हैं कि हम गुरु की हसेवा करते हैं। पर मैं तो सोचता हूँ कि इस माने में तो गुरु ही उनकी सेवा करते हैं। एक-एक व्यक्ति के जीवन-निर्माण के लिए वे कितना प्रयास और कितने प्रयोग करते हैं! बच्चे कहते हैं कि हम माता-पिता की सेवा करते हैं। पर मैं तो देखता हूँ कि बड़ी सेवा तो माता-पिता ही करते हैं। पिता का नाम

तो मैंने यों ही जोड़ दिया। वास्तव में तो माता ही बच्चों की सेवा करती है। वह जैसी सेवा बच्चों की करती है, वैसी सेवा कोई दूसरा कभी कर नहीं सकता। माना, दूसरी जगह बच्चों को दूध मिल सकता है, भोजन मिल सकता है, मन-बहलाव के साधन मिल सकते हैं, पर मां का वात्सल्य/निश्छल प्यार कहां से मिलेगा ? वस्तुतः य वात्सल्य/निश्छल प्यार ही बालक के जीवन-निर्माण का मौलिक आधार है।

सत्संस्कार : जीवन की थाती

आज पश्चिम जगत में यह विचार बड़ी तेजी के साथ फैल रहा है कि बच्चों को मां से कभी जुदा नहीं करना चाहिए। वहां के लोगों को यह बहुत स्पष्टतया अनुभव हो रहा है कि बच्चों को माताओं से अलग रखकर हमने भयंकर भूल की है। बच्चों के जीवन में जो मानवीय संवेदनशीलता आनी चाहिए, वह इस भूल के परिणामस्वरूप नहीं आ रही है। पर आश्चर्य तो यह है कि भारतीय माताएं आजकल बाल-बच्चों के लालन-पालन को बोझ समझने लगी है ! यह पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव है। दूसरी-दूसरी संस्कृतियों से अच्छे संस्कारों को ग्रहण किया जाए, इसका मैं विरोधी नहीं हूं। पर आंखें मींच कर अनुकरण करने की मनोवृत्ति को कदापि उचित नहीं मानता। दूसरों की अच्छी बातों को ग्रहण करने का तात्पर्य यह नहीं कि आज अपने अच्छे संस्कारों को भूल जाएं। आपको अपने मौलिक सत्संस्कारों को सुरक्षित रखना है। सत्संस्कार जीवन की थाती हैं।

गंगाशहर

१ अगस्त १९७८

२० : पुद्गल, धर्म व अधर्म की स्थिति

कल के प्रवचन में आपने जाना कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश असंख्य-असंख्य होते हैं। अलोकाकाश के प्रदेश अनंत होते हैं। अब हम लागे चलें।

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।

चकारादनन्ता अपि।

पुद्गल-स्कंधों के बारे में मैं पहले ही बता चुका हूँ कि वे द्विप्रदेशी से लेकर अनंतप्रदेशी तक होते हैं। इसलिए कहा गया है कि पुद्गल-स्कंधों के प्रदेश संख्येय, असंख्येय और अनंत तीनों ही होते हैं।

परमाणु

पुद्गल के बाद परमाणु का क्रम है। प्रश्न उपस्थित है कि परमाणु के प्रदेश कितने हैं।

न परमाणोः।

परमाणोरेकत्वेन निरंशत्वेन च न प्रदेशः।

परमाणु कोई प्रदेश नहीं होता, क्योंकि परमाणु अकेला ही होता है। उसका कोई भाग नहीं होता। व्यवहार में परमाणु को एकप्रदेशी कह दिया जाता है। इसका इतना-सा ही अर्थ है कि परमाणु एक प्रदेश जितना होता है। हम कहते हैं, एक गज कपड़ा। वास्तव में कपड़ा कोई गज नहीं होता। केवल एक गज जितने परिमाणवाले कपड़े को हम एक गज कपड़ा कर देते हैं।

क्या काल सप्रदेशी है

अब मैं इस प्रश्न पर विचार करना है कि काल के कितने प्रदेश होते हैं।

कालोऽप्रदेशी ।

काल का कोई प्रदेश नहीं होता। काल अप्रदेशी द्रव्य है, क्योंकि काल का कोई भाग नहीं होता। यहां आपके मन में प्रश्न उभर सकता है कि सेकंड, मिनिट, घंटा, मास, वर्ष आदि के रूप में काल के अनेक विभाग जब हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं, तब काल का कोई भाग नहीं होताहइस कथन की क्या संगति है। मूलतः ये जो काल के विभाग किए जाते हैं, वे सारे-के-सारे अवास्तविक काल्पनिक हैं। हमने अपनी सुविधा के लिए कल्पना से इसे अनेक भागों में विभक्त कर लिया है।

देश : प्रदेश

छह द्रव्यों का विवेचन के अंतर्गत स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणुहइन चार शब्दों का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। स्कंध और परमाणु को मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूं। अब देश और प्रदेशहइन दोनों शब्दों को भी समझ लेना चाहिए।

बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः ।

वस्तुनोऽपृथग्भूतो बुद्धिकल्पितोऽंशो देश उच्यते ।

किसी वस्तु (स्कंध) का बुद्धिकल्पित अंश/विभाग देश कहलाता है। यों देश शब्द राष्ट्र के अर्थ में व्यवहृत होता है, पर हमारे दर्शन-जगत में यह शब्द अंश/विभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हमारे यहां श्रावक को देशव्रती कहा गया है। यहां इसका अर्थ यही तो है कि आंशिक रूप में व्रतों को स्वीकार करनेवाला। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर यह शब्द अंश के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त दूसरे-दूसरे दर्शनों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

छह द्रव्यों में काल को छोड़ कर शेष पांच द्रव्यहधर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल के देश होते हैं।

निरंश प्रदेशः

निरंशो देशः प्रदेशः कथ्यते । परमाणुपरिमितो वस्तुभाग इत्यर्थः । अविभागी परिच्छेदोऽप्यस्य पर्यायः । पृथग्वस्तुत्वेन परमाणुस्ततो भिन्नः ।

जिसका कोई खंड/विभाग न हो सके, स्कंध के ऐसे सूक्ष्मतम भाग को प्रदेश कहा जाता है। प्रदेश परमाणु जितना होता है। एक दृष्टि से

प्रदेश और परमाणु दोनों एक ही हैं। उनमें कोई अंतर नहीं है। पर दूसरी दृष्टि से वे दोनों एक नहीं भी हैं, भिन्न-भिन्न भी हैं। स्कंध का सूक्ष्मतम भाग, जब तक वह स्कंध के साथ जुड़ा हुआ है, प्रदेश कहलाता है। पर वही सूक्ष्मतम भाग जब स्कंध से अलग हो जाता है, तब उसे परमाणु कहा जाता है। दूसरे शब्दों में परमाणु स्वतंत्र पुद्गल होता है, जबकि प्रदेश स्कंध के साथ जुड़ा हुआ होता है। इसे मैं एक स्थूल उदाहरण से और स्पष्ट करूँ। मेरे हाथ में यह एक कपड़ा है। यह सैकड़ों-हजारों तंतुओं से बना है। हम समझने के लिए कल्पना से प्रत्येक तंतु को एक प्रदेश मान लें। इस प्रकार इस कपड़े में सैकड़ों-हजारों प्रदेश जो गए। अब हमने इसका एक तंतु बाहर निकाल लिया। यह तंतु अब प्रदेश नहीं, परमाणु कहलाएगा। जब तक यह तंतु कपड़े के संलग्न था, तब तक ही प्रदेश था।

अविभागी परिच्छे प्रदेश का दूसरा नाम है।

षड्द्रव्यों की अवगाहना

देश और प्रदेश की चर्चा के बाद अब हमारे सामने प्रश्न है कि धर्म, अधर्म आकाश, काल, पुद्गल और जीवहइन छह द्रव्यों की अवगाहना कितनी-कितनी है यानी से कितने-कितने क्षेत्र में व्याप्त हैं सबसे पहले हम धर्मास्तिकाय को ही लें।

कृत्स्नलोकेऽवगाहो धर्माधर्मयोः।

धर्माधर्मास्तिकायौ सम्पूर्ण लोकं व्याप्य तिष्ठतः।

धर्मास्तिकाय क्षेत्र की दृष्टि से पूरे लोग में व्याप्त है। आप पूछ सकते हैं, कि यहां धर्मास्तिकाय है या नहीं। इसका उत्तर नकारात्मक है। आप पूछेंगे कि क्यों इस क्यों का उत्तर आपको भगवती सूत्र में प्राप्त हो जाएगा। भगवान महावीर से प्रश्न पूछा गयाह'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय पूर्व दिशा में है ?' भगवान ने कहाह'नहीं।' पुनः पूछा गयाह'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय पश्चिम दिशा में है ?' भगवान ने उत्तर दियाह'नहीं।' फिर पूछा गयाह'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय उत्तर दिशा में है ?' भगवान ने फिर वही उत्तर दियाह'नहीं।' पुनः पूछा गयाह'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय ऊर्ध्व दिशा में है ?' भगवान ने फिर वही बात कहह'नहीं।' पुनः पूछा गयाह'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय अधो दिशा में है ?' भगवान ने फिर वही उत्तर दियाह'नहीं।' पुनः पूछा गयाह'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय विदिशा में है?'

भगवान का वही पूर्ववत् उत्तर था 'नहीं।' पुनः पूछा गयाह 'भंते ! क्या धर्मास्तिकाय अनुदिशा में है ?' भगवान ने फिर पूर्ववत् कहाह 'नहीं।'

आप कहेंगे, एक तरफ तो भगवान बताते हैं कि धर्मास्तिकाय लोकपरिमाण है और दूसरी तरफ कहते हैं कि यह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण आदि किसी भी दिशा में नहीं है, यह विसंगति क्यों।

आप निश्चित मानें कि भगवान जो कुछ भी कहते हैं, वह यथार्थ से किंचित भी परे नहीं हो सकता, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। उनकी वाणी में संदेह नहीं किया जा सकता। जो उनकी वाणी में संदेह करता है, वह अज्ञानी है। अब रही बात धर्मास्तिकाय के संदर्भ में विसंगति की। यदि आप थोड़ा गहराई से ध्यान दें तो पाएंगे कि धर्मास्तिकाय के संबंध में भगवान जो कुछ कह रहे हैं, उसमें कोई विसंगति नहीं है। बिलकुल संगति है। केवल आप लोग समझ नहीं पा रहे हैं। कई बार ऐसा होता है कि तत्त्व बिलकुल सामने होता है, फिर भी लोग उसे पहचान नहीं पाते। संस्कृति भाषा का एक श्लोक हैह

माला स्वयं वरस्थाने, कण्ठे रामस्य सीतया।

मुधा बुधा भ्रमन्त्येव, प्रत्यक्षेपि क्रियापदे॥

आप लोग संभवतः इसे न समझें। संस्कृति जाननेवाले इसे समझ सकेंगे। इस पूरे श्लोक में क्रिया कहां है ? बिलकुल प्रत्यक्ष है। लेकिन श्लोक-रचना इस ढंग से हुई है कि सहजतया विद्यार्थी उसे पकड़ नहीं पाते और वे उलझ जाते हैं। पर यदि थोड़े गहरे में जाकर देखा जाता है तो वह बहुत साफ नजर आ जाती है।

प्रत्यक्षेपि जिसका अर्थ सहजतयाहहोने पर भीहयह समझा जाता है, वह स्वयं क्रिया है। इसे न समझने के कारण प्रत्यक्ष होने के बावजूद वह ध्यान में नहीं आती। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के संबंध में भगवान द्वारा किए गए कथनों के लिए लागू होती है। धर्मास्तिकाय पूरे लोग में व्याप्त है और धर्मास्तिकाय पूर्व, पश्चिम, दिशा में नहीं है, इन दोनों कथनों में पूर्ण संगति है। आप जरा गहराई से ध्यान दें, भगवान जब स्पष्ट कह रहे हैं कि धर्मास्तिकाय पूरे लोक में व्याप्त है, तब केवल पूर्व, पश्चिम, उत्तर या अन्य किसी भी एक दिशा में कैसे समाएगी ? हां, किसी भी दिशा में, यहां गंगाशहर में या अन्यत्र कहीं (लोक में) धर्मास्तिकाय का एक हिस्सा है, यह कहने में कोई कठिनाई नहीं। पर

अखंड धर्मास्तिकाय तो मात्र लोकाकाश में व्याप्त है। आपको एक स्थूल उदाहरण दूं। आदमी का शरीर है। मैं पूछता हूं, क्या यह हाथ शरीर है? उत्तर होगाहैनहीं। क्या पैर शरीर है ? नहीं। तब क्या यह पेट शरीर है? नहीं। फिर शरीर क्या है ? शरीर हाथ, पैर, पेट, पीठ आदि सभी अवसवों के योग का नाम है। सब शरीर के एक-एक अंग हैं। इनमें से कोई अकेला शरीर नहीं है। जब ये सारे मिलते हैं, तब इस योग को हम शरीर कहते हैं।

उपवास : ऊनोदरी

किसी ने अन्न खाने का त्याग कर दिया। क्या इसे हम उपवास मान लें? नहीं क्यों? यह इसलिए कि वह फल, दूध, आदि नाना प्रकार की चीजें खाने के लिए सावकाश है। यह ठीक है कि उसे अन्न खाने का त्याग है, पर मात्र अन्न के त्याग को हम उपवास तो नहीं कह सकते। उपवास तो तभी होगा, जब खाने-पीने का सर्वथा त्याग किया जाएगा। वैसे हमारी परम्परा में पानी पीकर उपवास किया जाता है, पर वास्तव में चारों आहारहअशन, पान, खादिम, स्वादिम का त्याग करने से ही उपवास होता है। भगवान महावीर ने जितनी तपस्या की थी, वह सारी-की-सारी बिना पानी के ही की थी। इसलि उपवास आदि में चारों ही प्रकार के आहार का त्याग होना चाहिए। योत जितना त्याग किया जाए, वह अच्छा है। पर उसे ऊनोदरी में गिना जाता है, उपवास में नहीं।

अनशन का मूल्य

एक दिन के उपवास से लेकर दो दिन, तीन दिन.....यावज्जीवनम के त्याग (संथारा) के लिए हमारे यहां अनशन शब्द का प्रयोग हुआ है। पर यह अनशन आजकल चलनेवाले अनथन से सर्वथा अलग है। राजनीतिक लोगों ने अनशन को इतना विकृत रूप दिया है कि यह शब्द बदनाम बनता जा रहा है। जहां भी अनशन की बात चलती है, लोग समझते हैं कि जरूर कुछ गड़बड़ है।

वस्तुतः उपवास/अनशन बहुत ऊंचा तत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही, शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा से भी यह कम उपयोगी नहीं है। महीने में यदि दो उपवास होते रहें तो शरीर के पाचन-तंत्र को विश्राम मिलता है। दीर्घ काल तक कार्य करने के लिए यह अत्यावश्यक है। आप देखें, आप की कार भी चलते-चलते विश्राम

मांगती है। यदि उसके इंजन को बीच-बीचमें विश्राम न मिले तो बहुत जल्दी बेकार हो जाती है। यही बात हमारे शरीर के यंत्रोंके बारे में भी है। स्वास्थ्य-विशेषज्ञ भी इस सिद्धांत का पूर्ण समर्थन करते हैं। आयुर्वेद में कहा गया है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दिन में दो बार, माह में दो बार और वर्ष में दो बार जरूरी है। यानी दिन में दो बार उत्सर्ग, महीने में दो बार उपवास (लंघन) और वर्ष में दो बार जुलाब(विरेचन) बहुत आवश्यक है।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि वस्तु के एक अंश को उस वस्तु का एक भाग कहा जा सकता है, संपूर्ण वस्तु नहीं। इस दृष्टि के गतिसहायक द्रव्यहधर्मास्तिकाय लोक के हर प्रदेश में मौजूद है। पर वह संपूर्ण धर्मास्तिकाय नहीं, आंशिक धर्मास्तिकाय है। संपूर्ण धर्मास्तिकाय तो पूरे लोक में ही व्याप्त है।

धर्मास्तिकाय की तरह अधर्मास्तिकाय भी क्षेत्र की दृष्टि से लोक-परिमाण। संपूर्ण लोकाकाश में अधर्मास्तिकायहस्थितिसहायक द्रव्य व्याप्त है।

एकप्रदेशादिषु विकल्प्यः पुद्गलानाम्

लोकस्यैकप्रदेशादिषु पुद्गलानामवगो विकल्पनीयः।

पुद्गल क्षेत्र की दृष्टि से लोकाकाश के प्रदेश से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। यानी कुछ पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में रहते हैं तो कुछ दो प्रदेशों में, कुछ तीन प्रदेशों में, कुछ चार प्रदेशों में कुछ पांच प्रदेशों में.....और कुछ समूचे लोक में। परमाणु के कोई प्रदेश नहीं होता। वह केवल लोकाकाश के एक प्रदेश में रहता है। पुद्गल-स्कंध द्विप्रदेशी यावत अनंतप्रदेशी होते हैं। ये पुद्गल-स्कंध लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर समूचे लोक में समाते हैं। मैंने पहले ही स्पष्ट किया था कि एक प्रदेश एक परमाणु जितना होता है। अब सहज ही यह प्रश्न उभरता है कि अनंतप्रदेशी स्कंध लोकाकाश के एक प्रदेश में कैसे समाता है यह बात सहज बुद्धिगम्य नहीं है। पर जैसा कि कल मैंने कहा था, सब बातें बुद्धि और तर्क से समझ में नहीं आतीं। तर्क और बुद्धि से मात्र वे बातें समझ में आ सकेंगी, जो उनकी सीमा में हैं। बुद्धि और तर्क की सीमा से पार की बातों को हमें श्रद्धा और विश्वास के आधार पर जानना चाहिए। अनंतप्रदेशी पुद्गल-स्कंध लोकाकाश के एक प्रदेश में

कैसे समाता है, इस बात को हम इस आधार पर भी समझ सकते हैं कि पुद्गल का संकोच और विकोच का स्वभाव है। वह संकुचित हो तो परमाणु जितने लोकाकाश के क्षेत्र में रह सकता है और विस्तार पाए तो समूचे लोक में व्याप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ आपने कमरे में एक बल्ब जलाया। उसका प्रकाश पूरे कमरे के आकाश में व्याप्त हो गया। जब आपने दूसरा बल्ब और जला दिया। उसका प्रकाश भी उस कमरे के आकाश में समा गया। इस प्रकार तीन, चार, दस, बीस, पचास.....बल्ब आपने अपने कमरे में जलाए और सबका प्रकाश उस कमरे में समा गया। कमरा एक है और बल्ब एक हो या हजार, सबका प्रकाश उसमें समा जाता है। इसी प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में अनंत पुद्गल का स्कंध समा जाता है। आप पूछेंगे कि प्रकाश पुद्गल है क्या। आप क्या भूल गए इतनी जल्दी? अभी कुछ ही दिनों पहले मैंने पुद्गलों के लक्षणों का वर्णन करते हुए आप लोगों को बताया था कि अंधकार, प्रकाश, उद्योत, छाया.....सब पुद्गल के लक्षण हैं और जिसमें ये लक्षण पाए जाते हैं, वह पुद्गल है। अब आपको इस बात को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अनंत-प्रदेशी स्कंध लोकाकाश के एक प्रदेश में भी समा सकता है।

गंगाशहर

२ अगस्त १९७८

२१ : संसार में जीव की अवस्थिति

कल के प्रवचन में धर्म, अधर्म और पुद्गल की अवगाहना के बारे में आपने सुना। आज हम जीव की अवगाहना पर विचार करेंगे।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।

जीवः खलु स्वभावात् लोकस्य अल्पादल्पं असंख्येय-प्रदेशात्मकं असंख्येतमं भागमवरुध्य तिष्ठति, न पुद्गलवत्, एकप्रदेशादिकम्, इति असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहः।

असंख्येयप्रदेशात्मके च लोके परिणातिवैचित्र्यात् प्रदीपप्रभा-पटलवत् अनन्तानामपि जीवपुद्गलानां समावेशी न दुर्घटः।

जैन-दर्शन के मान्यतानुसार प्रत्येक जीव कम-से-कम लोकाकाश के असंख्येयप्रदेशी असंख्यातवें भाग का अवगाहन करता है। अर्थात् जीव का अवगाहना लोकाकोश के असंख्येयप्रदेशात्मक असंख्यातवें भाग से लेकर लोकाकाश तक है।

जीव संकोचहविकोच करता है

वास्तव में जीव शरीरव्यापी है। जिस जीव को बड़ा, छोटा जैसा भी शरीर मिलता है, वह उसी में व्याप्त होकर रहता है। जो जीव हाथी जैसे विशाल शरीर में रहता है, वही जीव चींटी या उससे भी बहुत छोटे प्राणी के शरीर भी रह जाता है। आ पूछेंगे कि क्या जीव छोटे-बड़े होते हैं नहीं? जीवों में छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं होता। सभी जीव असंख्येयप्रदेशात्मक होते हैं। पर जिसको जैसा शरीर मिलता है, वह उसी में व्याप्त हो जाता है और यदि चींटी या कुंथुआ का शरीर मिला तो वह उसमें व्याप्त हो जाता है। शरीर के छोटे-बड़े होने से उसके व्याप्त हो जाता है। शरीर के छोटे-बड़े होने से उसके व्याप्त होने में कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि जीव का संकोच और विकोच का स्वभाव है।

आप इस बात को स्थूल उदाहरण से समझ सकते हैं। एक व्यक्ति के पास बहुत विशाल मकान है। उस मकान में दसियों-बीसियों कमरे हैं। खाने का कमरा अलग, सोने का कमरा अलग, पढ़ने का कमरा अलग.....लेकिन जब वही व्यक्ति बंबई और कलकत्ता-जैसे बड़े शहर में जाता है तो एक छोटे-से कमरे में ही रह जाता है। खाना-पीना, सोना, अध्ययन आदि उसके सारे कार्य उसी एक कमरे में होने लगते हैं। मैंने देखा हैह्रएक-एक छोटे कमरे में परिवार के आठ-आठ, दस-दस सदस्य रहते हैं। उनके सभी काम वहीं पर अच्छी तरह से होते हैं। हम साधु लोग हैं। हमें कभी बड़ा भवन मिल जाता है तो हम उसमें फैलकर रह जाते हैं और कभी एक-दो झोंपड़े मिलते हैं तो उनमें भी आराम से रह जाते हैं। क्षेत्र की संकीर्णता या विशालता हमारे आवश्यक कार्यों में बाधक नहीं बनती। इसी प्रकार जीव को भी यदि बड़ा शरीर मिलता है तो वह उसमें व्याप्त हो जाता है और छोटे शरीर मिलता है तो उसमें व्याप्त होकर रह जाता है। यह संकोच और विकोच के कारण होता है वैसे संकोच और विकोच पुद्गल भी करता है, पर पुद्गल की संकोच-विकोच की शक्ति और जीव की संकोच-विकोच में अंतर है। पुद्गल जहां संकुचित होकर लोकाकाश के एक प्रदेश परिमाणवाले क्षेत्र में भी व्याप्त हो सकता है, वहीं जीव अधिक-से-अधिक लोकाकाश के असंख्येयप्रदेशात्मक असंख्यातवें भाग में ही संकुचित हो सकता है। लोकाकाश के एक से लेकर संख्येयप्रदेश तक के क्षेत्र में वह नहीं रह सकता।

पुद्गल के संकोच-विकोच को समझने के लिए मैंने कल प्रकाश का उदाहरण दिया था। वह उदाहरण जीव के संकोच-विकाच को समझने के लिए भी काम में आ सकता है। दीपक जल रहा है। उस पर आपने एक ढक्कन रख दिया। परिणामतः उस दीपक का प्रकाश उस ढक्कन के अंदर-अंदर संकुचित हो गया। आपने ढक्कन हटा लिया और प्रकाश सारे कमरे में फैल गया। इसी प्रकार जीव को छोटा शरीर मिलता है तो वह अपने आत्मप्रदेशों की संकुचित करके रह जाता है और विशाल शरीर मिलता है तो आत्मप्रदेशी को फैलाकर रह जाता है।

भवभ्रमण का हेतु

इस संदर्भ में यह जान लेना भी प्रासंगिकता है कि मनुष्य सदा मनुष्य ही नहीं रहता। इस जन्म में मनुष्य है तो अगले जन्म में वह देव

भी बन सकता है, नारक भी सकता है। पशु-पक्षी या पेड़-पौधा भी बन सकता है। इसी प्रकार पशु-पक्षी और पेड़-पौधों के जीव भी सदा उसी योति में रहेंगे, यह बिलकुल भी जरूरी नहीं है। आज जो पशु है, कल वह मनुष्य या पेड़-पौधे का शरीर भी धारण कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक जीव संसार की विभिन्न योनियों में चक्र लगाता रहता है। आप पूछेंगे कि जीव को विभिन्न योनियों में कौन भेजता है, न्यायधीश कौन है। न्यायधीश हैंह्रस्वकृत कर्म। यद्यपि कर्म। यद्यपि कर्म स्वयं में जड़ हैं, तथापि उन्हें करनेवाला चेतनाशील है। वह उनमें शक्ति भर देता है, इसलिए वे जड़ होते हुए भी समय पर अपना फल देते हैं। टाइम बम को आप जानते होंगे। वह जड़ है। पर चेतना उसमें शक्ति भर देता है और वह ठीक समय पर विस्फोट करता है। यह टेपरिकार्डर आपके सामने है। क्या यह जड़ नहीं है ? पर चेतना इसमें आवाज के रूप में शक्ति भर देता है। अब जैसे ही इसे चलाया जाता है, यह चेतना की तरह आवाज करने लगता है। हां, तो मैं कह रहा था कि कर्म जड़ हैं, पर वे चेतन को फल भुगतने में समर्थ हो जाते हैं। इन कर्मों के कारण जीव विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता हुआ छोटे-बड़े शरीर को धरण करता है।

आहारक लब्धि

हमारे शास्त्रों में आहारक लब्धि का वर्णन आया है। लब्धिधारी साधु उसका कभी-कभी प्रयोग कर लेते हैं। कल्पना करें कि, मुनि बैठे हैं और किसी ने उनसे कोई प्रश्न पूछा। प्रश्न इतना गहरा है कि उसका उत्तर उनको आता नहीं। अब मुनि सोचते हैंह्रमेरा यहां इतना सम्मान है, लोग मुझे बहुत बड़ा ज्ञान मानते हैं, इस स्थिति में यदि मैं प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकूंगा तो यह प्रश्नकर्ता मुझे क्या समझेगा। इस प्रतिष्ठा या अहंकार को सुरक्षित रखने के लिए वे लब्धिधारी मुनि अपने शरीर से एक हाथ का एक पुतला निकालते हैं और उसे केवलज्ञानी के पास भेजते हैं। उस पुतले में इतनी शक्ति होती है कि वह भी पहाड़ों और मुद्रों को पार करता हुआ भी चला जाता है। कहीं रुकता नहीं। सैकड़ों-हजारों मील की दूरी पारकर वह वहां पहुंचता है, जहां केवलज्ञानी विराजित हैं। उनसे उस प्रश्न का जवाब लेकर वह वापस आता है और मुनि के शरीर में प्रवेश कर जाता है। मुनि उसके उत्तर के आधार पर प्रश्नकर्ता को समाहित करते हैं। पुतला यह काम इतनी त्वरित गति से और इतने

अल्प समय में संपन्न करता है कि प्रश्नकर्ता को यह पता भी नहीं चल पाता कि मुनिश्री को इस प्रश्न का उत्तर नहीं आता या उन्होंने इसके उत्तर देने में तनिक भी विलंब किया है। उसे तो ऐसा ही महसूस होता है कि मैंने प्रश्न पूछा और मुनि महाराज ने मेरे प्रश्न का तत्काल समाधान दे दिया।

कोई पूछ सकता है कि मुनि जब शरीर से पुतला निकालते हैं, तब आत्मा कहां रहती है, शरीर में या पुतले में इसका समाधान यह है कि आत्मा मुनि के मूल शरीर और पुतले दोनों में ही रहती है। आप कहेंगे कि पुतला तो मूल शरीर से सैकड़ों-हजारों मी दूर भी हो सकता है, फिर दोनों में आत्मा कैसे। वास्तव में आत्मा के प्रदेश उस समय फैल जाते हैं और मूल शरीर से लेकर पुतले तक (चाहे वह कितनी भी दूर न हो) उनका एक तांता लग जाता है। बीच का एक प्रदेश भी आत्मप्रदेश से रहित नहीं रहता।

सूत्रों में बताया गया कि तीव्र बीमारी, तीव्र क्रोध, लब्धि-प्रयोग(समुद्घात) आदि के समय आत्मा शरीर से बाहर निकलती है। उत्कृष्ट रूप में एक आत्मा पूरे लोकाकाश में व्याप्त हो सकती है।

काल की अवगाहना

जीव की अवगाहना को जानने के बाद अब हम काल की अवगाहना को समझें।

कालः समयक्षेत्रवर्ती।

समयक्षेत्रमूहमनुष्यलोकः। तत्रैव सूर्यचन्द्रप्रवर्तितो व्यावहारिकः कालो विद्यते। नैश्चयिकस्तु प्रतिद्रव्यं वर्तते तेन तस्य सर्वव्यापित्वम्।

काल को जैन-दर्शन में केवल समयक्षेत्रवर्ती माना गया है। समयक्षेत्र यानी मनुष्यलोक। जंबूद्वीप, धातकीखंड और अर्धपुष्करहइन ढाई द्वीपों तथा लवणोदधि एवं कालोदधिहइन दो समुद्रों को मिलाकर मनुष्यलोक बनता है। समय केवल इस मनुष्यलोक में है। सूर्य और चंद्र द्वारा प्रवर्तित दिन, रात, मास, वर्ष आदि सब मनुष्यलोक में ही होते हैं, क्योंकि सूर्य और चंद्र दोनों मनुष्यलोक में ही गतिमान होते हैं। मनुष्यलोक के बाहर वे गतिमान नहीं होते। अतः मनुष्यलोक के बाहर ऐसा कोई काल का विभाग नहीं है। इस अपेक्षा से मनुष्यलोक को

समयक्षेत्र कहा गया है।

इस संदर्भ में एक बात और ज्ञातव्य है। काल दो प्रकार का है—व्यावहारिक और नैश्चयिक। दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष.....व्यावहारिक काल के भेद हैं। नैश्चयिक काल का अर्थ है—वर्तमान। यहां काल को जो मनुष्यलोकवर्ती कहा गया है, वह व्यावहारिक काल की अपेक्षा से है। नैश्चयिक काल तो लोक और अलोक दोनों में सर्वत्र व्याप्त है।

गंगाशहर

३ अगस्त १९७८

२२ : द्रव्य के सामान्य गुण (१)

छह द्रव्यों का विवेचन चल रहा है। गुण और पर्यायों के आश्रम को द्रव्य कहा जाता है। पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ। दूसरे शब्दों में जिसमें गुण और पर्याय दोनों विद्यमान हों, वह द्रव्य है। सवाल किया जा सकता है। कि गुण किसे कहते हैं।

सहभावी धर्मों गुणः।

‘एगदव्वस्सिआ गुणा’ इत्यागमवचनात् गुणो गुणिनमाश्रित्यैव अवतिष्ठते, इति स द्रव्यसहभावी।

द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहा जाता है। संसार के हर पदार्थ का कुछ-न-कुछ अपना धर्म होता है। धर्म शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है। प्रस्तुत संदर्भ में वह स्वभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सहभावी धर्म क्या है

धर्म के दो प्रकार हैं सहभावी और परभावी। पदार्थ के निरंतर साथ रहनेवाले धर्म को सहभावी धर्म तथा कभी-कभी साथ रहनेवाले धर्म को परभावी धर्म कहा गया है। सहभावी धर्म द्रव्य से कभी अलग नहीं हो सकता। आप पूछेंगे कि ऐसा क्यों आगम में इसका समाधान देते हुए कहा गया है **एगदव्वस्सिआ गुणा**। अर्थात् गुण एकमात्र द्रव्य के आश्रित होकर रहते हैं। द्रव्य के बिना उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य है तो गुण है, द्रव्य नहीं तो गुण भी नहीं। उष्णता अग्नि का सहभावी धर्म है। अग्नि समाप्त हो गई तो उष्णता में भी समाप्त हो गई। यह कभी संभव नहीं कि अग्नि तो समाप्त हो जाए और उसका सहभावी धर्म उष्णता शेष रह जाए। इसलिए द्रव्य के सौभावी धर्म का गुण कहा गया है।

आप पूछ सकते हैं कि भूख, प्यास, वासना आदि मनुष्य और पशु के सहभावी धर्म हैं या नहीं। यह ठीक है कि ये सब बातें मनुष्य और

पशु के साथ रहती हैं। पर इन्हें हम सहभावी धर्म नहीं कह सकते। क्यों? यह इसलिए कि ये निरंतर साथ नहीं रहतीं। भरपेट भोजन करने के बाद भूख कहा शेष रहती है? वासना भी आदमी को सदा नहीं सताती। प्रसंग उपस्थित होने पर ही वह अपना उन्माद दिखाती है। सहभावी धर्म में 'कभी है' और 'कभी नहीं' की स्थिति नहीं होती।

जीव का स्वभाव

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि क्रोध तो जीव का सहज स्वभाव है। पर वास्तव में क्रोध जीव का सहज स्वभाव नहीं है। क्रोध जीव में होता है, इसलिए भाव तो है, पर स्वभाव नहीं है, विकृत भाव या विभाव है। आप कहेंगे कि तब स्वभाव क्या है। जीव का स्वभाव है चेतना। चेतना के बिना चेतन/जीव नहीं हो सकता। दुःख, सुख में, बुढ़ापा, बीमारी आदि जीव की सभी स्थिति में चेतना अनिवार्य रूप में मौजूद रहेगी। **गुणो गुणिनं विहाय न तिष्ठति।** अर्थात् गुण त्रिकाल में भी गुणी को छोड़कर नहीं रह सकता। आप निश्चित मानें, गुण गुणी के सिवाय अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकता। न तिमोरियों में मिल सकता, न भंडारों में मिल सकता और न ही बाजार और दुकानों में मिल सकता। यानी उसके मिलने का एकमात्र स्थान वह गुणी है।

धर्म और धार्मिक

मैं बहुधा कहा करता हूँ कि धर्म धार्मिक के जीवन में ही वास करता है। यदि वह धार्मिक के जीवन में नहीं है तो कहीं भी नहीं है। परंतु आज कठिनाई यह हो गई कि वह धर्मस्थलों और धर्मशास्त्रों में समा गया है। धार्मिक के जीवन से उसका संबंध कटता-सा चला जा रहा है। यह स्थिति धर्म के विकास में सबसे बड़ी बाधा बनी है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म जब तक धार्मिक के जीवन में नहीं आता, तब तक वह मानव-समाज का अपेक्षित हित कभी कर सकता।

आप देखें, काला, लाल, पीला, सफेद आदि जितने भी रंग हैं, वे सब किसी-न-किसी पदार्थ में मिलते हैं। पदार्थ के बिना उनका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। हम मिठास को ही लें। वह कहां है ? क्या वह बिना पदार्थ कहीं मिलती है ? नहीं, ऐसा कभी भी नहीं होता। मिठास होगी तो गुड़, चीनी, मिश्री, दूध.....में ही होगी। केवल मिठास कभी नहीं हो सकती। द्रव्य का आधार उसको अवश्य चाहिए। हां, यह दूसरी बात है

कि द्रव्य के रस, रंग आदि में कालांतर में परिवर्तन आ जाए। जो वस्तु आज मीठी लगती है, वह कुछ दिनों पश्चात खट्टी या कड़वी भी हो सकती है। इसी प्रकार आज जो कपड़ा सफेद दिखाई देता है, वह कुछ दिनों पश्चात पीला या काला भी हो सकता है। पर इस परिवर्तन के बावजूद वह द्रव्य तो रहेगा ही।

गुण के प्रकार

सामान्यो विशेषश्च।

द्रव्येषु समानतया परिणतः सामान्यः।

व्यक्तिभेदेन परिणतो विशेषः।

गुण के दो प्रकार हैं १. सामान्य २. विशेष।

सभी द्रव्यों में समान रूप से पाया जानेवाला सहभावी धर्म सामान्य गुण कहलाता है। एक-द्रव्य में पाया जानेवाला सहभावी धर्म विशेष गुण कहलाता है। उदाहरणार्थहसंसार के जितने मनुष्य हैं, सब में मनुष्यता सामान्य गुण है। पर किसी व्यक्ति का विवेक कम जाग्रत होता है और किसी का अधिक। कोई बहुत सहिष्णु होता है, तो किसी में सहनशक्ति बहुत कम होती है। ये विशेष गुण हैं।

सामान्य गुण के प्रकार

अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्व-प्रमेयत्व-प्रदेशवत्त्व-अगुरुलघुत्वादिः

सामान्यः।

विद्यमानताहअस्तित्वम्।,

अर्थक्रियाकारित्वम्हवस्तुत्वम्।

गुणपर्यायाधारत्वम्हद्रव्यत्वम्।

प्रामाण्यविषयताहप्रमेयत्वम्।

अवयवपरिमाणताहप्रदेशवत्त्वम्।

स्वस्वरूपाविचलनत्वम्हअगुरुलघुत्वम्।

द्रव्य के सामान्य गुण के छह प्रकार हैं १. अस्तित्व २. वस्तुत्व ३. द्रव्यत्व ४. प्रमेयत्व ५. प्रदेशवत्त्व ६. अगुरुलघुत्व।

अस्तित्व

हर द्रव्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। द्रव्य त्रिकाल में कभी नष्ट

नहीं हो सकता। यह त्रैकालिक अस्तित्व जिस गुण के कारण होता है, वह अस्तित्व कहलाता है।

हमें यह तथ्य गहराई से समझ लेना चाहिए कि कोई पदार्थ हमारी दृष्टि से अलबत्ता ओझल तो हो सकता है, पर उसका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं हो सकता। आप कहेंगे, यह बात तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आदमी देखते-देखते मर जाता है। यह ठीक है कि आदमी मरता है और ऐसा लगता है कि वह समाप्त हो गया है। पर वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं होता। मौत के पश्चात भी आत्मा का अस्तित्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। केवल वह अपना घर या स्थान का परिवर्तन कर लेती है। आप स्थूल उदाहरण से समझें। आपके गंगाशहर के सैकड़ों-हजारों आदमी यहां से बार बंगाल, बिहार, आसाम आदि प्रांतों में चले गए। वहां जाने से उनके मकान बदल गए, फिर भी उनका अस्तित्व तो विद्यमान है ही। ठीक यही बात मृत्यु के समय होती है। आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। इस शरीर-परिवर्तन का नाम ही मृत्यु है। वस्तुतः आत्मा अमर है। जो अमर है, उसकी मौती कैसी? इस संदर्भ में इतना और समझ लें कि आत्मा अमर है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुद्गल नाशवान हैं। पुद्गल भी अमर हैं। आत्मा कभी पैदा नहीं होती तो पुद्गल भी कभी पैदा नहीं होते। केवल उनके पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। पर पर्याय-परिवर्तन तो आत्मा में भी होता है इसलि आप इस भ्रांति में न रहें कि पुद्गल नाशवान हैं और आत्मा अमर है।

आप पूछ सकते हैं कि जब आत्मा भी अमर है और पुद्गल (शरीर) भी अमर हैं, तब मौत किसकी होती है, नष्ट कौन होता है। नष्ट वही होता, जो पैदा हुआ है। जीव और शरीर दोनों ही पैदा नहीं होते। पैदा होता है मात्र जीव और पुद्गल (शरीर) का संयोग। तात्त्विक दृष्टि से जीव और पुद्गल के संयोग का नाम ही जन्म है। जब यह संयोग नष्ट हो जाता है तो उसी हम मौत कह देते हैं। अब आपके सामने यह स्पष्ट है कि मौत के समय आत्मा और शरीर दोनों ही नष्ट नहीं होते। नष्ट केवल दोनों का संयोग होता है। वियोग तभी है, जब संयोग है। संयोग नहीं तो वियोग कभी नहीं। जब आत्मा और पुद्गल दोनों ही शाश्वत हैं, तब भी मृत्यु के समय लोग रोते हैं, यह एक आश्चर्य है! आत्मा यहां से छूटकर स्थूल शरीर के रूप में दूसरे पुद्गलों का ग्रहण कर लेती है और छोड़े हुए पुद्गल (स्थूल शरीर) दूसरे-दूसरे

पर्यायों में परिवर्तित हो जाते हैं। फिर यह रोना, धोना किसके लिए? कोई अपनी माता को रोता है, कोई पिता को, कोई भाई को, कोई.....। पर कट्टु यथार्थ तो यह है कि सब अपने-अपने स्वार्थ जुड़े होते हैं। जब कोई व्यक्ति चला जाता है तो अनेक व्यक्तियों के स्वार्थ उसके साथ चले जाते हैं, इसलिए वे उसके पीछे आंसू बहाते हैं।

धार्मिक व्यक्ति की एक बड़ी पहचान है कि वह किसी की मौत पर कभी रोता नहीं। सभी स्थितियों में वह अपने-आपको संभाल कर रखता है। मरे देखते-देखते मेरे हृदय-सम्राट, आराध्यदेव, पूज्य गुरुदेव कालगुणी चले गए। आज भी वह दृश्य मेरी आंखों की पुतलियों में ज्यों-का-त्यों नाच रहा है। सूर्यास्त से थोड़ा पहले का समय। मैं हाथ में दवा की पुड़िया लिए खड़ा हूँ। पर वे अनशन कर लेते हैं और कुछ ही देर में हमें सदा-सदा के लिए छोड़ कर चले जाते हैं। एक क्षण के लिए मुझे उस समय गहरा धक्का लगता है। मेरे लिए पूज्य गुरुदेव से बढ़कर संसार में और कोई था? उनसे मैंने ज्ञान पाया, चिंतन पाया, पथ-दर्शन पाया और जीवन पाया। निश्चय ही ऐसी स्थिति में गुरुदेव का एकाएक हमें छोड़कर चले जाना आघातकारी था, फिर भी मैंने अपने-आपको संभालकर रखा। उसके परिणामस्वरूप मेरी आंखें जरा भी गीली नहीं हुईं। मैंने सोचाहसंयोग के साथ वियोग और जन्म के साथ मौत जुड़ी हुई है। कोई भी व्यक्ति इसका अपवाद नहीं हो सकता। तब दुःख करना व्यर्थ है। बंधुओ! सामान्य प्राणियों की तो हम बात ही छोड़ें, तीर्थंकर भगवान को भी एक दिन इस शरीर को छोड़कर जाना होता है। ऐसी स्थिति में हम किस-किस की मौत पर आंसू बहाएं?

वस्तुत्व

जिस गुण के कारण द्रव्य कोई-न-कोई अर्थक्रिया अनिवार्यरूप से करे, वह गुण वस्तुत्व कहलाता है। आप इस बात को सिद्धांत रूप में समझ लें कि संसार में हर पदार्थ कुछ-न-कुछ क्रिया अवश्य करता है। यदि क्रिया नहीं है तो वह पदार्थ भी नहीं है। यह अलग बात है कि किसी पदार्थ की क्रिया हमें दृष्टिगोचर होती है और किसी की नहीं भी होती। भले दृष्टिगोचर हो या न हो, पदार्थ होगा तो क्रिया होगी ही। कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नहीं हो सकता।

मेरे मन में बहुत बार यह प्रश्न उभरता है कि जब संसार का

प्रत्येक प्राणी/पदार्थ क्रिया करता है तो मनुष्य निष्क्रिय क्यों रहता है। आ देखें, ये जरा-जरा-सी चींटियां भी दिन भर सक्रिय रहती हैं। सब मिल-जुलकर अपना घर बनाती हैं, खाद्य-पदार्थों का संग्रह करती हैं। कहा जाता है कि कोई चींटी काम किए बिना नहीं रह सकती। यदि एक-दो चींटियां चाहें कि हम कार्य नहीं करेंगी तो उन्हें दूसरी चींटियां तत्काल मार देती हैं, जीवित नहीं रहने देतीं। कथन का आशय यह है कि द्रव्य के साथ क्रिया अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है।

द्रव्य

अपने जिस गुण के कारण द्रव्य सदा नए-नए पर्यायों को धारण करता है, वह सामान्य गुण द्रव्यत्व कहलाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि द्रव्यत्व द्रव्य में होनेवाले परिणामन का एकमात्र आधार है। यदि द्रव्यत्व न हो तो द्रव्य, द्रव्य नहीं हो सकता। यह ठीक वैसे ही है, जैसे मनुष्यत्व के बिना कोई मनुष्य नहीं होता, साधुत्व के बिना कोई साधु नहीं होता।

प्रमेयत्व

किसी द्रव्य को हम ज्ञान के द्वारा जानते हैं, पर ज्ञान से तभी जानते हैं, जब वह द्रव्य है। यदि वह द्रव्य है ही नहीं तो ज्ञान उसे कैसे जानेगा? द्रव्य के जिस गुण के कारण हम ज्ञान के द्वारा किसी पदार्थ को जानते हैं, वह गुण प्रमेयत्व कहलाता है। वैसे हम किसी द्रव्य को जाने या न जानें, यह एक अलग बात है, क्योंकि हमारा ज्ञान सीमित है, पर ज्ञान में वह शक्ति होती है कि वह हर द्रव्य को जान लेता है।

लोग कहते हैं कि भगवान आत्मा को देखते हैं। भगवान आत्मा को देखते हैं। पर इसके समानांतर ही यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आत्मा तो अरूप/अमूर्त है, फिर भगवान क्या देखते हैं। भगवान किसी भी पदार्थ को उसी अवस्था में देखते हैं, जिस अवस्था में वह है। यदि वह अमूर्त और अवर्ण है तो उसे अमूर्त और अवर्ण देखते हैं। इसके विपरीत यदि वह मूर्त और स्वर्ण है तो उसे मूर्त और स्वर्ण देखते हैं। वास्तव में भगवान का ज्ञान सर्वथा अनावृत होता है। जहां ज्ञान अनावृत होता है, वहां मूर्त और अमूर्त, अवर्ण और स्वर्ण सब द्रव्यों को सहजतया जाना होता है।

द्रव्य के प्रमेयत्व गुण के कारण ही प्रमाता द्रव्य को जानता है।

गंगाशहर, ४ अगस्त १९७८

२३ : द्रव्य के सामान्य गुण (२)

द्रव्य के सामान्य गुणों का प्रतिपादन चल रहा है। कल के प्रवचन में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व और प्रमेयत्व-इन चार सामान्य गुणों की चर्चा संपन्न हो चुकी है। आज मैं शेष दो सामान्य गुणहप्रदेशवत्त्व और अगुरुलघुत्व की चर्चा करूंगा।

प्रदेशवत्त्व

द्रव्य के जिस गुण के कारण उसके प्रदेशों को मापा जा सके, उस गुण का नाम प्रदेशवत्त्व है। प्रदेश का अर्थ, जैसा कि मैं पहले भी कई बार स्पष्ट कर चुका हूँ, अवयव/भाग/खंड है। हम जानते हैं कि द्रव्य एकप्रदेशी, द्विप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी और अनंतप्रदेशी तक होते हैं। द्रव्य के इन प्रदेशों को तभी मापा जा सकता है, जब द्रव्य में ऐसा कोई गुण हो, जो मापने में कारण बने। यदि ऐसा कोई गुण द्रव्य में न हो तो उन प्रदेशों को नहीं मापा जा सकता।

अगुरुलघुत्व

द्रव्य के जिस सामान्य गुण के कारण द्रव्य अपने अस्तित्वहस्वरूप में अवस्थित रहता है, वह गुण अगुरुलघुत्व कहलाता है। यदि वह गुण द्रव्य में न हो तो उसके गुण बिखर कर अलग-अलग हो सकते हैं। गुरु का अर्थ हैहभारीहवजनदार। लघु का अर्थ हैहहलका। हम देखते हैं, कुछ पदार्थ भारी होते हैं और कुछ हलके। पत्थर भारी होता है तो सिर के केश बिलकुल हलके होते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से रूपी द्रव्य एक-दूसरे से हलका और भारी होते हैं। अगुरुलघुत्व द्रव्य का एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण कोई भी द्रव्य हलके से भारी नहीं होता और भारी से हलका नहीं होता। अर्थात् जिसका जो स्वरूप है, वह उसी स्वरूप में रहता है। वह अपने अस्तित्व को छोड़कर दूसरे के अस्तित्व का नहीं स्वीकार करता। आ देखें, हम पुद्गल भी हैं और आत्मा भी। अनंतकाल

से पुद्गल और आत्मा का संबंध चला आ रहा है। पर पुद्गल कभी आत्मा नहीं बनते और आत्मा कभी पुद्गल नहीं बनती। धर्म और अधर्म दोनों साथ-साथ रहते हैं, फिर भी त्रिकाल में धर्म अधर्म नहीं बनता और अधर्म धर्म नहीं बनता, क्योंकि द्रव्य में एक ऐसा गुण है, जो उन्हें अपनी सीमा को छोड़कर दूसरे की सीमा में जाने से बराबर रोके रखता है।

हम व्यवहार में देखते हैं कि विभिन्न संप्रदायों के लोग साथ-साथ रहते हैं, पर रहते हैं अपने-अपने संप्रदाय में ही। अपना संप्रदाय छोड़कर दूसरे संप्रदाय में नहीं जाते और तब तक नहीं जाते, जब तक उनका विश्वास अपने संप्रदाय के सिद्धांतों में बना है। यह विश्वास एक ऐसा गुण है, जो लोगों को अपने संप्रदाय को छोड़कर दूसरे संप्रदाय में जाने से रोके रखता है। जिस दिन किसी व्यक्ति का यह विश्वास समाप्त हो जाता है, उस दिन वह अपना संप्रदाय छोड़कर दूसरे संप्रदाय में भी जा सकता है।

प्रसंग आचार्य भिक्षु का

आचार्य भिक्षु के पास कुछ दिगंबर भाई आए और उन्होंने कहा 'आपके विचार बहुत क्रांतिकारी हैं। आपका आचार निर्मल है। आपकी प्रतिभा विलक्षण है। आपकी तार्किक शक्ति अपराजेय है। प्रश्न का तत्काल उत्तर देने की आपकी हकला का तो कहना ही क्या! यदि आप एक बात हमारी मान लें तो हम सब आपके अनुयायी बन जाएं।' आचार्य भिक्षु प्रश्नाचित नयनों से मुखर हुए 'क्या?' समागत दिगंबर भाइयों ने कहा 'अपना अभिप्राय स्पष्ट कहते हुए 'आप कपड़े रखते हैं, यह उचित नहीं है। अतः आप कपड़े रखना छोड़कर दिगंबरत्व स्वीकार कर लें।' उनकी बात सुनकर आचार्य भिक्षु तनिक भी उत्तेजित नहीं हुए। उन्होंने उन्हें अत्यंत मधुर उत्तर दिया 'भाइयो! मैंने धन छोड़ा, मकान छोड़ा, परिवार छोड़ा और सारा संसार छोड़ा। ऐसी स्थिति में कपड़े छोड़ने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर एक कठिनाई है कि मैंने श्वेतांबर शास्त्रों के आधार पर दीक्षा अंगीकार की है। उन शास्त्रों पर मेरा दृढ़ विश्वास है। उनमें साधु के लिए निर्दिष्ट परिमाणयुक्त कपड़ा रखने का विधान है। इसलिए मैं वस्त्र रखता हूँ। अलबत्ता जिस दिन श्वेतांबर शास्त्रों से मेरा विश्वास हट जायेगा और दिगंबर शास्त्रों में विश्वास हो जाएगा, उस दिन मैं कपड़े रखने का तनिक भी आग्रह न करता हुआ

तत्काल दिगंबर बन जाऊंगा।’

बन्धुओ! यह विश्वास एक ऐसा तत्व है, जो व्यक्ति को बांधे रखता है। हम देखते हैं कि एक घर में दसियों-बीसियों व्यक्ति रहते हैं। उनका दूसरे-दूसरे परिवार और समाज के लोगों के साथ संपर्क होता रहता है। इसके बावजूद कोई व्यक्ति अपने घर या परिवार छोड़कर दूसरे घर या परिवार में नहीं जात, क्योंकि घर या परिवार सदस्य परस्पर स्नेह के मजबूत धागे से बंधे होते हैं। जब तक यह स्नेह का धागा नहीं टूटता, तब तक कोई भी घर या परिवार का सदस्य अपना घर या परिवार छोड़कर दूसरे के साथ संबद्ध नहीं हो पाता। पति-पत्नी का संबंध उम्र-भर क्यों बना रहता? कारण स्पष्ट है। दोनों प्रगाढ़ स्नेह सूत्र से बंधे हुए होते हैं।

अपना-अपना अस्तित्व

यही बात द्रव्य के संबंध में है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सत्ता स्वीकार नहीं करता, क्योंकि अगुरुलघुत्व उसका एक ऐसा गुण है, जो उसे अपनी सीमा में बांधे रखता है, दूसरे की सत्ता को स्वीकार करने से बराबर रोकता रहता है। आप गौर से देखें, जैन सिद्धांत यह कहता है, नहीं-नहीं सिद्धांत यह कहता है कि कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ता को छोड़कर दूसरे द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

सिद्धशिला में सिद्धत्माएं रहती हैं। संसारी आत्माओं की भी वहां कोई कमी नहीं है। अलबत्ता स्थूल शरीरवाले प्राणी वहां नहीं हैं, पर सूक्ष्म शरीरवाले प्राणी तो वहां भरे पड़े हैं। इसके साथ ही बादर वायुकाय के जीव भी वहां अटे पड़े हैं। और वे जीव इस प्रकार भरे हुए हैं, जैसे काजल की कोठरी में काजल। मैं आपको यहां यह बताना चाहता हूं कि वहां न तो कोई संसारी आत्मा कभी अपने अस्तित्व को छोड़कर सिद्धात्मा की सत्ता को स्वीकार करती हैं और न ही कोई सिद्ध आत्मा संसारी आत्मा के अस्तित्व को।

हम आत्मा की बात छोड़ें। लोक में एकप्रदेशी (परमाणु), द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनंतप्रदेशी पुद्गल भरे पड़े हैं। पर त्रिकाल में भी नह कोई पुद्गल जीव बनता है और न ही कोई जीव पुद्गल। दोनों ही अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखते हैं। एक-दूसरे की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

हमारी आत्मा (संसारी आत्मा) कर्मों से संबद्ध है। कर्म पुद्गल हैं। इसके बावजूद कर्म त्रिकाल में कभी आत्मा नहीं बनते और आत्मा कर्म/पुद्गल नहीं बनती। अलबत्ता प्रभावित एक-दूसरे को कर सकते हैं। पर यह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। आप लोक-व्यवहार को ही देखें। क्या कोई पड़ोसी अपने पड़ोसी पर प्रभाव नहीं डालता है? क्या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता है? क्या राष्ट्र प्रभावित नहीं होता है ? यहां समझने की बात यह है कि प्रभव डालने या या प्रभावित होने का अर्थ अपनी सत्ता छोड़कर दूसरे सत्ता स्वीकार करना नहीं है। कर्म-पुद्गल हमारी आत्मा को प्रभावित करते हैं और आत्मा कर्म-पुद्गलों को प्रभावित करती है। इसके बावजूद वे हर स्थिति में अपने-अपने अस्तित्व में ही रहते हैं। द्रव्य का जो गुण अपने अस्तित्व को बनाए रखता है, वही हैह्यअगुरुलघुत्व। मैं इस बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से और बार-बार बता रहा हूं, इसका उद्देश्य इतना-सा ही है कि मुझे सरलता या तत्त्व को हृदयंगम करवाना है।

आत्मा पुरुषार्थ क्यों करे

कुछ लोगों (सांख्य मतावलंबियों) की ऐसी मान्यता है कि आत्मा शुद्ध स्वरूप में ही रहती है। उसके कर्मों का बंधन नहीं होता फिर आत्मा को बौर बांधता है? इसका समाधान वे यह देते हैं कि विशुद्ध आत्मा से प्रकृति का संबंध होता है। (कर्म को वे प्रकृति के रूप में स्वीकार करते हैं) प्रकृति का कोई बंधन नहीं होता। सांख्य मतावलंबियों के अतिरिक्त कुछ जैनों की भी ऐसी मान्यता है। पर हमारे अनुभव से यह बात सही नहीं है। यदि कर्मों के ही कर्मों का बंधन है, आत्मा के कर्म का बंधन नहीं है तो आत्मा कर्मों को काटने के प्रयास ही क्यों करें? कर्मों को ही उन्हें काटने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। पर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कर्म कभी कर्मों को काटने के लिए पुरुषार्थ नहीं करते। त्याग, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि के द्वारा ही होता है। आप व्यापारी हैं। आपसे मैं पूछना चाहता हूं, कर्ज कौन चुकाता है। कर्ज वही चुकाता है, जो कर्जदार है। जिसके कर्ज है ही नहीं, उसके कर्ज चुकाने की बात बेमानी है। जब यह कहा जाता है कि आत्मा के कर्मों का बंधन होता ही नहीं तो फिर आत्मा उन्हें काटने का प्रयत्न किय न्याय से करें? पर आत्मा कर्मों को तोड़ने का प्रयत्न करती है। इससे यह बात सर्वथा

अयथार्थ साबित होती है कि आत्मा के कर्मों का बंधन नहीं होता।

संबंध और बंधन

मैं उनसे (सांख्य मतावलम्बियों से) एक बात और पूछना चाहता हूँ कि आत्मा कर्मों से जुड़ी है या नहीं? वे कहेंगे कि जुड़ी है। जब आत्मा कर्मों के साथ जुड़ी है तो यही बंधन है। बंधन का अर्थ दोनों का एक रूप होना नहीं, संबंध होना है। बहिन भाई के हाथ पर राखी बांधती है। क्या राखी से भाई-बहिन एक साथ जुड़ जाते हैं ? नहीं जुड़ते। पर परस्पर का संबंध हो जाता है। यह संबंध ही रक्षा का बंधन हो जाता है। यही बात यहां समझने की है। सांख्य मतावलंबी भी कहते हैं कि प्रकृति के साथ आत्मा का बंधन नहीं, केवल संबंध होता है। मैं नहीं समझता, यदि प्रकृति और आत्मा का बंधन नहीं होता तो फिर संबंध कैसे, और जब संबंध ही नहीं तो फिर उसे तोड़ने का प्रयास क्यों।

इन सब बातों से आत्म के कर्म-पुद्गलों का बंधन न बिलकुल स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पर कठिनाई यह है कि मताग्रह के कारण यथार्थ को समझकर भी व्यक्ति उसे स्वीकार नहीं कर पाता। व्यक्ति को यह बिलकुल साफ अनुभव होता है कि मैं गलती पर हूँ, फिर भी मताग्रह के कारण वह अयथार्थ छोड़कर यथार्थ तत्त्व स्वीकार करने में हिचकिचाता है और गलत तत्त्व से चिपका रहता है।

शुद्ध अध्यात्म

कल ही मेरे सामने सैकड़ों की संख्या में युवक बैठे थे। मैंने उनके बीच सामायिक की चर्चा की। सामायिक में **सावज्जं जोगं पच्चक्खामि** यानी सावद्य (सपाप) प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है। निरवद्यह्यपापरहित धार्मिक प्रवृत्ति का उसमें कोई त्याग नहीं होता। दिल खोलकर कोई भी निरवद्य प्रवृत्ति की जा सकती है। आप पूछ सकते हैंहसामायिक में पिताजी को नमस्कार करना या नहीं। नहीं करना, क्योंकि यह व्यावहारिक नमस्कार है, आध्यात्मिक नमस्कार नहीं। आपका अगला प्रश्न हो सकता है कि सामायिक में खाना-पीना आदि करना या नहीं। नहीं करना, क्योंकि यह सब सावद्य है। यह भी पूछा जा सकता है कि सामायिक में संतों को दान देना या नहीं अवश्य देना चाहिए, क्योंकि यह निरवद्य प्रवृत्ति है। इस प्रकार की पचासों-सैकड़ों बातें पूछी जा सकती हैं। उन सबका एक ही जवाब हैहजो प्रवृत्त सावद्य है, वह नहीं की जा

सकती और जो प्रवृत्ति निरवद्य है, उसे करने में कोई कठिनाई नहीं।

एक व्यक्ति सामायिक करके बैठा है। उसके सामने कोई बच्चा ऊपर से नीचे गिर रहा है। अब कोई सवाल कर सकता है कि वह उस बच्चे को बचा सकता है या नहीं। इसका उत्तर नकारात्मक है। क्यों? यह इसलिए कि यह प्रवृत्ति सावद्य है। पर यह केवल जैनधर्म की ही बात नहीं है, अपितु प्रायः सभी धर्मों में शुद्ध अध्यात्म की भूमिका में लगभग ऐसा ही विधान प्राप्त है। मुलसमान लोग नमाज पढ़ते हैं। नमाज पढ़ते समय यदि कोई मुसलमान भाई या बच्चा उसके सामने गिर रहा है तो विधानानुसार वह उसे बचाने के लिए बीच में नहीं उठ सकता, क्योंकि नमाज पढ़ने के समय वह बच्चा है ही नहीं।

आप देखें, मूर्तिपूजक साधु-साध्वियां और सामायिक में मूर्तिपूजक श्रावक भी मूर्ति की पूजा नहीं कर सकते। ये सब बातें हैं, जिन्हें शुद्ध अध्यात्म की भूमिका में ही समझा जा सकता है। जो लोग इस भूमिका में नहीं हैं, उन्हें ये बातें ठीक से समझ में नहीं आ सकतीं। पर किसी की समझ में आए या न आए, तत्त्व तो तत्त्व ही है। मैं तो ऐसा मानता हूं कि यदि व्यक्ति अपना दुराग्रह या मताग्रह छोड़कर इनमें समझे तो समझ में आने में बहुत कठिनाई नहीं होती। पर मुश्किल यह है कि लोग अपनी पकड़ नहीं छोड़ते। और जहां पकड़ होती है, वहां आदमी वास्तविक को जानकर भी उसे स्वीकार नहीं कर पाता। हां, तो मैं कह रहा था कि आत्मा के कर्मों का बंधन बिलकुल स्पष्टतया समझ में आ सकता है। पर वैचारिक, आग्रह के कारण लोग इस सत्य को अस्वीकार करने का निष्फल प्रयास करते हैं।

एक विदेशी श्रावक

आत्मा के कर्म-बंधन के संबंध में एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है कि आत्मा अरूप है और कर्म-पुद्गल रूपवान हैं। ऐसी स्थिति में प्रारंभ में अरूप आत्मा और रूपवान कर्म-पुद्गलों का परस्पर संबंध कैसे हुआ। यह प्रश्न मेरे सामने सबसे पहले आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व आया था। इससे पहले न तो कभी मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित ही हुआ और न मैंने कभी इस पर चिंतन ही किया। एक मजे की बात यह है कि यह प्रश्न किसी तेरापंथी, जैन या भारतीय विद्वान के द्वारा नहीं, अपितु एक अंग्रेज विद्वान द्वारा प्रस्तुत किया गया। उनका

नाम थाहडॉ. हर्बर्ट वारन। जैन-दर्शन के वे एक प्रकांड पंडित थे। पर हमारे धर्मसंघ से उनका कोई संपर्क नहीं था और न ही उनके बारे में हमें कोई जानकारी थी।

मैं अभी नहीं उदूंगा

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर डॉ. एफ. डब्ल्यू. थोम्स के माध्यम से उनके बारे में हमें सर्वप्रथम जानकारी मिली। डॉ. थोम्स भी गजब के आदमी थे ! ज्ञानप्राप्ति की उनकी तड़प भारतीय विद्वानों के लिए अनुकरणीय है। जैन-दर्शन के अध्ययन के लिए वे भारत आये थे। हमारे बारे में उन्हें जानकारी मिली तो वे बीदासर में मेरे से मिलने आए। राजस्थान की भयंकर गर्मी और उसमें भी लू और धूलभरी आंधियां। एक ठंडे मुल्क में रहनेवाले व्यक्ति वकेलिए इन परिस्थितियों में रहना कितना कठिन होता है ! पर जैसाकि मैंने बताया, ज्ञानप्राप्ति की उनके दिल में इतनी गहरी तड़प थी कि ऊपर की इन छोटी-मोटी कठिनाइयों की उन्हें कोई परवाह नहीं थी। मुझे बहुत याद हैहजब बीदासर से प्रस्थान कर हम पार्श्ववर्ती छोटे-से गांव बेनाथा में गए तो वे वहां भी आए। घंटों-घंटों उन्होंने वहां जैन-दर्शन पर बहुत सूक्ष्म और गहरी चर्चा की। श्रावक दानचंदजी चोपड़ा उस समय वहीं थे। उन्होंने एक तंबू में उनके ठहरने की व्यवस्था की। अचानक सामने से आंधी आने लगी। दानचंदजी ने कहाह'साहब ! आपको यहां से उठना होगा, क्योंकि आंधी आ रही है।' डॉ. थोम्स ने कहाह'नहीं, मैं अभी नहीं उदूंगा। मुझे काम कर दें, मेरा दिमाग अभी काम कर रहा है। यदि तंबू उड़ता है तो आप लोग इसे पकड़ कर रखें।' इस एक उदाहरण से आप समझ सकते हैं कि उनके मन में ज्ञानप्राप्ति की कितनी गहरी तड़प थी, कर्म के प्रति कितनी थी।

हां, तो डॉ. थोम्स के साथ लंबी चर्चा के बीच हमें डॉ. वारन की जानकारी प्राप्त हुई। श्रावक शुभकरण दसानी ने पत्रों के माध्यम से उनसे संपर्क स्थापित किया संपर्क से ज्ञात हुआ कि डॉ. वारन का जैन-दर्शन संबंधी ज्ञान अत्यंत ठोस है। यह जानकर तो आश्चर्य भी हुआ कि डॉ. वारन एक पक्के जैन श्रावक हैं और उसमें भी बारहव्रती श्रावक हैं। सामायिक, पौषध आदि सभी जैन उपासनाएं वे विधिवत करते हैं। पर एक प्रश्न हुआ कि ग्यारह व्रतों का तो वे पालन करते हैं, लेकिन बारहवें

व्रत का पालन कैसे संभव है इस व्रत का पालन तो साधु को दान देने से ही हो सकता है और इंग्लैंड में साधु हैं नहीं। जब उनको इस संबंध में पूछा गया तो उन्होंने लिखाहूँ मैं जब भोजन करने बैठता हूँ, तब पांच मिनिट तक पहले यह भावना करता हूँहसाधुजी महाराज! आइए पधारिए, मेरा भोजन ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए। इस प्रकार भावना करने के बाद मैं भोजन ग्रहण करता हूँ।' मुझे उनके इस उत्तर से बड़ा संतोष हुआ। साधु भिक्षा के लिए आए या न आए, पर श्रावक भोजन करने से पूर्व इस प्रकार भावना करेहयह प्राचीन पद्धति है।

डॉ. वारन ने पत्रों के माध्यम से मेरे सामने जैन तत्त्वज्ञान संबंधी अनेक प्रश्न प्रस्तुत किए। उन प्रश्नों की लंबी श्रृंखला में उन्होंने अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मों के संबंध का भी प्रश्न किया था। प्रश्न उपस्थित होने पर मैंने इस पर चिंतन किया।

आप पूछेंगे कि इस प्रश्न का आपने क्या समाधान किया। मैंने समाधान दियाहूँ आकाश अमूर्त है, फिर भी उसमें सभी मूर्त पदार्थ रहते हैं। ठीक इसी तरह अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म-पुद्गलों के संबंध को जाना जा सकता है।'

हालांकि हमने यह उत्तर दे तो दिया, हमें स्वयं भी इससे संतोष नहीं था। हमने इस प्रश्न के समाधान के संदर्भ में डॉ. वारन के स्वयं के चिंतन को जानना चाहा। हमारी भावना उन तक पहुंची। उन्होंने अपना चिंतन प्रस्तुत करते हुए बतायाहूँहम आत्मा को अमूर्त कहते हैं' पर वह अमूर्त है कहां? वह तो अनादिकाल से पुद्गलों के आश्रित होकरक ही रह रही है। पुद्गलों का आश्रय या संबंध उसे एक अपेक्षा से पुद्गल बना देता है, मूर्त बना देता है। और यह मूर्त ही मूर्त का संग्राहक होता है। वैसे शुद्ध स्वरूप में आत्मा अमूर्त है। उस अवस्था में आत्मा मूर्त का ग्रहण नहीं करती। यह स्वरूप उसे मुक्तावस्था में प्राप्त होता है। यही कारण है कि मुक्त आत्मा (सिद्ध) पर कभी कोई कर्म-पुद्गलों का संबंध होता है।'

अगुरुलघुत्व की विवेचना करते-करते मैं और भी कई बातें कह गया। यद्यपि ये बातें विषय से सीधी संबद्ध तो नहीं है, तथापि ज्ञातव्य बातों को भी प्रसंग अपने पर बतलाना अत्यंत आवश्यक है, जिससे आप लोगों को विभिन्न विषयों की जानकारी हो सके।

गंगाशहर, ५ अगस्त १९७८

२४ : द्रव्य के विशेष गुण (१)

द्रव्य के सामान्य गुणों का विवेचन मैं पिछले दिनों अपहने प्रवचन में कर चुका हूँ। आज के प्रवचन में मैं उसके विशेष गुणों की चर्चा करूँगा।

गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्व-स्पर्शरसगन्धवर्ण-ज्ञानदर्शन-सुखवीर्य-चेतनत्वाचेतनत्व-मूर्त्त्याऽमूर्त्त्वादिर्विशेषः ।

गत्यादिषु चतुर्षु हेतुत्वशब्दो योजनीयः ।

एतेषु च प्रत्येकं जीवपुद्गलयोः षड्गुणाः, अन्येषां च त्रयो गुणाः ।

स्पर्शःहृत्कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोस्निग्धरूक्षभेदादष्टधा ।

रसःहृत्तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात् पञ्चविधः ।

गन्धो द्विविधःहृत्सुगन्धो दुर्गन्धश्च ।

वर्णःहृत्कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदात् पञ्चधा ।

द्रव्य का वह गुण, जो सभी द्रव्यों में समान रूप से प्राप्त नहीं होता, विशेष गुण कहलाता है। विशेष गुण सोलह हैंहृत् १. गतिहेतुत्व २. स्थितिहेतुत्वा ३. अवगाहेतुत्व ४. वर्तनाहेतुत्व ५. स्पर्श ६. रस ७. गन्ध ८. वर्ण ९. ज्ञान १०. दर्शन ११. सुख १२ वीर्य १३ चेतनत्व १४ अचेतनत्व १५. मूर्त्तत्व १६. अमूर्त्तत्व।

गतिहेतुत्व

जीव और पुद्गल की गति में जो अवश्यंभावी निमित्त बनता है, वह द्रव्य धर्मास्तिकाय है। इसके अभाव में कोई भी गतिक्रिया नहीं हो सकती। यह गतिहेतुत्व धर्मास्तिकाय का विशेष गुण है। धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में यह गुण प्राप्त नहीं है। यद्यपि जीव और पुद्गल की गति में और भी अनेक कारणों का योग होता है, तथापि मूलभूत निमित्त कारण धर्मास्तिकाय ही है। दाहरणार्थहृत्कपड़ा हिल

रहा है। इस हिलने की गत्यात्मक प्रवृत्ति में हवा भी कारण है। और भी अनेक कारण हो सकते हैं। पर मूलभूत कारण धर्मास्तिकाय ही हैं यदि धर्मास्तिकाय का सहयोग न हो तो उपादान और निमित्तहृदोनों कारणों की मौजूदगी के बावजूद कपड़ा कभी हिल नहीं सकता। इसलिए गतिहेतुत्व धर्मास्तिकाय विशेष गुण है।

स्थितिहेतुत्व

जी और पुद्गल के स्थिर रहने में जो द्रव्य अवश्यंभावी हेतुभूत/निमित्त बनता है, वह अधर्मास्तिकाय है। यह स्थितिहेतुत्व अधर्मास्तिकाय का विशेष गुण है। गति की तरह यों तो स्थिति में भी दूसरे-दूसरे अनेक कारणों का योग होता है, पर मूलभूत निमित्त कारण अधर्मास्तिकाय ही हैं अधर्मास्तिकाय के अभाव में दूसरे-दूसरे सारे कारण उपस्थित होने के उपरांत भी जीव या पुद्गल कभी स्थित नहीं रह सकता। मैं यहां बैठा हूँ। इसमें यह पट्ट भी कारण है। और भी कारण हो सकते हैं। पर इन सबसे ऊपर हैह्यअधर्मास्तिकाय। उसके सहयोग के बिना मैं किसी स्थिति में यहां नहीं बैठ सकता। इसी प्रकार कोई जीव या पुद्गल अधर्मास्तिकाय के अभाव में लोक में कहीं स्थित नहीं रह सकता। इसलिए स्थितिहेतुत्व को अधर्मास्तिकाय का विशेष गुण माना गया है।

अवगाहहेतुत्व

जीव और पुद्गल को अवगाह/आश्रय/स्थान देना आकाश का विशेष गुण है। आकाश के अतिरिक्त और किसी भी द्रव्य में यह गुण अप्राप्त है।

वर्तनाहेतुत्व

वर्तनाहेतुत्व काल का विशेष गुण है। हमारी जितनी भी प्रवृत्तियां चलती हैं या हम जितनी भी क्रियाएं करते हैं, उनमें काल हेतुभूत है। यदि काल न हो तो कोई क्रिया नहीं हो सकती। कोई वस्तु नई से पुरानी बनती है, आदमी बच्चे से जवान बनता है और जवान से बूढ़ा बनता हैह्यह सब काल के कारण ही है यदि काल वर्तन न करे तो कोई जवान न हो, कोई बूढ़ा न हो। न कोई वस्तु नई हो और न कोई पुरानी। काल के सिवाय वर्तन का गुण किसी अन्य द्रव्य में प्राप्त नहीं होती।

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण

स्पर्श, रस, गंध और वर्णह्ये चार पुद्गल के विशेष गुण हैं।

कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्षह्व ये आठ प्रकार के स्पर्श हैं।

तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुरह्वये पांच रस हैं।

सुगंध और दुर्गंधह्वइन दो रूवसें में गंध को जाना जाता है।

कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेतह्वये पांच वर्ण के प्रकार हैं।

ये सारी बातें पुद्गल के सिवाय किसी अन्य द्रव्य में प्राप्त नहीं हो सकतीं।

ज्ञान : दर्शन : सुख : वीर्य

ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यह्वये चारों बातें जीव में प्राप्त होती हैं जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में इनकी प्राप्ति नहीं है। अजीव में भी शक्ति होती है और वह बहुत बड़े-बड़े काम भी करता है, पर उसमें ज्ञान नहीं, दर्शन नहीं, सुख की अनुभूति नहीं और सहज शक्ति नहीं।

ज्ञान और दर्शन को आप समझते हैं। सुख से भी आप परिचित हैं। पर यहां जिस सुख की बात कही गई है, वह आत्मानंद है। जीवन का यह विशेष गुण है। हर आत्मा में किसी-न-किसी रूप में आत्मानंद/सुखानुभूति अवश्य रहती है। शुद्धि आत्मा एकांत सुखमय होती है। सुख की तरह दुःख की अनुभूति भी सांसारिक आत्मा करती है। पर यह आत्मा/जीव का स्वभाव नहीं है। आत्मा अपने मूल स्वरूप में किसी प्रकार के दुःख का वेदन नहीं करती।

वीर्य सहज शक्ति का नाम है। हर जीव में अनंत शक्ति सहज रूप से रहती है। आप कहेंगे, हमें तो अपनी अनंत शक्ति की अनुभूति नहीं होती। हां, ठीक है आपकी बात। आपको यह अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि आज वह शक्ति आवृत है, दबी हुई है, पूर्ण रूप से प्रकट नहीं है। उसका आंशिक रूप ही प्रकट हो पाया है। जिस दिन उसके आवरण दूर हो जायेंगे। वह स्वयं प्रकट हो जाएगी यह तयाग-तपस्या उसको अनावृत करने का ही उपक्रम है।

गंगाशहर

७ अगस्त १९७८

२५ : द्रव्य के विशेष गुण (२)

द्रव्य के सोलह विशेष गुण माने गए हैं। उन सोलह विशेष गुणों से बारह विशेष गुणों का संक्षिप्त विवेचन कल में कर चुका हूँ। शेष चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व इन चार विशेष गुणों के बारे में आज कुछ बताना चाहता हूँ।

चेतनत्व

द्रव्य के जिस विशेष गुण के कारण जीव चेतनायुक्त होता है, वह विशेष गुणो चेतनत्व कहलाता है। जीव के सिवाय अन्य किसी कभी द्रव्य में यह विशेष गुण नहीं है।

अचेतनत्व

द्रव्य के जिस विशेष गुण के कारण धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय अचेतन हैं, वह विशेष गुण अचेतनत्व है। जीव में यह गुण अप्राप्त है।

मूर्त्तत्व द्रव्य के जिस विशेष गुण के कारण पुद्गल हमारी इंद्रियों के विषय बनते हैं, वह विशेष गुण मूर्त्तत्व के नपाम से पहचाना जाता है। पुद्गलास्तिकाय को छोड़कर शेष पांचों द्रव्योंहधर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और जीवास्तिकाय में यह गुण नहीं होता।

अमूर्त्तत्व

द्रव्य के जिस विशेष गुण के कारण पुद्गल के अतिरिक्त शेष पांचों द्रव्य हमारी इंद्रियों के विषय नहीं बनते, यह विशेष गुण अमूर्त्तत्व है।

किस द्रव्य में कितने विशेष गुण

द्रव्य छह हैं और उनके विशेषस गुण सोलह हैं। कोई पूछ सकता है कि किस-किस द्रव्य में कौन-कौन से विशेष गुण प्राप्त होते हैं जीव

और पुद्गल में छह-छह विशेष गुण प्राप्त होते हैं। शेष द्रव्यों में तीन-तीन विशेष गुण होते हैं।

धर्मास्तिकाय में गतिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तव्यहये तीन विशेष गुण होते हैं।

अधर्मास्तिकाय में स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्वहइन तीन विशेष गुणों की प्राप्ति है।

आकाशास्तिकाय में अवगाहहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्वहये तीन विशेष गुण पाए जाते हैं।

काल में वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्वहइन तीन विशेष गुणों की अवस्थिति है।

पुद्गलास्तिकाय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अचेतनत्व एवं मूर्तत्वहइन छह विशेष गुणों से युक्त होता है।

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्वहये छह विशेष गुण जीवास्तिकाय की पहचान के अनन्य हेतु हैं।

गंगाशहर

८ अगस्त १९७८

२६ : पर्याय : लक्षण व प्रकार (१)

द्रव्य के सामान्य और विशेष गुणों की चर्चा करने के पश्चात आज मैं पर्याय के संबंध में आपको कुछ बताऊंगा।

पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः।

‘लक्खणं पज्जावाणं तु, उभओ अस्सिया भवे’ इत्यागम-
वचनात् द्रव्यगुणयोर्यः पूर्वाकारस्य परित्यागः, उपराकारस्य च
आदानं स पर्यायः।

जीवस्य नरत्वामरत्वादिभिः पुद्गलस्य स्कन्धत्वादिभिः,
धर्मास्तिकायादीनाञ्च संयोगविभागादिभिर्द्रव्यस्य पर्याया बोध्याः।

ज्ञानदर्शनादीनां परिवर्तनादेवर्णादीनां च नवपुराणतादेर्गुणस्य
पर्याया ज्ञेयाः।

पूर्वोत्तराकोराणामानन्त्यात् पर्याया अपि अनन्ता एव।

हम देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। आप जैसे आज हैं ऐसे दस वर्ष पूर्व नहीं थे और दस वर्ष बाद ऐसे नहीं रहेंगे। ये शामियाने सामने लगे हुए हैं। क्या से प्रारम्भ में ऐसे ही थे ? नहीं, ऐसे नहीं थे। शुरु में इनका जो रंग था, इनकी जो मजबूत थी, वह आज नहीं है। चातुर्मास की समाप्ति तक इनमा रूप और भी अधिक परिवर्तित हो जाएगा। आप ध्यान दें, आप, आपको परिवार, आपके कपड़ों में, आपके व्यवहार आपके विचारों में..... कितना-कितना परिवर्तन आया है। यह परिवर्तन शाश्वत सिद्धांत है। जिसमें यह परिवर्तन नहीं, वह द्रव्य नहीं। द्रव्य है तो परिवर्तन अवश्यंभावी है। परिवर्तन के बिना वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। उदाहरण के रूप में देखेंह आपने दूध को जमाया और वह दी बन गया। पर दही बनने से दूध नष्ट नहीं हुआ, केवल उसका रूप परिवर्तित हो गया है।

विगय क्या है

हमारे यहां बहुत-से-भाई-बहिनों को सभी विगयों या कुछ विगय खाने का त्याग होता है। दस प्रत्याख्यान के अन्तर्गत भी एक दिन 'निबी' का होता है। यह मूलतः 'निव्विगई' शब्द है। इसका अपभ्रंश होते-होते 'निबी' रूप बन गया है। 'निव्विगई' का अर्थ है-विगयरहित। मैं विगय-वर्जन करनेवाले भाई-बहिनों को यदि पूछूं कि विगय क्या होती है तो वे कहेंगे कि दूध, घी, तेल, चीनी और मिठाईहय्ये छह विगय होती हैं। इनको नहीं खाना चाहिए। विगय छह होती हैंहय्यह तो ठीक है, पर विगय शब्द का अर्थ क्या है, यह वे नहीं जानते। विगय का अर्थ हैहविकृत। गाय को आपने घास खिलाई। उसका विकार हैहदूध। दूध को विकृत किया और दही बन गया। दही को विकृत किया, तब मक्खन, घी आदि प्राप्त हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि विगय आपके प्रतिदिन उपयोग में आनेवाले चीज है। आप उसे जानते भी हैं। पर परिभाषा ने उसे इतना जटिल बना दिया है कि सहसा किसी को विगय का अर्थ पूछा जाये तो वह नहीं बता पाता।

पर्याय शब्द की भी लगभग ऐसी ही स्थिति। यद्यपि आप सब पर्याय को अच्छी तरह जानते हैं, हरदम उससे होकर गुजरते हैं, तथापि उससे परिचित नहीं हैं। पूर्व अवस्था के परित्याग और उत्तर (नई) अवस्था की प्राप्ति को पर्याय कहा जाता है। पर पूर्वावस्था का परित्याग और नई अवस्था की प्राप्तिहय्ये दोनों स्थितियां अलग-अलग नहीं होतीं। पूर्व अवस्था का त्याग अर्थात् नहीं अवस्था की और नई अवस्था की प्राप्ति और नई की प्राप्ति यानी पूर्वावस्था का परित्याग। यह एक शाश्वत चक्र है। इसलिए इन दोनों को अलग-अलग देखने की बात बेमानी है। एक शब्द में पर्याय का अर्थ हैहपरिवर्तन। जैसा कि मैंने बताया, द्रव्य में सदैव परिवर्तन अवश्यंभावी है। ऐसा कोई द्रव्य नहीं, जिसमें परिवर्तन न हो।

पर्याय : एक दृष्टांत

आचार्य भिक्षु ने तेरह-द्वार में पर्याय को समझाने के लिए एक स्थूल उदाहरण दिया हैहकिसी व्यक्ति के पास सोना है। उसने वह सोना किसी सुनार को देकर गले का सूत बनवा लिया। थोड़े दिन पश्चात उसके मन में सूत पहनने की अनिच्छा हो गई। उसने उसकी अंगूठियां

बनवा लीं। कुछ दिनों पश्चात अंगूठियां पहनने से भी उसके मन में अरुचि हो गई। तब उसने वे अंगूठियां सुनार को देकर वापस सोना बनवा लिया। तात्पर्य यह है कि सोने की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन उसके विभिन्न पर्याय हैं।

जीवन में कितने पर्याय हैं

आप पूछ सकते हैं कि हमारी जिंदगी में कितने पर्याय होते हैं जीवन में स्थूल पर्याय तो बहुत कम हैं, पर सूक्ष्म प्रतिक्षण हैं, अनंत हैं। यह मात्र हमारी जिंदगी की बात नहीं, अपितु प्रत्येक द्रव्य की स्थिति है। उसमें प्रतिक्षण सूक्ष्म परिवर्तन होता ही रहता है।

सचमुच मैं बदल गया हूं!

कुछ लोग मुझे कहते हैं कि आप स्वामीजी (आचार्य भिक्षु) से बहुत बदल गए हैं। मैं उनकी बात को बिलकुल भी अन्यथा नहीं लेता। सचमुच मैं बदल गया हूं और प्रतिक्षण बदल रहा हूं। मैं ही क्यों, आप भी तो प्रतिक्षण बदल रहे हैं और सदा बदलते रहेंगे। यह परिवर्तन कोई बुरा नहीं है, अपितु कहना चाहिए कि द्रव्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

बदलते पर्याय : वस्तुओं की उपयोगिता

व्यवहार से कहा जाता है कि अमुक वस्तु पुरानी हो गई। पर तात्विक दृष्टि से उसका इतना-सा ही अर्थ है कि उस वस्तु का पर्याय परिवर्तित हो गया है। आप जिस कूड़े-करकट को बेकार समझते हैं, उसका बहुत बड़ा उपयोग है। उसके बड़े-बड़े ढेरों की बिक्री होती है। उससे बहुत बढ़िया कागज तैयार होता है। और तो क्या, जिस मल-मूत्र को सर्वथा हेय और अनुपयोगी समझा जाता है, पर्याय-परिवर्तित होने पर उसकी छोटी-सी-अच्छी खाद बनती है। लोग उससे लाखों-करोड़ों रुपये कमाते हैं। सारांश यह है कि पर्याय-परिवर्तन के कारण जो पदार्थ हमारे लिए बेकार और अनुपयोगी हो जाता है, वही पुनः भिन्न पर्यायों में हमारे लिए उपयोगी हो सकता है। इस तत्त्व को समझाने के लिए ज्ञातृधर्मकथा में एक सुंदर कथा मिलती है।

तत्त्व समझ में आ गया

राजा और मंत्री घूमते-घूमते शहर के बाहर चले आए। वहां पास में ही एक गंदा नाला बर रहा था। उसके बदबू से राजा का दम घुटने लगा। उसने नाक सिकोड़कर उस पर कपड़ा लगा लिया। मंत्री जैन था।

अच्छा तत्त्वज्ञ था। वह शांत भाव से चलता रहा। राजा से रहा नहीं गया। उसने मंत्री को संबोधित करते हुए कहाह 'नाले से इतनी बदबू आ रही है और तुम यों ही चल रहे हो। नाक के आगे कपड़ा लगा लेते।' मंत्री ने सहजभाव से कहाह 'महाराज ! यह तो पुद्गलों का स्वभाव है।' राजा ने जरा झुंझलाते हुए पूछाह 'तुम बहुधा कहते रहते हो कि यह पुद्गल का स्वभाव है, यह पुद्गलों का स्वभाव है।'.....क्या है यह पुद्गलों का स्वभाव? मंत्री ने उसी शांति भाव से कहाह 'महाराज! जो पानी आपको आज गंदा एवं दुर्गंधमय लगता है, वही कल स्वच्छ और सुगंधमय बन सकता है। इसीके समानांतर जो पानी आज निर्मल एवं सुगंधयुक्त है, वह कल गंदा और दुर्गन्धयुक्त है, वह कल गंदा और दुर्गन्धयुक्त हो सकता है।' राजा ने व्यंग्य कियाह 'तब तो इस नाले का पानी भी पीने के योग्य बन सकता है।' मंत्री ने आत्मविश्वास के स्वर में कहाह 'हां महाराज ! अवश्य बन सकता है।' राजा ने कहाह 'यह त्रिकाल में भी संभव नहीं है। मेरे अनुभव में तो गंदा, गंदा ही रहता है और अच्छा, अच्छा ही। गंदा कभी अच्छा नहीं होता और अच्छा कभी गंदा नहीं बनता। सुगंधयुक्त कभी दुर्गंधयुक्त नहीं बनता और दुर्गंधयुक्त कभी सुगंधयुक्त नहीं होता।'।

मंत्री ने राजा से विवाद करना उचित नहीं समझा। अतः इस बात को उसने वहीं समाप्त कर दिया। पर मन-ही-मन सोचा कि जब तक मैं अपनी बात सिद्ध न कर दूं, इस गंदे नाले का पानी राजा को न पिला दूं, तब तक मैं जैन कहलाने का वास्तविक अधिकारी नहीं।

राजा और मंत्री दूसरे-दूसरे विषयोंपर बात करते राजमहल लौट आए।

दूसरे दिन मंत्री ने उसी गंदे नाले का पानी घर मंगवाया। शोधन-प्रतिक्रियाओं द्वारा उसका विधिवत शोधन शुरू किया। जब वह पूर्ण शोधित/स्वच्छ हो गया, तब कुछ सुगंधित द्रव्य मिला कर उसे राजमहल ले आया। चूंकि इस सारे कार्य को संपादित करने में उसे कई दिन लग गए, इसलिए जब तक राजा के दिमाग से गंदे नाले के पानी की बात निकल चुकी थी।

अवसर देखकर मंत्री ने एक गिलास पानी राजा को पिलाया। पानी पीते ही राजा की तबीयत प्रसन्न हो गई। एक गिलास के बाद दूसरा गिलास पीकर भी उसकी रसना तृप्त नहीं हुई। उसने मंत्री से कहाह 'यह

पानी तो बड़ा मधुर और सुगंधित है। ऐसा पानी तो मैं अपनी जिंदगी में पहली बार ही पिया है। किस कुंए से यह पानी मंगवाया गया है? आज से मेरे पीने के लिए उसी कुंए का पानी प्रतिदिन आना चाहिए।' मंत्री अपनी हंसी रोकते हुए कहाह 'महाराज! यह तो पुद्गलों का स्वभाव है।'

'यह तो पुद्गलों का स्वभाव है।'हइस शब्दावली को सुनते ही राजा को गंदे नाले के पानी की बात याद हो आई। वह एकदम झल्लाया। फिर व्यंग्यात्मक हंसी हंसते हुए बोलाह 'अभी तक भूले नहीं पुद्गलों के स्वभाव की बात को ! उस गंदे नाले के पानी का क्या हुआ ?' मंत्री ने करबद्ध निवेदन कियाह 'महाराज ! यह उसी गंदे नाले का पानी है।'

राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने कहाहमैं तुम्हारे कहने मात्र से यह बात नहीं मान सकता। तुम्हें मेरी आंखों के सामने सब-कुछ करके दिखलाना होगा।'

मंत्री ने उसी दिन उस गंदे नाले का पानी फिर मंगवाया। राजा के सामने ही उसके शोधन की प्रक्रिया शुरू की। कुछ ही दिनों में पानी बिलकुल स्वच्छ हो गया। तब उसमें कुछ सुगंधित द्रव्य मिश्रित कर मंत्री ने उसे राजा को पिलाया। पानी पीते ही राजा को तत्त्व समझ में आ गया। उसने मंत्री के तत्त्व-ज्ञान की सराहना करते हुए पर्यास-परिवर्तन के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया।

बंधुओ! आप तत्त्व समझ गए होंगे। हम जो कुछ परिवर्तन देखते हैं, नया या पुराना देखते हैं, नष्ट हुआ या पैदा हुआ देखते हैं, वह और कुछ नहीं,मात्र द्रव्यों के पर्यायों का परिवर्तन है। न कोई द्रव्य कभी नष्ट होता है और न कोई पैदा होता है। केवल विभिन्न रूपों में उसका परिणाम होता रहता है। उसकी एक अवस्था नष्ट होती है और वह दूसरी अवस्था को ग्रहण कर लेता है पूर्व अवस्था को छोड़ना और नई अवस्था को ग्रहण करनाहयह क्रम सदैव चलता रहता है।

छेड़छाड़ जरूरी है

लोग दर्शन की इन बातों को केवल पंडितों के लिए समझते हैं पर मैं जीवन में हर क्षण काम आनेवाली और प्रतिक्षण अनुभव होनेवाली इन बातों को पंडितों को ही नहीं, अपितु जनसाधारण को भी बताना चाहता हूं, समझाना चाहता हूं इसीलिए दर्शन के इन तत्त्वों का परिषद में

विवेचन करता हूँ। पर इस संदर्भ में एक बात समझने की है। सुनने मात्र से आप बहुत अधिक लाभान्वित नहीं हो पाएंगे। आप सुनने के साथ-साथ इन सब बातों पर स्वयं गहराई से चिंतन करें इनका अनुभव करें और जहां कोई बात न समझ में आए, वहां तर्क व जिज्ञासा उपस्थित करें। तत्त्व को सही रूप में समझने की यही प्रक्रिया है।

प्रवचन सू पूर्व मेरे उपपात में शैक्ष साध्वियां बैठी थीं। मैंने उनसे कहा कि 'तुम लोग अ अध्ययन करती हो। तुम्हें पढ़ाया जाता है। किंतु तुम दूसरों द्वारा पढ़ाए गए पर ही संतोष मत किया करो, अपितु अपना दिमाग और चिंतन भी उसके साथ लगाया करो। जो कुछ पढ़ा-पढ़ाया जाता है, उसकी तह कि पहुंचने की कोशिश किया करो। तभी तुम्हारा ज्ञान विकसित हो सकेगा; उसमें नए-नए उन्मेष आ सकेंगे। सांप तब तक फन नहीं करता, जब तक उसकी छेड़-छाड़ नहीं की जाती। अग्नि को जब तक इधर-उधर नहीं किया जाता, वह प्रज्वलित नहीं होती। ठीक यही स्थिति मस्तिष्क की है। जब तक तुम मस्तिष्क को कुरेदोगी नहीं, तब तक कुवल पढ़ी-पढ़ाई बातों से तलस्पर्शी ज्ञान नहीं हो सकेगा।'

धम्मो मंगल मुक्कित्तं, अहिंसा संजमो तवो।

देवावि तं नमस्सति, जस्स धम्मो सया गणे॥

दशैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की इस प्रथम गाथा को प्रस्तुत करते हुए मैंने कहा कि 'भगवान महावीर ने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं। अहिंसा, संयम और तप। तुम बताओ कि क्या अहिंसा संयम के अंतर्गत नहीं है? क्या बिना संयम के भी अहिंसा होती है? यदि अहिंसा संयम के अंतर्गत है तो फिर अहिंसा और संयम-इन दो शब्दों का प्रयोग क्यों, जबकि हम मानते हैं कि तीर्थंकरों की वाणी में एक शब्द भी निरर्थक या निष्प्रयोजन नहीं होता? साध्वियां अपने-अपने ढंग से समाधान खोजने लगीं। मैंने उनसे कहा कि 'तुम इस बात की चिंता मत करो कि तुम्हारा समाधान सही है या गलत। पर तुम इस विषय पर गहराई से सोचो, अपनी बौद्धिक शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करो।'

सभी साध्वियों ने अपना-अपना समाधान प्रस्तुत किया। उन्हें सुनने के पश्चात मैंने समाधान दिया कि 'हमें सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि संयम कहां होता है हमारी सैद्धांतिक मान्यता के अनुसार चौथे गुणस्थान (अविरतसमयगृष्टि) तक सर्वथा संयम नहीं होता। पर संयम न होने के बावजूद चौथे गुणस्थान तक के प्राणी सत्प्रवृत्ति कर

सकते हैं। सत्य का आचरण कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं।.....अहिंसा इन सब सत्प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि शब्द है। इस बात से हमें समझना चाहिए कि संयम में अहिंसा अनिवार्य रूप से होती है, पर अहिंसा में संयम अनिवार्यता की नहीं। बिना संयम भी अहिंसा हो सकती है। जो लोग संयमी नहीं हैं, वे भी अहिंसारूप धर्म का पालन कर सकते हैं।

मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनने का मार्ग

कुछ लोगों की मान्यता है कि मिथ्यादृष्टि धर्म कर ही नहीं सकता। उसकी अच्छी या बुरी सभी प्रकार की प्रवृत्तियां असत अर्थात् अधर्म हैं, भवभ्रमण को बढ़ानेवाली हैं। ऐसी स्थिति में मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि कैसे बनेगा? यह तो ठीक है कि अभवी कभी भवी नहीं बनता। पर मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि बनता है। यदि मिथ्यादृष्टि ककी प्रवृत्तिमात्र को अधर्म मान लिया जाएगा तो इसका अर्थ यह होगा कि मित्यादृष्टि और अभवी दोनों एक ही हो गए। उनमें कोई अंतर नहीं रहा। यदि हम मिथ्यादृष्टि की मुक्ति मानते हैं तो यह निश्चित है कि वह कभी-न-कभी सम्यग्दृष्टि बनता है। इस स्थिति में क्या यह माना जाए कि वह असत्प्रवृत्ति यानी अधर्म से सम्यग्दृष्टि बनता है? यह त्रिकाल में भी संभव नहीं है। मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनने का एकमात्र मार्ग सत्प्रवृत्ति अर्थात् धर्म है।

तत्त्व यह है कि संयम सम्यक्त्व के बिन नहीं होता। जब तक कोई व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है, जब तक चाहे वह कितना भी त्याग-प्रत्याख्यान क्यों न करे, वह सैद्धांतिक दृष्टि से संयम नहीं कहलाएगा। पर उस त्याग-प्रत्याख्यान को धर्म मानने में कोई अड़चन नहीं है; संसार से मोक्ष की ओर गतिशील बनानेवाला सहयोगी तत्त्व मानने में कोई कठिनाई नहीं है। कोई मिथ्यादृष्टि अब्रह्मचर्य, असतय और चोरी करने का परित्याग करता है। हम उसे त्याग दिलवाते हैं। ऐसी स्थिति में मैं पूछना चाहता हूं, त्याग-भवभ्रमण करके क्या वह अधर्म कर रहा है? क्या हम त्याग दिलवाकर उसका भवभ्रमण बढ़ा रहे हैं? अभी हम लाडनूं से गंगाशहर आए। मार्ग में हमने हजारों-हजारों व्यक्तियों को दुर्व्यसनों का त्यागने का उपदेश दिया। उससे होकर सैकड़ों व्यक्तियों ने शराब, मांस, तंबाकू तथा अन्यान्य अनेक प्रकार की बुराइयां छोड़ीं। हमने उनको त्याग करवाए। क्या वे सभी सम्यग्दृष्टि थे ? नहीं, वे सब सम्यग्दृष्टि नहीं थे। इस स्थिति में क्या हम ऐसा मानें कि उन्होंने शराब, मांस, तंबाकू आदि छोड़कर अधर्म किया? नहीं, शराब, मांस आदि का त्याग करके न तो उन्होंने अधर्म किया और न ही हमने अधर्म किया और न ही हमने

अधर्म के लिए प्रेरित किया। यह शुद्धि धर्म का काम है। व्यक्ति की आत्मा जिस किसी असत्प्रवृत्ति से निवृत्त होती है, वह सदा धर्म ही है। उसमें अधर्म की बात करना चिंतन का दारिद्र्य।

अणुव्रत का सैद्धांतिक आधार

प्रस्तुत संदर्भ में अहिंसा और संयमहृद्दण दो शब्दों के प्रयोग का तात्पर्य यही है कि धर्म का द्वार केवल संयमी प्राणियों के लिए नहीं, अपितु असंयमी प्राणियों के लिए भी खुला है। उन्हें भी सत्प्रवृत्ति/धर्म करने का उतना ही अधिकार है, जितना संयमी प्राणियों को। अर्थात् आत्मोत्थान या मोक्ष जाने का जितना अधिकार एक संयमी प्राणी को है, उतना ही एक असंयमी प्राणी को भी। इसी सिद्धांत के आधार पर हमने अणुव्रत की बात कही। की बात कही। एक जैन अणुव्रती बन सकता है तो एक अजैन भी अणुव्रत बन सकता है। एक सम्यग्दृष्टि अणुव्रती बन सकता तो एक मिथ्यादृष्टि भी अणुव्रती बन सकता है। संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिए, फिर चो कोई नास्तिक भी क्यों न हो, अणुव्रत का द्वारा सदा खुला है। शर्त एक ही है कि उसका विश्वास जीवन की पवित्रता में होना चाहिए। आपको यह जानकर प्रसन्नता होनी चाहिए कि हजारों-हजारों अजैन और मिथ्यादृष्टि कहे जानेवाले लोगों ने अणुव्रत के सहारे अपने जीवन को ऊंचा उठाया है, अपने आचरण और व्यवहार में धर्म को स्थान दिया है।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि आप सुनें ही नहीं, उस पर गहराई से चिंतन भी करें, अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग कर उस तत्त्व को आत्मसात करने का प्रयास भी करें। ऐसा करने से ही आपके सुनने की पूरी सार्थकता होगी और जन-जन को तत्त्व-ज्ञान से परिचित करवाने का मेरा उद्देश्य भी पूरा हो सकेगा।

गंगाशहर

९ अगस्त १९७८

२७ : पर्याय : लक्षण व प्रकार (२)

पर्याय के संबंध में मैंने कल कुछ बातें आप से बताईं। आज उसी विषय को कुछ और स्पष्ट करना चाहूंगा।

लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे। अर्थात् पर्याय द्रव्य और गुणहृद्द दोनों के आश्रित रहता है। इस आगम-वाक्य के अनुसार द्रव्य और गुण की पूर्व-पूर्व अवस्था के व्यय और उत्तर-उत्तर (नई-नई) अवस्था के उत्पाद को पर्याय कहते हैं।

हम देखते हैं कि जीव देव, मनुष्य निर्यच और नारक रूपों में परिवर्तित होता है। इन अवस्थाओं में वह न जाने कितने-कितने रूनों को बदलता है। इसी प्रकार पुद्गल भिन्न-भिन्न स्कंधों के रूप में परिणमन करते रहते हैं। कोयले को जलाने से वह राख के रूप में परिवर्तित हो जाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल के साथ जीव व पुद्गलों का संयोज और विसंबंधन होता है। यह सब द्रव्य के पर्याय हैं।

जीव के ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि में परिवर्तन होता रहता है। पुद्गलों के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण परिवर्तित होते रहते हैं। वे नवीन और पुरातन होते हैं। ये सब गुण के पर्याय हैं।

आपका प्रश्न हो सकता है कि पर्याय कितने हैं चूंकि पूर्व अवस्थाएं और उत्तर अवस्थाएं अनंत हैं, इसलिए पर्याय भी अनंत हैं। हम अपना ही उदाहरण लें। हम में से प्रत्येक के अनंत-अनंत पर्याय बदलते हैं। भूत और भविष्य की बात हम छोड़ दें, केवल वर्तमान में हम इतने पर्याय बदलते हैं, जिनकी गणना कठिन है।

अब हम इस बात को समझें कि पर्याय के कितने प्रकार हैं

व्यञ्जनार्थभेदेन स्वभाव-विभावभेदेन चास्य द्वैविध्यम्।

पर्याय के दो प्रकार हैं१. व्यञ्जन पर्याय २. अर्थ।

पर्याय पर्याय के अन्य दो प्रकार भी हैं१. स्वभाव पर्याय २. विभाव पर्याय।

व्यञ्जन पर्याय

स्थूल पर्याय को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। यह इसकी संक्षिप्त परिभाषा है। विस्तार में जाएं तो जो पर्याय बिलकुल स्पष्ट होता है, जिसका अनुभव कर सकता है, जिसे शब्दों के द्वारा बताया जा सकता है और जो त्रिकालदर्शी है, वह व्यञ्जन पर्याय है। उदाहरणार्थ हनुमान जवान हो गया। केश काले से सफेद हो गए।.....ये ऐसे पर्याय हैं; जो सर्व-साधारण के लिए भी बुद्धिगम्य हैं, शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और त्रिकालस्पर्शी हैं।

अर्थ पर्याय

सूक्ष्मो वर्तमानवर्ती अर्थपरिणामः अर्थपर्यायः।

सूक्ष्म पर्याय अर्थ पर्याय कहलाता है। आप इसे और स्पष्ट रूप में समझें। जो पर्याय स्पष्ट है, प्रतिक्षण परिवर्तन होने के पश्चात भी सर्व-साधारण के लिए गम्य नहीं है, जिसके बदल जाने से भी द्रव्य का आकार नहीं बदलता और जो केवल वर्तमानवर्ती है, वह अर्थ पर्याय है। उदाहरणार्थ, यह सामने बेल है। प्रतिक्षण यह बढ़ रही है, इसमें परिवर्तन हो रहा है, फिर भी हमें इसका बोध नहीं होता। कवि की भाषा में

चंदा तो चलता न दीखे, बढ़ती ना बेल।

साधु तो जपता न दीखे, यह कुदरत का खेल॥

हनुमान चलाता हुआ दिखाई नहीं देता, बेल बढ़ती हुई मालुम नहीं पड़ती, साधु जाप करता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि ये सब प्रकृतिगत बातें हैं।

बन्धुओ! सचमुच कवि ने बहुत गरी बात कही है। साधु जाप करता हुआ दिखाई नहीं देता। आप यदि घंटा-आधा घंटा गणमो अरहंताणं, गणमो सिद्धाणं.....या अहं-अहं की ध्वनि को ही जाप मानते हैं तो बहुत बड़ी भूल में हैं। वास्तव में साधु का हर क्षण, हर सांस और हर प्रवृत्ति जापमय होती है। मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूँ। क्या यह जाप नहीं है? मैं इसे किसी जान से कम महत्त्व नहीं देता। दो घंटे तक

मुद्राविशेष में अवस्थित होकर किसी मंत्र की साधना करना जाप है तो दो घंटे जनता के बीच बोलना, उसे तत्त्व-ज्ञान देना भी जाप है। मेरी दृष्टि में यह बहुत उपयोगी और आवश्यक भी है।

सच्चा सेवक कौन

आज समाज का हर वर्ग अपने-आपको सेवक बताता है। व्यापारी कहते हैं कि हम समाज की सेवा कर रहे हैं। जनता की जीवनापयोगी सभी वस्तुओं को स्थान-स्थान से एक स्थान पर लाना, उनको व्यवस्थित रूप में वितरित करना जनता की कितनी बड़ी सेवा है! मजदूर कहते हैं कि हम कठिन श्रम करते हैं, खून का पसीना बनाकर उत्पादन करते हैं, जिससे पूरे राष्ट्र का काम चलता है। सैनिक कहते हैं कि हम अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा करते हैं। यह सबसे महत्वपूर्ण सेवा है। नेताओं की तो बात ही छोड़ें। वे तो सोचते हैं कि हम जैसी सेवा करते हैं वैसी सेवा तो दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। यदि हम न हों तो पता नहीं जनता और राष्ट्र का कैसा बुरा हाल हो!.....मैं सोचता हूँ, वास्तव में अधिकतर लोग राष्ट्र और जनता की सेवा के बहाने अपनी ही सेवा करते हैं। अपनी उदरपूर्ति एवं स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही अधिकतर काम करते हैं, राष्ट्र और जनता का पथ-दर्शन करते हैं। उसे ज्ञान-दान देते हैं। उन्हें कोई भिक्षा देना है तो भी वे ज्ञान देते हैं तथा कोई नहीं देता है तो भी अपना कर्तव्य निभाते हैं। भिक्षा देने के साथ उनके ज्ञान-दान का कोई संबंध नहीं है। और तो क्या, उम्रहभर गालियां देनेवाले को भी वे ज्ञान-दान से वंचित नहीं रखते, पथ-दर्शन के लिए इनकार नहीं करते। उसके प्रति भी अपने कर्तव्य को विस्मृत नहीं करते।

संतजनों का स्वभाव

एक भाई साधु-संतों का बहुत बड़ा आलोचक था। उम्र-भर उसने साधु-संघ की बहुत निम्नस्तरीय निंदा की। जीवन के संध्याकाल में वह बीमार पड़ा। उसने मुझे दर्शन देने के लिए कहलाया। मुझे सुनकर आश्चर्य तो हुआ, पर मैं तत्काल वहां गया। उसकी मानसिक समाधि के लिए मैंने संभावित प्रयत्न किया। उसको अत्यंत प्रसन्नता हुई। अपने उम्र-भर के दुर्व्यवहार के लिए उसका मन पश्चाताप से भर गया। उसी भाव-धारा में उसे कहाहमैं तो आउम्र आपकी निंदा-आलोचना करता

रहा, पर आपने अपना संत-स्वभाव नहीं छोड़ा।’

बंधुओ! संत सदा आत्म-स्वभाव में रमण करते हैं। चंदन को घिसो तो भी वह सुवास ही फैलाएगा। वृक्ष का भले पत्थर की मारो, पर वह तो मधुर फल ही देगा। यही वृत्ति संतों की होती है। संतो को चाहे कोई कितनी ही गालियां दे, उन्हें मारें-पीटें, वे इन हरकतों का गाली और मारपीटसे प्रतिकार नहीं करते। और जो गाली के बदले गाली दें, ईंट का जवाब पत्थर से दें, वे संत नहीं हैं। संत तो हर स्थिति में सबके लिए करुणा की भावना ही रखते हैं। तटस्थ भाव से सबको आत्मोत्थान की ओर प्रेरित करते हैं। इसलिए मैंने कहा कि संत लोगों की सेवा ही सच्ची सेवा है।

मैं प्रसंगवश आपसे बहुत-सी दूसरी-दूसरी बातें कह गया। मेरा मूल प्रतिपाद्य थाह्यपर्याय। पर्याय के दो प्रकारह्यव्यञ्जन और अर्थ को हमने जाना। अब हम पर्याय के अन्य प्रकारों को भी समझें।

स्वभाव पर्याय

परनिमित्तानपेक्षः स्वभावपर्यायः।

सहज परिवर्तन अर्थात् दूसरा वस्तु के निमित्त की अपेक्षा ने रखनेवाली अवस्था को स्वभाव पर्याय कहा जाता है। जिस प्रकार पानी में सज रूप से कल्लोलें उठती रहती हैं, उसी प्रकार वस्तु में बिना किसी निमित्त के सहजरूप से परिवर्तन होता रहता है, उसका पर्याय परिवर्तित होता रहता है। आपके घर में दूध है। उस दूध में बिना किसी चीजह के मिले सहजरूप से प्रतिक्षण सूक्ष्म परिवर्तन होता हैह्यह स्वभाव पर्याय है।

विभाव पर्याय

परनिमित्तानपेक्षो विभावपर्यायः।

दूसरे पदार्थों के निमित्त से होनेवाले परिवर्तन को विभाव पर्याय कहते हैं। मैंने अभी दूध का उदाहरण दिया। दूध में जो स्वाभाविक परिवर्तन होता है, वह स्वभाव पर्याय है। पर मान लीजिए, आपने उसमें दही का जामन दे दिया। इससे वह दही के रूप में परिवर्तित हो गया। यह दही के रूप में परिवर्तित होना विभाव पर्याय है, क्योंकि बिना जामन का निमित्त मिले, वह दही के रूप में परिणत नहीं हो सकता था।

क्रोध स्वभाव नहीं, विभाव है

कुछ लोग क्रोध, वासना आदि को स्वभाव कह देते हैं। पर वस्तुतः ये सब स्वभाव नहीं, विभाव हैं, क्योंकि ये कर्मों के निमित्त से पैदा होते हैं। यदि क्रोध, वासना आदि स्वभाव हैं तो शुद्ध आत्मा/सिद्ध में भी होने चाहिए। पर हम देखते हैं कि शुद्धात्मा में इनका सर्वथा अभाव है। इसलिए क्रोध, वासना आदि को स्वभाव नहीं, विभाव ही जानना चाहिए।

पर्याय के लक्षण

पर्याय के प्रकार के पश्चात अब हम पर्याय के लक्षणों पर चर्चा करेंगे।

एकत्व-पृथक्त्व-संख्या-संस्थान-संयोग-विभागास्तल्लक्षणम्।

एतैः पर्याया लक्ष्यन्ते

एकत्वम्-भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु यदेकोऽयं घटादिरिति प्रतीतिः।

पृथक्त्वमहसंयुक्तेषु भेदज्ञानस्य कारणभूतं पृथक्त्वम्,
यथाहअयमस्मात् पृथक्।

संख्याहद्वौ त्रय इत्यादिरूपा।

संस्थानमहयथा इदं परिमण्डलम्।

संयोगःहअयमंगुल्योः संयोगः।

विभागःह वियुक्तेषु भेदज्ञानस्य कारणभूतो विभागः, यथा-
अयमितो विभक्त।

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभागहये सब पर्याय के लक्षण हैं।

एकत्व

भिन्न-भिन्न परमाणुओं व स्कंधों से बना होने के बावजूद 'यह घड़ा एक है' इस प्रकार की प्रीति के कारणभूत पर्याय को एकत्व कहते हैं।

पृथक्त्व

भिन्न-भिन्न परमाणुओं एवं स्कंधों से बने एक पदार्थ में भिन्नता की प्रतीति के कारणभूत पर्याय को पृथक्त्व कहते हैं। उदाहरणार्थहयह पट्ट है। यह पूरा एक स्कंध है। पर इसके बावजूद इसमें लकड़ी के भिन्न-भिन्न छोटे-मोटे अनेक टुकड़ों का हमें अनुभव होता है।

संख्या

जिसके द्वारा दो, पांच, सात..... संख्यात, असंख्यात आदि की प्रतीति होती है, वह संख्या है।

संस्थान

गोल, परिमंडल, त्रिकोण आदि पदार्थों को संस्थान कहा जाता है।

संयोग

अंतररहित मिलन को संयोग कहते हैं। जैसे, पांचों अंगुलियां मिलकर मुष्ठी बन गईं।

विभाग

अलग-अलग पदार्थों में भिन्नता की प्रतीति के कारणभूत पर्याय को विभाग कहा जाता है।

इस विवेचन के साथ *जैनसिद्धांतदीपिका* का प्रथम प्रकाश समाप्त होता है। कल संभवतः मैं द्वितीय प्रकाश का विवेचन प्रारंभ कर सकूंगा।

गंगाशहर

१० अगस्त १९७८

२८ : नव तत्त्व

पिलछे प्रवचनों में अप लोगों ने द्रव्य, गुण और पर्याय के संबंध में जाना आज मैं तत्त्व के संबंध में कुछ बताऊंगा। जैन-दर्शन में नौ तत्त्व माने गए हैं।

जीवाऽजीव-पुण्य पापाश्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध-मोक्षास्तत्त्वम्।

तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षहृये नव तत्त्व हैं।

तत्त्व क्या है

प्रश्न है, तत्त्व किसे कहते हैं। पारमार्थिक वस्तु तत्त्व कहा जाता है। अर्थात् जिस वस्तु का महानतम प्रयोजन हो, वह तत्त्व है। हम व्यवहार में भी प्रायः कहते हैं कि उसमें तत्त्व क्या है। यानी जो कुछ कहा गया, बताया गया, पढ़ा गया, उसमें सारभूत क्या है। आप जानते हैं कि हम जो- कुछ पढ़ते हैं, सुनते हैं, देखते हैं, उसमें सब-कुछ सारभूत नहीं होता। व्यक्ति जो कुछ खाता-पीता है, उसमें सारभूत तत्त्व उतना ही होता है, जिसका शरीर में रस के रूप में परिणमन हो जाए शेष निस्सार होता है। आप कहेंगे कि, तब तो हमें केवल सारभूत तत्त्व ही ग्रहण करना चाहिए, निस्सार हिस्से से हमारा क्या प्रयोजन, बात ठीक है। पर कठिनाई यह है कि सारभूत तत्त्व को ग्रहण करने के लिए प्रारंभ में सम्पूर्ण वस्तु ही ग्रहण करनी होती है। फिर उसमें से सारभूत को अलग निकाला जाता है। यह सारभूत ही तत्त्व कहलाता है। यो तो यह संसार बहुत लंबा-चौड़ा है पर इसमें सारभूत बातें नौ ही हैं उन्हें ही तत्त्व कहा गया है।

ज्ञेय नव ही तत्त्व हैं

नौ तत्त्वों की संक्षिप्त जानकारी प्रत्येक जैन कहलाने वाले भाई-

बहिन को अवश्य होनी चाहिए। यद्यपि इन नौ तत्त्वों में से संवर, निर्जरा और मोक्षहृये तीन ही तत्त्व उपादेय हैं। शेष छह तत्त्वहजीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध हेय हैं। पर उपादेय और हेय सभी तत्त्वों का अवबोध आवश्यक है।

जीव हेय क्यों

आप कह सकते हैं कि अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध छोड़ने योग्य हैं, यह बात तो बुद्धिगम्य है, पर जीव को छोड़ने योग्य क्यों कहा गया, यदि जीव को ही छोड़ देंगे तो शेष रहेगा ही क्या। इस बात को गहराई से समझना चाहिए। वास्तव में संसार में जीव कभी शुद्धावस्था में नहीं रहता। वह कर्मों से बंधा हुआ रहता है। कर्मबद्ध जीव कभी उपादेय नहीं हो सकता। कर्मबद्ध जीव को छोड़ने का अर्थ हैहमोक्ष की। उस अवस्था में जीव तो रहेगा, पर वह कर्ममुक्त यानी शुद्ध चैतन्य-स्वरूप होगा।

जीव को जानें

नौ तत्त्वों में जीव पहला तत्त्व है। जिस प्रकार कंकर और गेहूं, छाछ और मक्खन, मिट्टी और सोना दोनों साथ-साथ रहते हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव/पुद्गल दोनों साथ-साथ रहते हैं। जिस प्रकार गेहूं को नहीं समझनेवाला गेहूं और कंकर को अलग-अलग नहीं कर सकता, मक्खन को नहीं जाननेवाला छाछ से मक्खन को विलग नहीं कर सकता, सोने को नहीं जाननेवाला मिट्टी से सोने को नहीं निकाल सकता, उसी प्रकार जीव को नहीं समझनेवाला जीव और अजीव का भेद नहीं जान सकता। इसलिए जीव को जानना नितान्त जरूरी है।

उपयोगलक्षणो जीवः।

उपयोग लक्षण है जिसका, तत्व जीव कहलाता है। उपयोग किसे कहते हैं ? साधारण बोलचाल में उपयोग का अर्थ होता हैहकाम में लेना। पर जैसाकि मैंने पहले भी कई बार कहा, हर शब्द हर स्थान पर एक ही अर्थ में व्यवहृत नहीं होता। भिन्न-भिन्न स्थानों पर वह भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत संदर्भ हमें उपयोग शब्द एक विशेष अर्थ में पयुक्त हुआ है।

चेतनाव्यापारः उपयोगः।

चेतनाहज्ञानदर्शनात्मिका। तस्या व्यापारःहप्रवृत्ति उपयोगः।

चेतना के व्यापार को उपयोग कहा जाता है। चेतना क्या है ? ज्ञान व दर्शन की प्रवृत्ति को चेतना कहा जाता। इस अपेक्षा से हम कह सकते हैं कि ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति उपयोग है।

चेतना का विस्तार-क्षेत्र

हम अपने कानों से अनेक शब्द सुनते हैं। अपनी आंखों से विभिन्न रूपों को देखते हैं। नाम से गंध लेते हैं। जीभ से रस का अनुभव करते हैं। त्वचा से स्पर्श का ज्ञान करते हैं। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान होना चेतना का व्यापार है। कान, आंख, नाक, जीभ और त्वचाहइन सब में चेतना परिव्याप्त है इसे भावेंद्रिय कहते हैं। भावेंद्रिय के अतिरिक्त भाव मन भी चेतन है। मन से सुख-दुःख का अनुभव करना चेतना का व्यापार है।

पांच इंद्रियों और मन की चेतना के विभिन्न स्तर हैं। उनके द्वारा हम विभिन्न रूपों में ज्ञान करते हैं। पांच इंद्रियों और मन की यह चेतना स्थूल चेतना है। स्थूल चेतना पुद्गलसापेक्ष होती है। किसी व्यक्ति की आंखें चली गईं तो यह देख नहीं सकता। यद्यपि देखने की शक्ति उसके पास विद्यमान है, यद्यपि पौद्गलिक यंत्र के खराब हो जाने से उस शक्ति का कोई उपयोग नहीं होता। इसलिए हम तात्त्विक चर्चा में अचक्षु आहदमी के इंद्रियां पांच ही स्वीकार करते हैं। वास्तव में हमें ऊपर से जो इंद्रियां दिखाई देती है, वे उनके पौद्गलिक आकार हैं। इंद्रियों में ज्ञान करने की चेतना तो अंदर विद्यमान होती है। पर वह चेतना पौद्गलिक उपकरणों (इंद्रियों और मन) की सहायता के बिना अपना व्यापार नहीं कर सकती, इसलिए उस चेतना को स्थूल चेतना माना गया है।

उस स्थूल चेतना के अतिरिक्त एक सूक्ष्म चेतना और है। वह सूक्ष्म चेतना पुद्गलसापेक्ष नहीं है। यानी उस चेतना को अपना व्यापार करने में पौद्गलिक उपकरणों (इंद्रिय और मन) की अपेक्षा नहीं होती। वह आत्मा के स्तर पर अपना कार्य करती है। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञानहये तीनों उस कोटि में आते हैं। स्थूल चेतना में मतिज्ञान और श्रुतिज्ञान का समावेश है।

अधजल गगरी छलकत जाए

चेतना का सर्वाधिक विकसित रूप केवलज्ञान है। सचमुच स्थिति

गर्व करने जैसी है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो उसके सामने बहुत ही नगण्य हैं। पर मजे की बात तो यह है कि इस स्थिति के बावजूद लोग अपने ज्ञान का अहं करते हैं। केवलज्ञानी अपने ज्ञान का किंचित भी अभिमान नहीं करते। वस्तुतः अभिमान करना अपूर्णता का द्योतक है। पूर्णता की स्थिति में कभी कोई अभिमान नहीं कर सकता। सांप के पास कितना जहर होता है, पर वह उसका कभी प्रदर्शन नहीं करता। उसकी तुलना में बिच्छू के पास बहुत थोड़ा जहर होता है, फिर भी वह अहं करता है, उसका प्रदर्शन करने के लिए अपनी पूंछ ऊंची करके चलता है!

सुयश बनाम आत्म-निर्जरा

छोटे आदमी की यह बड़ी पहचान है कि वह कार्य कम करता है और उसका प्रदर्शन अधिक। उसके कार्य करने के पीछे कर्तव्य बुद्धि कम या नहीं के बराबर होती है और नाम/प्रतिष्ठा की भावना अधिक। पर महान व्यक्ति की सिर्षति इसससे सर्वज्ञा भिन्न होती है। वह कर्तव्य-बुद्धि से ही कार्य करता है। भगवान महावीर ने साधना की भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहा कि साधक को मात्र आत्म-निर्जरा की भावना से प्रवृत्ति करनी चाहिए। यश/प्रतिष्ठा/नाम के लिए किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। सचमुच यह एक गहरी बात है। जिस साधक के जीवन में यह आत्म-निर्जरा/कर्म-निर्जरा की भावना जितनी प्रबल होती है, उसकी साधना उतनी ही अधिक तेजस्वी बनती है। हालांकि कर्म-निर्जरा की भावना से किए जानेवाले कार्य में यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि बातें भी प्रासंगिक फल के रूप में सहज ही प्राप्त होती हैं, तथापि आत्मार्थी साधक इनकी किंचित भी आकांक्षा नहीं करता, इनके लिए अलग से पुरुषार्थ नहीं करता।

मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूँ। इससे सैकड़ों-हजारों लोग सहज रूप से ही लाभान्वित होत हैं, पथ-दर्शन प्राप्त करते हैं। कुछ लोग मेरी प्रशंसा भी कर सकते हैं, किंतु मेरे प्रवचन करने की मूलभूत उद्देश्य लोगों को लाभान्वित करना, उनका अवश्य है कि मेरी इस आत्म-निर्जरा की प्रवृत्ति का ज्ञान प्रा के लिए पूरा-पूरा उपयोग होता है तो मुझे सहज रूप में अतिरिक्त प्रसन्नता की अनुभूति होती है। पर यदि उसका पूरा उपयोग नहीं भी होता है तो मेरी आत्म-निर्जरा में कहीं कोई कमी नहीं आती।

बंधुओ! मेरे अंतःकरण की बहुत बड़ी तड़फ है, भावना है कि

समाज का हर भाई और बहिन तत्त्व-ज्ञान सीखे। यह माना कि उसबका क्षयोपशम समान नहीं होता, इसलिए सब समान रूप से तत्त्वज्ञ नहीं हो सकते, तथापि एक सीमा तक तो तत्त्व का ज्ञान प्रत्येक जैन और तंरापंथी कहलानेवाले व्यक्ति को होना ही चाहिए। मैं देख रहा हूं, समाज में इन दिनों तत्त्व-ज्ञान के प्रति थोड़ी अरुचि या उपेक्षा हो रही है। यह उचित नहीं है। इस अरुचि या उपेक्षा को मिटाना चाहिए और ज्ञान-प्राप्ति के लिए अभिरुचि जाग्रत करना चाहिए। प्रारंभिक भूमिका तक तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से कालूतत्त्वशतक अत्यंत उपयोगी और आवश्यक है। इस ग्रंथ का यदि सांगोपांग अध्ययन कर लिया जाता है। तो मानना चाहिए कि प्रारंभिक स्तर तक तत्त्व की जानकारी हो गई है। मैं आप लोगों को आह्वान करता हूं कि आप इस ग्रंथ का अध्ययन अवश्य करें। जो लोग नियमित रूप से इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहेंगे, उनके लिए मैं स्वयं प्रतिदिन समय देने का संभावित प्रयास करूंगा।।

गंगाशहर

११ अगस्त १९७८

२९ : उपयोग के दो प्रकार

साधना का अर्थ

काल से मैंने नौ तत्त्वों का विवेचन प्रारंभ किया था। जैसा कि आपने कल जाना-नौ तत्त्वों में कुछ हेय हैं, कुछ उपादेय हैं, पर ज्ञेय सभी नौ तत्त्व हैं। साधना की दृष्टि से इस विवेचन का बहुत महत्व है, क्योंकि जानने, छोड़ने और ग्रहण करने का ही दूसरा नाम साधना है। जब तक इन तीनों की समन्वित नहीं होती, तब तक साधना फलित नहीं हो सकती। कुछ लोग कहते हैं कि साधना के लिए कुछ भी छोड़ने की हक्या अपेक्षा। मैं उनसे प्रतिप्रश्न करना चाहता हूँ कि बुराई को छोड़े बिना वे अच्छाई को स्वीकार कैसे करेंगे ? अच्छाई को स्वीकार करना है तो बुराई को छोड़ना ही होगा। इसलि आपकी यह सहज मनोवृत्ति और संस्कार होना चाहिए कि आप अच्छाई को ग्रहण करें और बुराई का परित्याग करें। हां, आपको कोई अच्छाई छोड़ने की बात कहे तो अवश्य आपके मन में प्रश्न हो सकता है, आपके लिए यह चिंतन का विषय बन सकता है। पर बुराई छोड़ने में चिंता और चिंतन किस बात का ! आपसे कोई रोटी छोड़ने की बात कहे तो बेशक यह आपके लिए कठिन हो सकता है। पर आपको यदि मिट्टी छोड़ने के लिए कहा जाए और आप घबराएं तो यह आश्चर्य की बात है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी तत्त्वों को जानना और उनमें से उपादेय को ग्रहण करना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है हेय को छोड़ना।

सिक्के के दो पहलू

वस्तुतः अच्छाई को ग्रहण करना और बुराई को छोड़नाहदो अलग-अलग बातें नहीं, अपितु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि हम एक पक्ष को स्वीकार करते हैं तो दूसरा पक्ष सहज ही हमारे लिए स्वीकार्य हो जाता है। अच्छाई को स्वीकार करने का अर्थ ही हैहबुराई

को छोड़ने का अर्थ ही है अच्छाई का संग्रहण। अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण कीं कि बुरी-बुरी बातें स्वयं छूट जाएंगी। इसी प्रकार बुराइयां छूटें कि शेष अच्छाइयां रह जाएंगी। पाप को छोड़ने का अर्थ है धर्म का संग्रहण तथा धर्म की स्वीकृति का फलित है पाप-मुक्ति। कहने का तात्पर्य यह है कि बुराई का परित्याग और अच्छाई का संग्रहण दोनों बातों का एक ही परिणाम है। इसलिए मैंने कहा कि उपादेय को स्वीकार करना और हेय को छोड़ना दोनों एक ही बात हैं। पर समझने की सुविधा के लिए इन्हें अलग-अलग करके बताया जाता है।

नौ तत्त्वों में सबसे पहले हमने जीव पर चर्चा प्रारंभ की थी, क्योंकि जीव की जानना सबसे ज्यादा, जरूरी है। आप कहेंगे, यह तो अपने स्वार्थ की बात है। चूंकि हम सब जीव हैं, इसलिए सबसे पहले जीव की चर्चा करते हैं।

स्वार्थ बुरा भी, अच्छा भी

मैं नहीं समझता, स्वार्थ को आप बुरा ही क्यों मानते हैं वस्तुतः स्वार्थ वही बुरा है, जो दूसरों के हितों को चोट पहुंचाता हो। जो स्वार्थ दूसरों के हितों को नहीं रोकता, वह कभी बुरा नहीं कहा जा सकता। एक व्यक्ति ध्यान करता है, स्वाध्याय करता है। क्या यह स्वार्थ नहीं है ? स्वार्थ है, पर यह स्वार्थ कभी अनुचित नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि इस किसी के हितों को नुकसान नहीं पहुंचता। इस संदर्भ में एक बात और जान लेने की है व्यवहार में हमें बहुत-से कार्य परार्थ लगते हैं, पर वास्तव में वे परार्थ नहीं, स्वार्थ ही होते हैं। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को विद्या/ज्ञान देता है। सामान्यतः ज्ञान-दान को परार्थ समझा जाता है। उसे परोपकार वकही संज्ञा दी जाती है। लेकिन तत्त्वतः वह परार्थ नहीं, स्वार्थ ही है क्यों ? यह इसलिए कि पढ़ाया जानेवाला व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सकेगा, यह कोई निश्चित नहीं है पर पढ़ानेवाला तो निश्चित की लाभान्वित होता है। उसका ज्ञान तो निस्संदेह बढ़ता है। मैं आपके सामने प्रवचन करता हूँ। आप इसे परार्थ/परोपकार कह सकते हैं, पर वास्तव में यह कोई परार्थ/परोपकार नहीं, अपितु स्वार्थ ही है, क्योंकि प्रवचन करके मैं अपने अनंत-अनंत कर्मों का क्षय कर रहा हूँ। यह ठीक है कि लोग प्रवचन से लाभान्वित होते हैं और पथ-दर्शन प्राप्त करते हैं। पर दो क्षण के लिए यदि ऐसा भी मान लिया

जाए कि लोग प्रवचन से लाभान्वित नहीं होते हैं, तथापि मेरी आत्म-निर्जरा में कोई कमी आनेवाली नहीं है। वस्तुतः ऐसे कार्यों को एकांत परोपकार मानना चिंतन की भूल है, क्योंकि परोपकार का अर्थ हैहकार्य करके किसी को आभारी बनाना। हम प्रवचन या धर्मोपदेश किसी को आभारी बनाने के लिए नहीं, अपितु अपने कर्तव्य-निर्वाह और आत्म-निर्जरा की दृष्टि से करते हैं। ऐसी स्थिति में परोपकार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए मैंने कहा कि उत्कृष्ट कोटि का स्वार्थ (जहां किसी का नुकसान नहीं होता, बल्कि लाभ ही संभावित है।) कभी बुरा नहीं कहा जा सकता। जीव को जानना भी इस दृष्टि से स्वार्थ मान भी लिया जाए तो कोई कठिनाई नहीं है।

मैं कौन हूँ

आप पूछेंगे कि क्या हम (जीव) अपने-आपको नहीं जानते हैं, नहीं जानते। यदि आप स्वयं से परिचित होते तो आज आपकी यह दुर्दशा नहीं होती।

एक दार्शनिक की रात में दो-तीन बजे नींद टूट गई। उसे समय को कोई ख्याल नहीं हुआ। मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ, कहां जाऊंगा आदि प्रश्नों के चिंतन-चिंतन में वह घर से बाहर निकल गया। चलते-चलते वह एक बगीचे के पास पहुंचा। वह किसी श्रेष्ठी का व्यक्तिगत बगीचा था। बगीचे के द्वारा पर एक संतरी पहरा दे रहा था। असमय में उपरिचित व्यक्ति को उधर आते देख उसने पूछाह‘तुम कौन हो ?’

पर वह दार्शनिक तो अपनी धुन में आगे-से-आगे बढ़ता ही आ रहा था। कहां जा रहा हूँ, क्यों जा रहा हूँ इत्यादि बातों का उसे कोई ख्याल ही नहीं था। संतरी ने दुबारा पूछा, पर उसे कोई जवाब नहीं मिला। जब वह दार्शनिक उस संतरी के बिलकुल समीप आह गया और लगभग टकराने की-सी स्थिति आ गई तो उसने उसे पकड़कर झकझोरते हुए वही प्रश्न दुहरायाह‘तुम कौन हो ?’

अब दार्शनिक को ख्याल आया कि मैं किसी गलत स्थान पर आ गया हूँ। उसने कहाह‘यदि यही मुझे मालूम होता कि मैं कौन हूँ तो यहां आता ही क्यों ? अपने-आपसे अपरिचित होने के कारण ही तो मेरी यह हालत हुई है।’

क्या आप मन के गुलाम नहीं हैं

बन्धुओ! यही स्थितिआल लोगों की है। अपने-आपको नहीं पहचानने के कारण ही विभिन्न रूपों में आपकी दुर्गति हो रही है। स्वयं के अस्तित्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही आप कभी आग्रह के गुलाम बन जाते हैं, कभी क्रोध के गुलाम बन जाते हैं, कभी अहंकार के गुलाम बन जाते हैं, कभी.....यदि स्वयं को जान लेते तो यह गुलामी फिर आप नहीं करते। यद्यपि गुलामी शब्द आपको बिलकुल पंसद नहीं है, फिर भी आप सब गुलाम हैं। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, भले माता-पिता की गुलामी आप नहीं करते, गुरुजनों की गुलामी भी आपने छोड़ दी, पर मन के गुलाम हैं या नहीं ? तन कहता है कि होटल में जाना ठीक नहीं है, वहां का खाद्य मेरे अनुकूल नहीं है, फिर भी मन आपको वहां ले ही जाता है। ऐसी स्थिति में क्या आप मन के गुलाम नहीं हैं? पर यह स्थिति केवल आपकी नहीं है, अपितु सारे संसार की है। यह मन की गुलामी ही तो कारण है कि आदमी नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में फंस जाता है, वह कषाय में अंधा बन जाता है, वासना उस पर हावी हो जाती है।

प्रसंग गोस्वामी तुलसीदासजी का

कल पूरे राष्ट्र में गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्म-जयंती मनाई गई । सचमुच वे भारतीय परंपरा के एक महान कवि थे। अपनी लेखनी से उन्होंने एक ऐसे विशिष्ट ग्रंथ की रचना की, जिसमें भारतीय संस्कृति कूट-कूट कर भरी पड़ी है। इस कार्य के लिए भारतीय समाज युगों-युगों तक उनका आभारी रहेगा। पर उनका प्रारंभिक जीवन कैसा था, यह शायद बहुत-से लोग नहीं जानते। कहा जाता है कि वे अपनी युवावस्था में वासना के दास थे। स्थिति यहां तक थी कि पत्नी से एक दिन भी अलग रहना उनके लिए मुश्कल था। एक बार वे किसी आवश्यक कार्यवश बाहर गए। पीछे से पत्नी अपने पीहर चली गई। जब वे वापिस आए तो पत्नी को घर न पाकर बिलकुल खेद-खिन्न हो गए। उन्हीं पैरों वे पत्नी से मिलने ससुराल रवाना हो गए। रास्ते में अनेक नदियां, नाले व घाटियां पार करते हुए वे ससुराल पहुंचे। बिना कोई पूर्व सूचना के पतिदेव का यों ससुराल आना उनकी पत्नी को बहुत बुरा लगा। उसे अत्यधिक शर्म व संकोच का अनुभव हुआ। अवसर देखकर उसने

उपालंभर-भरे शब्दों में कहाँ आपको मेरे पीछे-पीछे यहां आने की क्या जरूरत थी ? क्या लोक-लज्जा का आपको तनिक भी ख्याल नहीं ? मेरे पीछेवाले आपको क्या समझेंगे ? माना कि आपका मेरे प्रति अत्यधिक प्रेम है। पर जितना प्रेम आप मुझसे करते हैं, उतना प्रेम यदि राम से करने लुग जाएं तो क्या आपका कल्याण न हो जाए?’

कहा जाता है कि वे एक बार घूमते-घूमते वृंदावन चले गए। वहां लोग राधेश्याम की रटन लगा रहे थे। राम का उन्होंने कहीं नाम नहीं सुना। यह स्थिति उनके लिए असह्य हो गई। उनका रामभक्त हृदय बोल उठाह

**‘तुलसी’ या ब्रजभूमि में, आक, ढाक औ कैर।
राधे-राधे रटत हैं, का राम नाम से वैर?**

मेरे कथन का सारांश यही है कि जिस दिन व्यक्ति अपनी मिलिकियत को जान लेता है, उसे अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है, स्वयं को वह यथार्थ रूप में पहचान लेता है, फिर सभी प्रकार की गुलामियों से मुक्त होते उसे समय नहीं लगता। क जब तक स्वयं की पहचान नहीं हो पाती, अपने अस्तित्व का अवबोध नहीं हो पाता, तभी तक उस पर कभी क्रोध का नशा चढ़ता है, कभी वह वासना का दास बनता है, कभी अहंकार के दलदल में फंसता है।

अहंकार अज्ञान का सूचक है

अहंकार वस्तुतः व्यक्ति के अज्ञान का ही हसूचक है। हमारे धर्मसंघ के मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी बहुधा कहा करते थे कि हम अनंत-अनंत बार बेर की गुठली बनकर लोगों के पैरों के नीचे रौंदे गए हैं? ऐसी स्थिति में हमारे लिए अभिमान करने को फिर शेष रहता ही क्या है ? थोड़ी-सी संपत्ति हो जाए, वह तत्काल अभिमान में अंधा हो जाता है। वह सोचता है कि संसार में सबसे बड़ा आदमी मैं ही हूं।

कहां है तुम्हारी जमीन

यूनान के महान दार्शनिक सुकरात के पास फ्रांस का एक बहुत बड़ा जमींदार आ। पर वह जितना बड़ा जमींदार था, उससे भी बड़ा उसका अहं था। सुकरात ने पूछाह ‘तूम कौन हो ?’ इस प्रश्न के साथ ही उसका अहंकार जाग्रत हो गया। उसने जरा अकड़कर सुकरात से कहाह ‘क्या आप इतना भी नहीं जानते कि मैं फ्रांस देश का सबसे बड़ा

जमींदार हूँ?’ सुकरात ने प्रश्न कियाह‘कहां है तुम्हारी जमीन ?’ उसी अकड़ के साथ वह बोलाह‘अमुक जिले की अमुक तहसील में मेरी बहुत बड़ी जमीन है।’ सुकरात ने तत्काल विश्व काह मानचित्र मंगवाया और उसकी ओर बढ़ाते हुए पूछाह‘इस संसार में कहां है तुम्हारा देश ?’ उसने बड़े ध्यान से मानचित्र के देखकर मुश्किल से छोटे-से फ्रांस देश को पकड़ा। तब सुकरात ने प्रश्न कियाह‘इस देश में कहां है तुम्हारा जिला?’ विश्व के मानचित्र में एक जिले का क्या पता चले ? बावजूद इसके अपने जिले के लिए उसने अंदाज से एक बिन्दु बना दिया। पर सुकरात की प्रश्न श्रृंखला आगे से आगे चालू थीह‘इस जिले में कहां है तुम्हारी तहसील ? कहां है उसमें तुम्हारी जमीन ?

जब जिला भी मानचित्र में नहीं दिखाया गया, तब तहसील का तो पता ही कैसे चलता ? इसके बावजूद अपने अहं को पोषण देते हुए अपनी तहसील के लिए उसने फिर एक सूक्ष्म बिंदु बनाया। पर अपनी जमीन को वह कैसे दिखाता ? उसने झुंझलाते हुए कहाह‘क्या जमीन भी कहीं मानचित्र में दिखाई जाती है?’

इस बार उसके अहंकार पर चोट करते हुए सुकरात ने कहाह‘जब संसार के मानचित्र में तुम्हारी इतनी बड़ी जमीन का कोई स्थान ही नहीं है, तुम किस बात का अभिमान कर रहे हो?’

अथाह ज्ञानसागर

बंधुओ! यही बात मैं आपसे कह रहा था। व्यक्ति के पास थोड़ा-सा धन हुआ कि उसके पैर जमीन पर टिकने मुश्किल हो जाते हैं। थोड़ा-सा ज्ञान हुआ कि उसका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। सामान्य लोगों से सीधे मुंह बात करने में वह अपना अपमान समझता है। पर मैं नहीं समझता, यह अभिमान किस बात का है केवलज्ञानी के ज्ञान के सामने उसका ज्ञान एक बिंदु भी नहीं होता। केवलज्ञान सचमुच ही अभिमान करने जैसे उपलब्धि है, स्थिति है। पर केवलज्ञानी कभी अभिमान करते नहीं कर सकते नहीं। इसके विपरीत जिसके पास अभिमान करने जैसा कुछ भी नहीं, वह झूठा अभिमान करता है। युवक लोग सोचें इस बात को। क्या यह वास्तविकता नहीं है? सामान्य-सा पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करके वे अपने-आपको विद्वान तो नहीं मान बैठे हैं? कहा जाता है कि अगस्त्य ऋषि ने तीन चतुर्ओं में

सारे सागर का पानी पी लिया था। कहीं युवक लोग भी ऐसा तो नहीं सोचते कि दो-चार पुस्तकें पढ़कर उन्होंने समग्र/अथाह ज्ञान प्राप्त कर लिया है? यदि ऐसा सोचते हैं तो वे सचमुच भयंकर भूल करते हैं। ज्ञान अनंत है। वह दो-चार पुस्तकों के पढ़ने से कदापि प्राप्त होनेवाला नहीं है। उसके लिए बहुत लंबी साधना अपेक्षित है।

हां, तो मैं अब अपने मूल विषय पर लौटता हूं। सबसे पहले हम जीव को समझें। जैसाकि कल मैंने बताया था, जिसमें उपयोग होता है, वह जीव है। उपयोग, चेतना की ज्ञान-दर्शनमय प्रवृत्ति का नाम है। प्रश्न पूछा जा सकता है कि उपयोग के कितने प्रकार हैं।

साकारोऽनाकारश्च

उपयोग के दो प्रकार हैं—१. साकार २. अनाकार।

साकार और अनाकार उपयोग की विसृत चर्चा में आज नहीं करूंगा। उसे आगे के लिए छोड़ता हूं। अभी तो आप संक्षेप में इतना-सा समझ लें कि ज्ञान को साकार उपयोग और दर्शन को अनाकार उपयोग कहा गया है।

साकार और अनाकारद्वये दोनों ही शब्द आप लोगों के लिए नए नहीं हैं, क्योंकि व्यवहार में इनका काफी प्रयोग होता है। हम देखते हैं कि कुछ लोग साकार भगवान के उपासक होते हैं तो कुछ लोग अनाकार भगवान के। आप पूछ सकते हैं कि जैन-दर्शन इन दोनों में से किस रूप को स्वीकार करता है। जैन-दर्शन अपेक्षाभेद से साकार और अनाकार दोनों ही रूपों में भगवान को स्वीकार करता है। अरहंत/तीर्थंकर सशरीर होते हैं। उनको स्पष्ट देखा जाता है। वे साकार भगवान हैं। सिद्धावस्था मो प्राप्त आत्माएं, शरीर से रहित होती हैं। वे निराकार भगवान हैं।

आप इन तथ्यों को गहराई से समझें। मैं एक ही बात को बार-बार इसलिए कहता हूं कि जिससे शिक्षित, कम शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के लोग इन तत्त्वों की बातों को गहराई से समझ सकें। मैं अपना प्रयास कर रहा हूं। पर इस प्रयास की बहुत बड़ी सफलता आप लोगों पर निभर है। मुझे आशा है कि आप तत्त्व-ज्ञान हृदयंगम करके मैं इस प्रयास को अवश्य सफल बनाएंगे।

गंगाशहर, १२ अगस्त १९७८

३० : ज्ञान और अज्ञान : एक विमर्श

साकार और अनाकार उपयोग की चर्चा कल मैंने प्रारंभ की थी। जिस जानकारी में पदार्थ का स्पष्ट चित्र व्यक्ति के सामने आ जाए, वह साकार उपयोग है। इसके विपरीत जिस जानकारी में स्पष्ट चित्र सामने न आए, वह अनाकार उपयोग है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने दरवाजे में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही प्रथम क्षण में उसने देखा कि कुछ है। पर क्या है, कौन है, कौन प्रवचन कर रहा है, किस विषय पर प्रवचन हो रहा है आदि बातों की जानकारी उस प्रथम क्षण में उसे नहीं होती। यह अनाकार उपयोग है। अब अगले क्षणों में वह जानता है कि साधु बैठे हैं, साध्वियां बैठी हैं, भाई-बहन.....यह सारी जानकारी साकार उपयोग है। साकार उपयोग को ज्ञान और अनाकार उपयोग को दर्शन कहते हैं।

चक्षुदर्शन : अचक्षुदर्शन

लोग सामान्यतः दर्शन का अर्थ आंखों में देखना और ज्ञान का अर्थ दिमाग से जानना समझते हैं। पर वास्तव में केवल आंखों से देखना दर्शन नहीं है। जब तक दिमाग का सहयोग नहीं मिलता, तब तक चाहे कोई व्यक्ति आंखें फाड़फाड़ कर कितना ही क्यों न देखे, उसे दिखाई नहीं देगा, दर्शन नहीं होगा। दर्शन तभी होगा, जब आंखों को दिमाग का सहयोग प्राप्त होगा। यह दर्शन, चक्षुदर्शन कहलाता है।

आंखों की तरह ही दिमाग के सहयोग से कान, नाक, जीभ और स्पर्श से भी देखा जाता है। यह भी दर्शन, चक्षुदर्शन नहीं, अचक्षुदर्शन कहलाता है। जैसे आपके कानों में कोई ध्वनि पड़ी। यद्यपि आपने आंखों से कुछ नहीं देखा, तथापि कानों में ध्वनि पड़ते ही आपने देखा कि कुछ है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियों तथा मन के द्वारा जो प्रथम क्षण का दर्शन होता है, वह अचक्षुदर्शन कहलाता है।

ज्ञान : अज्ञान

प्रथम क्षण के दर्शन के पश्चात जब व्यक्ति अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में जाता है तो 'कुछ है' इस स्पष्ट चित्र को क्रमशः स्पष्ट बना लेता है। यह ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान के संबंध में एक बात जान लेना बहुत जरूरी है। ज्ञान के साथ यथार्थ और अयथार्थ दृष्टिकोण का बहुत गहरा संबंध है। यदि ज्ञान के साथ व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं है, यानी गलत है तो उसका ज्ञान, ज्ञान न कहलाकर, अज्ञान कहलाएगा। अयथार्थ दृष्टिकोणवाले की विद्या, विद्या नहीं, अविद्या कहलाएगी। जैन-दर्शन में जिसे ज्ञान कहा गया है, उसे वेदांत में विद्या बतलाया गया है। आप इस बात पर गहराई से ध्यान दें कि अज्ञान का अर्थ मात्र ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु मिथ्या दृष्टिकोणयुत ज्ञान भी अज्ञान ही है।

हम देखते हैं, ज्ञान तो छोटे-छोटी चींटियों को भी होता है। फिर किसी अपेक्षा से तो उन्हें हम सी भी अधिक ज्ञान होता है। मान लीजिए, यहां पर कहीं जरा-सी चिकनाहट है। आपको संभवतः उसका पता नहीं चलेगा। पर चींटियों को तुरंत पता लग जाएगा वे सैकड़ों की संख्या में यहां आकर इकट्ठा हो जाएंगी। हम लोग जिस स्थान पर भोजन करते हैं, उस स्थान को साधु लोग हाथ से साफ करते हैं। मैं उनसे कहता हूं, सफाई ठीक से करना, कहीं असावधानी से कुछ रह न जाए। तुम्हारी सफाई की परीक्षा चींटियां और मक्खियां करेंगी। सफाई करने के बावजूद जब-कभी कुछ रह जाता है तो तत्काल चींटियां और मक्खियां यहां आकर बैठने लगती हैं। तब मैं साधुओं से कहता हूं, यहां दुबारा सफाई करो। यहां कुछ-न-कुछ रह गया है। कहने का सरांश यह है कि चींटियों, मक्खियों आदि को भी किसी अपेक्षा से हमारे से अधिक ज्ञान हो सकता है। पर यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में उनका ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है।

प्राथमिक अपेक्षा

हम प्रतिक्रमण में प्रतिदिन कहते हैंहमिच्छतं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपवज्जामिहमै मिथ्यात्व को छोड़ता हूं और सम्सक्त्व को स्वीकार करता हूं। यह मिथ्यात्व क्या है? मित्यात्व का अर्थ हैहदृष्टिकोण की अयथार्थता। सम्यक्त्व का अर्थ हैहदृष्टिकोण की यथार्थता। आप गृहस्थ

हैं। गृहस्थ को जीवनयापन के लिए अनेक प्रकार की हिंसा करनी पड़ती है। क्यों ? इस 'क्यों' का उत्तर बहुत स्पष्ट है। उसके बिना उसका काम नहीं चलता। पर काम नहीं चलता या अनिवार्य है, इसलिए हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। हिंसा को हिंसा ही समझा जाए और अहिंसा को अहिंसाहयह दृष्टिकोण की यथार्थता सम्यक्त्व है। यानी हिंसा को हिंसा, अहिंसा को अहिंसा, अधर्म को अधर्म और धर्म को धर्म मानना सम्यक्त्व है। पर हिंसा को यदि अहिंसा माना जाता है तो दृष्टिकोण अयथार्थ हो जाता है, मिथ्यात्व आ जाता है। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा यह है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ बने। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो जाता है तो बुराई से मुक्त होने में उसे समय नहीं लगता। किंतु जब तक दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, तब तक वह बिना मजबूरी भी बुराई को पकड़े रहता है।

दही खूब खाओ !

वैद्य के पास एक खांसी का मरीज आया। वैद्य उसकी नब्ज देखकर उसे कुछ औषध/उपचार बताता, उससे पहले ही वह बोला उठाह 'वैद्यजी ! मैं कड़वी-से-कड़वी दवा लेने को तैयार हूँ, पर दही छोड़ने के लिए आप मुझे मत कहना। मैं अब तक जितने वैद्यों के पास गया, वे सभी-के-सभी न जाने क्यों दवा की बात तो बाद में करते हैं और दही छोड़ने की बात पहले ही शुरू कर देते हैं।'

वैद्य अनुभवी था। उसने सोचाहमनोवैज्ञानिक ढंग से बात करनी चाहिए। यदि मैं सीधा ही इसे दही छोड़ने की बात कहूँगा तो बहुत संभव है कि यह कभी स्वीकार नहीं करेगा। अतः उसने रोगी से कहाह 'दही छोड़ने की कोई अपेक्षा नहीं है। तुम दही खूब खाओ। कल तक यदि दो बार खाते थे तो आज से चार बार खाना शुरू कर दो।'

मरीज वैद्य की बात सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहाह 'आप ही मुझे एक अच्छे और समझदार वैद्य मिले हैं। शेष तो जितने वैद्य आज तक मिले, वे सारे-के-सारे मूर्ख थे। अच्छा, अब मुझे दा क्या लेनी है?'

वैद्य ने कहाह 'दवा की कोई जरूरत नहीं। दही स्वयं दवा है। कहा गया हैह

**कासो दध्नो भोजनेन, लाभाः सन्ति त्रयो ध्रुवम्।
न वार्धक्यं न वा चौर्यं, न श्वा भक्षयति क्वचित्॥**

ह्म खांसी में दही खानेवाले को तीन लाभ होते हैं। वह कभी बुढ़ापे को प्राप्त नहीं होता। (उसका शरीर इतना जर्जरित हो जाता है कि बुढ़ापा आने से पूर्व ही वह काल को प्राप्त हो जाता है) उसके घर में कभी चोरी नहीं होती। (रात भर खांसते-खांसते निकालनी होती है। नींद हराम हो जाती है। घर का कोई सदस्य जागता हो, ऐसी स्थिति में चोर आएका ही कैसे ?) उसे कुत्ता नहीं काटता। (निरंतर खांसने से उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। श्वास फूलने लगता है। अतः बिना लाठी दस कदम भी चलना उसके लिए कठिन हो जाता है। और जब हाथ में लाठी हो तो कुत्ता पास आ भी कैसे सकता है? फिर काटने की तो बात बहुत पीछे छूट जाती है।)'

वैद्य की बात सुनकर रोगी आज पहली बार दही खाने के दुष्परिणामों से परिचित हुआ। दही के प्रति उसकी आसक्ति टूट गई। वह बोला 'तब तो मैं दही खाना छोड़ूंगा।' पर वैद्य ने उसी लहजे में फिर कहा 'तुम खुशी से दिल भर दही खा सकते हो। मैं तुम्हें दही छोड़ने के लिए बिलकुल नहीं कहता।' लेकिन रोगी का दृष्टिकोण अब परिवर्तित हो चुका था। उसने उसी क्षण दही न खाने का मानसिक संकल्प कर लिया।

सबसे बड़ा पाप

मैं मानता हूँ, व्यभिचार पाप है, मदिरा-पान पाप है, मांस खाना पाप है, शोषण पाप है ब्लेक-मार्केटिंग पाप है, पर इन सबसे भी बड़ा पाप है दृष्टिकोण की अयथार्थता। मदिरापान को बुराई मानते हुए यदि कोई व्यक्ति अपनी मानसिक कमजोरी या मजबूरीवश शराब पीता है तो वह केवल स्वयं पागल बनता है, दूसरों को पागल नहीं बनाता, क्योंकि दृष्टिकोण सम्यक होने के कारण वह दूसरों को कभी उसके पीने की प्रेरणा या प्रात्साहन नहीं देता। इसके विपरीत जिस व्यक्ति का इस बारे में दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, वह स्वयं तो शराब पीकर पागल होता ही है, साथ-ही-साथ संपर्क में आनेवाले दूसरे-दूसरे लोगों को भी प्रोत्साहन और प्रेरित कर उन्हें शराबी बनाने में सहयोगी बनता है। यानी वह बुराई को आगे-से-आगे बढ़ाता है।

यथार्थ दृष्टिकोण का सबसे बड़ा लाभ यह है कि आज चाहे व्यक्ति मजबूरीवश या दुर्बलतावश बुराई करता है, किंतु जैसे ही उसकी मजबूरी समाप्त हो जाएगी या दुर्बलता मिट जाएगी, वह यथाशीघ्र बुराई से मुक्त बन जाएगा। पर जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, वह हर स्थिति में बुराई को बढ़ावा देगा। इसलिए मैंने कहा, सब पापों में मिथ्या दृष्टिकोण का पाप सबसे बड़ा है।

जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

हमारे यहां प्रसिद्ध कहावत है **जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि**। मैं मानता हूं, यह बहुत गरी और शतशः यथार्थ उक्ति है। एक राही अपने गांव से पड़ोस के दूसरे गांव को जा रहा था। मार्ग में सामने से आता हुआ एक व्यक्ति उसे मिला। वह उसी गांव से आ रहा था, जिस गांव वह राही जा रहा था। उसने उस व्यक्ति से प्रश्न किया **‘भाई ! तुम जिस गांव से आए हो, वह कैसा है ? वहां के लोग कैसे हैं?’**

उस व्यक्ति ने प्रश्न का सीधा उत्तर देने के साथ पर प्रतिप्रश्न किया **‘राही ! तुम जिस गांव से आ रहे हो, वह कैसा है ? वहां के लोग कैसे हैं ?’** उत्तर दिया **‘वह गांव तो बिलकुल रद्दी है। वहां के लोगों की तो बात ही मत पूछो। वे इतने निम्न-स्तर के हैं कि कोई भला आदमी एक दिन भी उनके साथ नहीं रह सकता।’** उस व्यक्ति ने अपने गांव और गांववासियों का स्थिति बताते हुए कहा **‘यह गांव तो उस गांव से भी ज्यादा खराब है। यहां के लोग तो इतने क्रूर हैं कि एक दिन तो बहुत बड़ी बात है, एक घंटा भी किसी भले आदमी का उनके साथ रहना असंभव है।’**

दोनों का वार्तालाप अभी पूरा हुआ ही नहीं था कि एक अन्य राही भी पहुंच गया और संयोग से उसने भी उस व्यक्ति से वही प्रश्न किया, जो पहले राही ने किया था। उस व्यक्ति ने इस बार भी प्रश्न किया, जो पहले राही ने किया था। उस व्यक्ति ने इस बार भी प्रश्न का जवाब देने की वही शैली अपनाई, जो पहले राही के लिए अपनाई थी। यह गांव कैसा है और गांव के लोग कैसे हैं, इस प्रश्न के उत्तर में उसने वही प्रतिप्रश्न कर दिया **‘तुम जिस गांव से आए हो, वह कैसा है और वहां के लोग कैसे हैं?’** उस दूसरे राही ने गांव के प्रति अपनी अवधारणा बताते हुए कहा **‘वह गांव तो बहुत अच्छा है। वहां के निवास अत्यंत**

भले एवं शिष्ट हैं।' छुटते ही वह व्यक्ति बोलाह'यह गांव तो उससे भी अधिक अच्छा है। यहां के लोगों की भद्रता और शिष्टता का तो कहना ही क्या ! एक बार उनसे मिलने के बाद जीवन भर उनकी स्मृति बनी रहती है।'.....'

वह पहला राही भी उन दोनों के इस वार्तालाप को सुन रहा था। उस व्यक्ति की परस्पर विरोधी बातों को सुनकर उससे रहा नहीं गया। उसने उस व्यक्ति को बीच में ही टोकते हुए कहाह'इतनी जल्दी बदल गए तुम! दो मिनट पहले तक तो इस गांव को और इसके निवासियों को तुम बिलकुल निकृष्ट बता रहे थे और अब अच्छे बताने लगे!' वह व्यक्ति बोलाह'तुम समझे नहीं मेरी बात को। गांव के वासी अच्छे या बुरे नहीं होते। अच्छी या बुरी तो व्यक्ति की अपनी दृष्टि होती है। जिस व्यक्ति की दृष्टि अच्छी है, उसे हर गांव और हर व्यक्ति अच्छा लगेगा। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि दोषदर्शी है, उसे हर गांव और हर व्यक्ति बुरा ही प्रतीत होगा। महाभारत का एक प्रसंग है। श्रीकृष्ण के सान्निध्य में चर्चा चल पड़ी कि द्वारिका नगरी में अच्छे मनुष्य कितने हैं और बुरे मनुष्य कितने हैं। सबने अपने-अपने ढंग से समाधान किया। पर कोई निर्णयात्मक बात सामने नहीं आ सकी। आखिर श्रीकृष्ण ने सबको समझाने की एक युक्ति सोची। उन्होंने दुर्योधन और धर्मपुत्र युधिष्ठिर दोनों को इस बात का पूरा-पूरा ब्यौरा लाने के लिए नगरी में भेजा। दोनों द्वारिका में खूब घूमे। व्यक्ति-व्यक्ति से उन्होंने संपर्क साधा। जानकारी प्राप्त की। आखिर पूरी द्वारिका का चक्कर लगाकर वे वापस श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुए। सभा जुड़ी हुई था। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से पूछाह'बोलो, द्वारिका में अच्छे आदमी कितने हैं और बुरे आदमी कितने? दुर्योधन ने कहाह'द्वारका का चप्पा-चप्पा मैंने छान लिया। एक-एक व्यक्ति को मैंने निकटता से देखा। पा एक भी भला आदमी मुझे नहीं मिला। सब बुरे-ही-बुरे मिले।' अब धर्मपुत्र युधिष्ठिर की बारी थी। उससे भी वही प्रश्न किया गया। धर्मपुत्र ने कहाह'द्वाराका में मैं खूब घूमा। पर मुझे तो नगरी में सब भले-ही-भले मनुष्य मिले। एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिला, जिसे मैं बुरा कह सकूं। दोनों के अध्ययन एक-दूसरे को बिलकुल काटनेवाले थे। अतः समस्या का समाधान नहीं हुआ। किसकी बात सही मानी जाए? श्रीकृष्ण ने दोनों को क्रमशः अपने-अपने कथन को स्पष्ट करने का निदेश दिया दुर्योधन खड़ा हुआ

और बोलाह 'महाराज ! मैं जितने व्यक्तियों से मिला, उनमें से प्रत्यक किसी-न-किसी बुराई से ग्रस्त है। कोई चोरी करता है, कोई झूठ बोलता है। कोई वेश्या-गमन करता है। मदिरा पीता है। कोई.....सर्वथा बुराई से मुक्त कोई भी व्यक्ति मुझ नहीं मिला।' अब धर्मपुत्र खड़ा हुआ। उसने कहाह 'मैंने व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को टटोला है। मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, जिसके जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की अच्छाई/गुण न हो। कोई सत्यवादी है। कोई शीलसंपन्न है। कोई ज्ञानसंपन्न है। कोई..... सर्वथा गुणहीन व्यक्ति मुझे पूरी द्वारिका में एक भी नहीं मिला। अब श्रीकृष्ण ने मर्म का उद्घाटन करते हुए कहाहद्वारिका नगरी वही है, जनता वही है। पर दृष्टि अपनी-अपनी है। जहां गुणहीन दृष्टि है, वहां सब अच्छे-ही-अच्छे हैं। इसके विपरीत जहां अवगुणग्राही दृष्टि है, वहां सब बुरे-ही बुरे हैं।'

यह कथा सुनकर यह राही तत्त्व समझ गया। बंधुओं ! आप भी समझ गए होंगे तत्त्व । ज्ञान से पहले अपने दृष्टिकोण को सही बनाने की अनिवार्य अपेक्षा है। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही है तो बुराई से ग्रस्त होने के बावजूद वह उस व्यक्ति से बहुत अच्छा है, जो बुराई न करता हुआ भी बुराई को अच्छा समझा है। जैसाकि मैंने अभी कहा था, दृष्टिकोण यथार्थ बनने के पश्चात व्यक्ति बुराई को छोड़ने की दिशा में बहुत आसानी से गतिशील हो जाता है, जबकि दृष्टिकोण अयथार्थ/मिथ्या बनने के पश्चात व्यक्ति बुरेकाई को छोड़ सकने की स्थिति में होने के बावजूद उससे मुक्त नहीं हो पाता।

यों तो हम गृहस्थ हैं!

मैं आत्रा पर था। एक गांव में मैंने प्रवचन किया। चूंकि धर्म-प्रवचन सुनने का अधिकार हर व्यक्ति को है, इसलिए मेरे प्रवचन में जैन या तेरापंथी ही नहीं, अपितु विभिन्न वर्गों के लोग उपस्थित थे। एक सेना के अफसर ने भी प्रवचन सुना। प्रवचनोपरांत मैं अपने स्थान पर गया। वह अफसर भी वहां आया और मेरे सामने आकर बैठ गया। मैंने उससे बातचीत करनी शुरू की। मेरे पीछे कुछ जैन बंधु भी बैठ गये थे। मुझे उस व्यक्ति से वार्तालाप करते देख उन्होंने संकेतों के द्वारा मुझे कुछ समझाने की चेष्टा की। पर मैंने उनके संकेतों की तरफ ध्यान दिए मुझे कुछ समझाने की चेष्टा की। पर मैंने उनके संकेतों की तरफ ध्यान दिए

बिना वार्ता चालू रखी। यह देख कर उन्होंने एक अन्य प्रकार से मुझे समझाने का प्रयत्न किया। एक भाई ने आकर मेरे पट्ट को पीछे से खटखटाया। पर यह प्रयत्न भी विफल रहा। इस बार प्रयत्न और तीव्र था। एक भाई ने मेरे कान के समीप आकर धीमे से कहाह 'आचार्यजी ! आप किससे बात कर रहे हैं, यह व्यक्ति बात करने के काबिल नहीं है।' मैं उसके कथन के आशय को पूरा समझ नहीं पाया तब वह अपने आशय को स्पष्ट करता हुआ बोलाह 'यह आदमी बहुत बड़ा शराबी है, इसलिए आप इससे बात न करें।' मैंने उस भाई की बात सुन ली और पुनः वार्ता प्रारंभ कर दी। मैंने बात-ही-बात में अफसर से पूछ लियाह 'तुम्हारा जीवन कैसा है?' उसने बड़ी सरलता के साथ कहाह 'मत पूछिए महाराज ! मुझे शराब पीने की लत पड़ गई थी। बहुत शराब पीता था मैं।' तब मैंने पूछाह 'अब क्या स्थिति है?' उसने कहाह 'अब तो काफी कम कर दी है।' मैंने उसके मानस को पढ़ा। इस बुराई के प्रति उसके मन में गहरी ग्लानि थी। मैंने अवसर को समझा और कहाह 'अब थोड़ी शेष क्यों रखी है?' वह आत्मविश्वासपूर्वक बोलाह 'आपकी कृपा और आशीर्वाद सदा है और सदा रहेगा।' बस, यह तत्काल खड़ा हो गया और उसने जीवन भर के लिए शराब न पीने का संकल्प स्वीकार कर लिया।

उसके चले जाने के पश्चात मैंने उन जैन बंधुओं की ओर अपनी दृष्टि घुमाते हुए प्रश्न की भाषा में कहाह 'आप लोग क्या करते हैं?'

मेरे प्रश्न के उत्तर में सबने अपने-अपने धंधों के बारे में बताया। पता लगा कि उनमें अधिकतर किराना, गल्ला, कपड़ा आदि के व्यापारी हैं। मैंने उनसे पूछाह 'क्यों भाइयों ! आप अपने अपने धंधे में नकली को असली बताकर तो नहीं बेचते हैं।' वे लोग बोलेह 'महाराज ! यों तो हम गृहस्थ हैं। गृहस्थ में सब कुछ चलता है।' मैंने प्रेरणा के स्वर में कहाह 'खैर, अब तक आपने जो कुछ किया सो किया, पर आज से तो इस बुराई को छोड़ दें।' अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहाह 'नहीं महाराज ! यह छोड़ दें तो हमारा व्यापार कैसे चले?' मैंने दूसरा प्रश्न कियाह 'आप लोग तौल-माप में कमी-बेसी तो नहीं करते हैं?' इस बार भी उनका लगभग पहलेवाता ही उत्तर थाह 'यों तो हम गृहस्थ हैं, बाल-बच्चेदार हैं। हमें सब कुछ करना पड़ता है।' मैंने उन्हें प्रेरित करते हुए कहाह 'अब तो छोड़ दें इसे।' उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त कीह 'इसे छोड़ दें तो हम भूखे मर जाएं।'

मैंने यों एक-एक बुराई के बारे में पूछा और उनको छोड़ने के लिये प्रेरित किया। पर हर बार उनका लगभग वही उत्तर थाह'हम गृहस्थ हैं। गृहस्थ को सब-कुछ करना पड़ता है। इसके बिना हमारा काम नहीं चलता.....'

मैंने उन्हें समझाने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी। पर मेरा सारा प्रयास विफल रहा। वे अपने आचरण और व्यवहार में तनिक भी परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं हुए। तब दो क्षण रुककर मैंने कहाह'एक शराबी व्यक्ति से आपके गुरु बातचीत करें, इसमें तो आपको इतनी आपत्ति है, जबकि उसने मेरी प्रेरणा से शराब सदा के लिए छोड़ दी। दूसरी तरफ अपने-आपको भक्त मानते हुए भी आप लोग बुराईयों से गहरे चिपके हुए हैं, उन्हें छोड़ने के लिए बिलकुल भी तैयार नहीं हैंहइस बात का आपके मन में किंचित भी विचार नहीं है। मैं पूछना चाहता हूं, मेरा उस शराबी व्यक्ति से बात करना ज्यादा सार्थक था या आपसे ? यदि मैं उससे बात नहीं करता तो उसे शराब से मुक्त बनने की प्रेरणा कैसे देता और वह शराब से इतनी जल्दी छुटकारा कैसे पाता ? शराबी होने के बावजूद मैं उसको आप लोगों की अपेक्षा अधिक ठीक समझता हूं, क्योंकि उसका दृष्टिकोण सही है। वह बुराई को बुराई समझता है। किंतु आप लोग बुराई करते हुए भी उसे बुराई नहीं मान रहे हैं।'

बंधुओ! यह दृष्टिकोण का मिथ्यात्व सचमुच बड़ा खतरनाक है। इस गलत दृष्टिकोण के कारण ही व्यक्ति बड़े-बड़े पाप करता है। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक बन जाता है, वह फिर ग्राहकों को धोखा नहीं दे सकता, झूठा तौल-माप नहीं कर सकता, शोषण व भ्रष्टाचार के सहारे धन का उपार्जन नहीं कर सकता।.....

दृष्टिकोण की अस्पष्टता

दृष्टिकोण की अयथार्थता की तरह दृष्टिकोण की अस्पष्टता के कारण भी कभी-कभी नुकसान हो जाता है। इस बात को मैं एक-दो उदाहरणों से स्पष्ट करना चाहूंगा। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहाह'भिक्षुओ ! तुम्हें भिक्षा में सहज रूप से चिकना-चुपड़ा या रूखा-सूखा, गर्म या ठंडा-बासी, सुगंधित या दुर्गंधित जेसा भी भोजन प्राप्त हो, उससे अपना काम चलाओ। पर कभी किसी वस्तु की गृहस्थ से योचना मत करो।' भिक्षुओं ने महात्मा बुद्ध की बात सजल रूप में

स्वीकार की। एक दिन एक भिक्षु भिक्षा के लिए जा रहा था। रास्ते में एक चील के मुंह से छूटकर एक मांस का टुकड़ा उसके भिक्षा-पात्र में गिर पड़ा वह बहुत दुविधा में फंस गया। एक तरफ भिक्षुचर्या में मांस खाने का कोई विधान नहीं और दूसरी तरफ शास्ता बुद्ध का यह आदेश कि जो भी भिक्षा-पात्र में सहज रूप में आ जाए, उसे खा लेना चाहिए। उसने काफी चिंतन किया, पर किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाया। तब वह महात्मा बुद्ध के पास आया और उन्हें सारी बात निवेदित की। गौतम बुद्ध ने सोचाह्नीचील कोई रोज तो आने को रही। यह तो कोई संयोग था। अतः इसे खाने में कोई आपत्ति नहीं। अपने चिंतन के अनुसार उन्होंने उस भिक्षु को वह मांस का टुकड़ा खाने की आज्ञा दे दी। महात्मा बुद्ध ने आज्ञा क्या दी, मांस-भक्षण शुरू हो गया। अब प्रतिदिन भिक्षा में मांस आने लगा। महात्मा बुद्ध ने यह तो सोच लिया कि चील रोज कहां आने को है, पर दृष्टिकोण की अस्पष्टता के कारण यह नहीं सोच पाए कि मांस आने के दूसरे-दूसरे रास्ते बहुत हैं। इस छूट से बौद्ध भिक्षु मांसाहारी बन जाएंगे।

इस संदर्भ में एक दूसरा उदाहरण और देखें। महात्मा बुद्ध से पूछा गयाह्नीप्राण-वध करना चाहिए या नहीं ? उन्होंने उत्तर दिया‘प्राण-वध करना सर्वथा त्याज्य है, खाने के लिए भी वध नहीं करना चाहिए।’ लोगों ने इसका अर्थ यह लिया कि वध करके मांस नहीं खाना चाहिए। सहज रूप से मरे हुए पशु-पक्षियों का मांस खाने में कोई आपत्ति नहीं है। इसका परिणाम हमारे सामने प्रत्यक्ष है। आज लगभग सारा बौद्ध-समाज मांसाहारी है। बौद्ध धर्मावलंबी देशों में जाकर आप देखें, वहां होटलों के बाहर लिखा मिलेगाह्नीयहां बिन प्राण-वध का मांस मिलता है। (यद्यपि उसका अधिकांश पशु-पक्षियों का वध करके ही बनाया जाता है!)

मेरे मन में गौतम बुद्ध के प्रति तनिक भी असम्मान की भावना नहीं है। वे एक महापुरुष थे, इसमें मुझे किंचित भी संदेह नहीं है। मैं कभी नहीं मानतथा कि उन्होंने मांसाहार का समर्थन किया था। पर इतना अवश्यक कहता हूं कि दृष्टिकोण की अस्पष्टता के कारण वे इस बात को गहराई से नहीं सोच सके। इसीलिए यह स्थिति बनी। यदि उस समय गौतम बुद्ध इस बात पर गहराई से चिंतन कर लेते तो मुझे विश्वास है कि वे स्पष्ट रूप से मांसाहार का निषेध कर देते और उसका बहुत संभावित सुपरिणाम यह होता कि आज बौद्ध-समाज

मांसाहारी नहीं होता।

इतना तो अवश्य करें !

बंधुओ! यथार्थ दृष्टिकोण के महत्त्व को आप भलीभांति समझ गए होंगे। मैं मानता हूँ, जो व्यक्ति सम्यक दृष्टि को प्राप्त हो जाता है, वह दूसरे के गुणों को देखकर कभी ईर्ष्या नहीं कर सकता। भले वह स्वयं कोई अच्छा कार्य न भी कर सके, पर सत्क्रिया करनेवालों की सदा प्रशंसा करेगा। मैं मानता हूँ, यह भी एक बहुत ऊंची बात है। उपाध्याय विनयविनयजी की पंक्तियां मेरी स्मृति में आ रही हैं।

- दिष्ट्याऽयं वितरित बहुदानं, वरमयमिह लभते बहुमानम्।
किमित न विमृशसि परपरभागं, यद्विभजसि तत्सुकृतविभागम्॥
- येषां मन इह विगतविकारं, ये विदधति भुवि जगदुपकारम्।
तेषां वयमुचिताचरितानां, नाम जपामो वारं वारम्॥
- तात्त्विक-सात्त्विक-सुजन-वतंसाः, केचन युक्तिविवेचनहंसाः।
अलमकृषत किल भुवनाऽऽभोगं, स्मरणममीषां कृतशुभयोगम्॥

इन पद्यों का सारांश यही है कि व्यक्ति चाहे त्याग व तपस्या के रूप में धर्माधना नहीं कर सकता, पर कम-से-कम इतना तो अवश्य करे कि जो लोग त्याग-तपस्या के द्वारा धर्म की आराधना करते हैं, उनको अच्छा समझे, उनका गुणोत्कीर्तन करे। गुणी का गुणगान करने से भी व्यक्ति बहुत-कुछ लाभ प्राप्त कर सकता है। पर जैसाकि मैंने पहले ही कहा, यह तभी संभव है, जब व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में यह कभी संभव नहीं है। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा यही है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बने। सही दृष्टिकोणयुक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

गंगाशहर

१३ अगस्त १९७८

३१ : मतिज्ञान के प्रकार

साकार और अनाकार उपयोग की संक्षिप्त चर्चा मैंने पिछले प्रवचनों में की। अब हम विस्तार में उनको समझें।

विशेषग्राहित्वाज्ज्ञानं साकारः।^१

सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनः सामान्यधर्मान् गौणीकृत्य विशेषाणां ग्राहकं ज्ञानं आकारेणहविशेषण सहितत्वात् साकार उपयोग इत्युच्यते।

ज्ञान पदार्थ के विशेष धर्मों का ज्ञाता होता है, अतः उसे साकार उपयोग कहते हैं। प्रश्न होगा, विशेष किसे कहा जाता है ? व्यवहार में जो सामान्य नहीं है, विशेष कहा जाता है। इसी प्रकार जो विशेष नहीं है, उसे कुछ सूत्रों को परिवर्तित किया गया है। उसी क्रम में अमुक सूत्र के स्थान पर निम्नांकित सूत्र रखा गया हैह

पर्यायग्राहित्वाज्ज्ञानं साकारः।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्य द्रव्यस्य ध्रौव्यं गौणीकृत्य उत्पादव्य-योग्राहकं ज्ञानं साकार उपयोग इत्युच्यते। अयं अकारेण पर्यायेण सहितत्वात्। सविकल्प उपयोग इत्यस्य पर्यायः।

ज्ञान द्रव्य के पर्यायों को ग्रहण करता है, अतः उसे साकार उपयोग कहा जाता है।

द्रव्य के तीन धर्म होते हैंहउत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। इनमें ध्रौव्य धर्म को गौणकर उत्पाद और व्यय को ग्रहण करनेवाला ज्ञान साकार उपयोग कहलाता है। यह आकारहपर्यायसहित होने के कारण साकार है। यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसका दूसरा नाम हैहसविकल्प उपयोग।

साकार उपयोग की पूर्व व्याख्या और इस नई व्याख्या में कोई मौलिक अंतर नहीं है। मात्र विवक्षाभेद है। इस विवक्षा में विशेषग्राही

१. जैनसिद्धांतदीपिका के तृतीय संशोधित संस्करण (सन १९८२) में।

अर्थात् भेदात्मक ज्ञान के स्थान पर पर्यायत्मक ज्ञान के रूप में साकार उपयोग को व्याख्यायित किया गया है। सामान्य कहा जाता है। पर प्रस्तुत संदर्भ में विशेष और सामान्य दोनों ही शब्द इनसे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। विशेष का अर्थ हैहैभेदात्मक। सामान्य का अर्थ हैहैअभेदात्मक।

हम जानते हैं कि हर वस्तु में सामान्य और विशेष दो प्रकार के धर्म होते हैं। उदाहरणार्थहैहाथ में पांच अंगुलियां अभेदात्मक दृष्टि से भी अंगुलियां हैं। पर जहां हम उन्हें कनिष्ठ, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी और अंगुष्ठ-इन पांच अलग-अलग भागों में विभक्त करते हैं, वहां हमारी दृष्टि भेदात्मक हो जाती है। संसार में अरबों मनुष्य हैं। यह अभेदात्मक दृष्टि है। पर जब हम उन्हें भेदात्मक दृष्टि से देखते हैं तो ये पुरुष हैं, यह अभेदात्मक दृष्टि है। पर जब हम उन्हें भेदात्मक दृष्टि से देखते हैं तो ये पुरुष हैं, ये महिलाएं हैं, ये लड़के हैं, ये लड़कियां हैं, ये जवान हैं, ये वृद्ध हैं, ये भारतवर्ष के वासी हैं, ये विदेशी हैं.....इस प्रकार भेद होते ही जाएंगे। इनका कोई अंत आनेवाला नहीं है। यह भेद और अभेद सभी पदार्थों में पाया जाता है।

भेद और अभेद उपयोगी हैं

आप कहेंगे कि हम तो समन्वय के सिद्धांत को माननेवाले हैं, इसलिए हमें तो अभेद की बात करनी चाहिए, भेद की बात ही क्यों करें। मैं मानता हूं, अभेदात्मक दृष्टि बहुत अच्छी है, पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि भेदात्मक दृष्टि सर्वथा बुरी है। वस्तुतः अपने-अपने स्थान पर अपेक्षाभेद से दोनों ही दृष्टियां उपयोगी और आवश्यक हैं। भेद भी उतना ही आवश्यक है, जितना अभेद। अलबत्ता इतना अवश्य है कि यह भेदात्मक दृष्टि केवल तत्त्व को सूक्ष्मता से समझने-समझाने के लिए होना चाहिए, लड़ने-झगड़ने के लिए नहीं।

भेदात्मक गुण का महत्त्व और उपयोग हम व्यवहार में भी स्पष्ट देखते हैं। जहां इसका अभाव होता है, वहां कई बार बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। दूध गाय का भी होता है, भैंस का भी होता है, आक और थोर का भी होता है। यदि अभेदात्मक दृष्टि न हो तो बहुत संभव है कि व्यक्ति गाय के दूध के स्थान पर आक का दूध ले आए, थोर का दूध ले आए। दो सगी बहिनों की एक साथ शादी हुई बरातें खाना होने के

समय दोनों के वर परस्पर बदल गए। ऐसा क्यों हुआ? यह इसलिए हुआ कि भेदात्मक दृष्टि नहीं थी। भेदात्मक दृष्टि होती तो ऐसा कभी नहीं होता कि लड़की की शादी तो किसी के साथ हुई हो और वह जाए किसी दूसरे के साथ। यह कोई कल्पित कहानी नहीं, अपितु घटित घटना है। इस प्रकार की अनेक बातें आए दिन हमारे आती रहती हैं। इन सबके पीछे मूलभूत कारण भेदात्मक दृष्टि का अभाव ही होता है। इसी प्रकार अभेदात्मक दृष्टि भी व्यवहार में बहुत उपयोगी है। उसके अभाव में भी व्यक्ति के सामने नाना प्रकारकी समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं।

ज्ञान के प्रकार

दर्शन की भाषा में इस भेदात्मक प्रतीति को ज्ञान और अभेदात्मक प्रतीति को दर्शन कहा गया है। अब आप ज्ञान के भेदों को समझें

मतिश्रुताविधमनःपर्यवकेवलानि ।

ज्ञानके पांच प्रकार हैं१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्यवज्ञान ५. केवलज्ञान ।

मतिज्ञान

इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः ।

मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इति एकार्थाः ।

मनन या मस्तिष्क का ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दों में इंद्रियों और मन के द्वारा होनेवाले ज्ञान मतिज्ञान है। आप पूछेंगे कि मतिज्ञान किस-किस में होता है। मैं पूछता हूँ, मतिज्ञान किस-किस में नहीं होता? और यही प्रतिप्रश्न इस प्रश्न का उत्तर है। अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों में, चाहे वे सूक्ष्म हों या बाद, त्रस हों या स्थावर, समनस्क हों या अमनस्क.....सभी में यह ज्ञान होता है। यह दूसरी बात है कि किन्हीं-किन्हीं प्राणियों का ज्ञान प्रकट होता है और किन्हीं-किन्हीं प्राणियों का अप्रकट। मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोधहये सभी मतिज्ञान के ही पर्यायवाची नाम हैं।

मतिज्ञान के प्रकार

अवग्रहेहावायधारणास्तद्भेदाः

मतिज्ञान के चार प्रकार हैं१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय ४. धारणा ।

आप पूछेंगे कि अवग्रह किसे कहते हैं

इंद्रियार्थयोगके दर्शनानन्तरं सामान्यग्रहणमवग्रहः ।

इंद्रियार्थयोरुचितदेशाद्यवस्थानरूपे योगे सति दर्शनमूह
अनुल्लिखितविशेषस्य समन्मात्रस्य प्रतिपत्तिः, तदन्तरं अनिर्देश्य-
सामान्यस्य (वस्तुनः) ग्रहणमवग्रहः।

इंद्रिय और पदार्थ का जब योग होता है, तब प्रथम क्षण में हमें दर्शन होता है। उसे हम छोड़ दें। उसके पश्चात पदार्थ का जो प्रारंभिक भेदात्मक ज्ञान होता है, वह अवग्रह है।

अवग्रह के प्रकार

व्यञ्जनार्थयोः ।

व्यञ्जनहइंद्रियार्थसंबंधरूपेण, व्यञ्जनस्यहशब्दादेरर्थस्य
ग्रहणमहअव्यक्तः परिच्छेः व्यञ्जनावग्रहः ।

ततो मनाग् व्यक्तं जातिद्रव्यगुणकल्पनारहितमर्थग्रहणं
अर्थावग्रहः, यथा एतत् किञ्चिद् अस्ति ।

अवग्रह के दो प्रकार हैं१. व्यञ्जनावग्रह २. अर्थावग्रह ।

व्यञ्जनावग्रह

अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है। आप इसे और स्पष्टता में समझें। इंद्रिय और पदार्थ का संबंध होने पर दर्शन के पश्चात जो प्रारंभिक भेदात्मक ज्ञान होता है, वह अवग्रह है। इस ज्ञान में पदार्थ (व्यंजन) और इंद्रिय (व्यंजन) का जो मिलन होता है या इंद्रिय (व्यंजन) द्वारा पदार्थ (व्यंजन) का जो ग्रहण होता है, वह व्यंजनावग्रह है।

अर्थावग्रह

अर्थावग्रह व्यञ्जनवग्रह से कुछ अधिक स्पष्ट होता है। इंद्रिय द्वारा पदार्थ का ग्रहण करने के पश्चात 'यह कुछ है' ऐसी प्रतीति होना अर्थावग्रह है।

ईहा

अमुकेन भाव्यमिति प्रत्यय ईहा ।

अमुकस्तदितरो वा इति संशयादूर्ध्वं अन्वयव्यतिरेकपूर्वकम्
'अमुकेन भाव्यम्', इति प्रत्यय ईहा, यथा-शब्देन भाव्यम् ।

अवग्रह के पश्चात संशयात्मक ज्ञान होता है। ह्यवह पदार्थ अमुक है या दूसरा? इसके अनंतर यह विकल्प उठता है। ह्यवह कान का विषय है, इसलिए यह शब्द होना चाहिए, स्पर्श नहीं। इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ का निश्चय करने के लिए विमर्श करनेवाले ज्ञान का नाम ईहा है।

अवाय

अमुक एवेत्यवायः ।

यथा अयं शब्द एव ।

यह पदार्थ अमुक ही है, यह निर्णयात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है, जैसेह्यवह शब्द ही है, स्पर्श नहीं है। अवाय ईहा के द्वारा किए गए ज्ञान का समर्थन ही नहीं करता, अपितु उसका विशेष अध्ययनपूर्वक निर्णय भी करता है।

धारणा

तस्यावस्थितिधारणा ।

*वासना, संस्कार इत्यस्याः पर्यायः । प्रत्येकमिन्द्रियमनसाऽव-
ग्रहादीनां संयोगात् नयनमनसोव्यञ्जनावग्रहाभावाच्च मतिज्ञानमष्टा-
विंशतिभेदं भवति ।*

निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति को धारणा कहते हैं जैसेह्यवह लालटेन का प्रकाश है, ऐसा आज हमने निर्णय किया। अब हम सदा के लिए यह निर्णय कर लेते हैं कि ऐसा प्रकाश लालटेन का ही होता है। यह निर्णयात्मक अवस्थित ज्ञान धारणा है। अवाय में भी निर्णयात्मक स्थिति होती है, परन्तु उसके द्वारा किया गया निर्णय अधिक समय तक टिकता नहीं। मन में विषयांतरित होते ही वह दिमाग से निकल जाता है। केवल अपना संस्कार पीछे छोड़ जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

वासना तथा संस्कार ये दोनों धारणा के पर्यायवाची शब्द हैं।

पांच इंद्रियां और मन के साथ अवग्रह, ईहा आदि का गुणन करने से मतिज्ञान के अट्ठइस प्रकार (६ह्य=३०। चूंकि इंद्रिय और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता, अतः शेष २८) होते हैं।

गंगाशहर

१४ अगस्त १९७८

●१९०● ————— जोत चले अब ज्ञान की

३२ : श्रुतज्ञान

ज्ञान हमारी चेतना है। उसका जितना अधिक उपयोग करते हैं, उतने ही हम लाभान्वित होते हैं। कल के प्रवचन में मैंने ज्ञान के पांच प्रकार और उसके अनंतर मतिज्ञान का विवेचन किया था। आज मैं श्रुतज्ञान पर कुछ कहना चाहूंगा।

द्रव्यश्रुतानुसारि परप्रत्यायनक्षमं श्रुतम्।

द्रव्यश्रुतम्हशब्दसंकेतादिरूपम्, तदनुसारेण परप्रत्यायनक्षमं ज्ञानं श्रुतमभिधीयते।

श्रुत के सहयोग से मन और इंद्रियां जो ज्ञान करती हैं, वह श्रुतज्ञान है। जो सुना जाता है, वह श्रुत है। स्वतः सुनने के लिए या दूसरों को सुनाने-समझाने के लिए श्रुत की अनिवार्य अपेक्षा है। दूसरे शब्दों में श्रुतज्ञान की यह परिभाषा भी की जा सकती हैहृद्रव्यश्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान।

द्रव्यहृश्रुत

शब्द, संकेत आदि का नाम द्रव्यश्रुत है। मैं बोल रहा हूं और आप समझ रहे हैंहृइसमें शब्दों की अहम भूमिका है। यदि मैं न बालूं तो आप कैसे समझेंगे ? पर बहुत-सी स्थितियों में बिना शब्द भी समझाया जा सकता है और समझा जा सकता है। जैसेहृमां ने आंख से जरा-सा संकेत किया और बचा समझ गया कि मां मुझे यहांहृसे उठकर चले जाने के लिए कह रही है।

मति और श्रुत का अंतर

आप पूछ सकते हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में क्या अंतर है। मतिज्ञान भाव स्वयं के लिए होता है, जबकि श्रुतज्ञान स्व और पर दोनों के लिए होता है। वैसे जब व्यक्ति को स्वयं जानता होता है, श्रुत की

कोई जरूरत नहीं, पर जहां किस दूसरे व्यक्ति को समझाना है, वहां श्रुत का सहारा लेना ही होगा। वास्तव में वहां कतिज्ञान ही श्रुतज्ञान के रूप में परिणत होता है। दूध में चावल और चीनी डाली कि खीर बन गई। श्रुतज्ञान खीर के सदृश है और मतिज्ञान दूध के समान। आपका प्रश्न हो सकता है कि श्रुतज्ञान किस-किसके पास होता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान की तरह ही समस्त प्राणियों में पाया जाता है। ऐसा कोई प्राणी नहीं, जिसमें श्रुतज्ञान न हो। यह एक अलग बात है कि कुछ प्राणियों का श्रुतज्ञान अधिक विकसित होता है, कुछ प्राणियों का अल्प विकसित और कुछ का अति अल्प विकसित। प्रायः मनुष्यों का श्रुतज्ञान विकसित होता है। पर कुछ लोगों को बहुत कम विकसित भी होता है। इसीलिए वे अपनी बात दूसरों को समझाने में सफल नहीं हो पाते। पशु-पक्षियों का ज्ञान अल्प विकसित होता है। भूख लगती है तो वे आवाज करने लगते हैं। उनकी आवाज हम साधारणतया न भी समझ पाएं, पर वे तो समझाने का प्रयत्न करते ही हैं। यह प्रयत्न श्रुतज्ञान के द्वारा ही होता है। वस्तुतः दूसरों को समझाने के लिए बहुत विकसित श्रुतज्ञान की अपेक्षा होती है। आपने तीन-चार दिन पूर्व यहां विद्वानों को सुना। सारी सभा को हिला दिया उन्होंने। यह श्रुतज्ञान का ही प्रभाव था। वे इस बात को समझाने में सफल रहे कि *जैनागमकोश* एवं *जैनविश्वकोश* का काम हाथ में लेकर हम सचमुच एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर रहे हैं।

मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूं और उसके माध्यम से जन-जन को तत्त्व समझाने का प्रयास करता हूं। यह दूसरी बात है कि सब श्रोता समान रूप से सारी बातें नहीं पाते। पर मेरा प्रयास तो सदा यही रहता है कि सब समान रूप से तत्त्व को समझ पाएं। पूज्य कालूगणी बहुधा फरमाया करते थेह्र'मेरी भावना है कि हमारे संघ वकज्ञा ळपप्रत्येक साधु आचार्य-पद के योग्य बने। यह ठीक है कि एक समय में संघ में एक ही आचार्य हो सकेगा, पर योग्यता तो सब प्राप्त कर ही सकते हैं।' यद्यपि हम जानते हैं कि ऐसा कभी संभव नहीं होता, तथापि गुरु की भावना तो अपने शिष्यों को समान रूप से विकसित देखने की होती है। यही बात मैं कह रहा हूं। यद्यपि सबको समान रूप से विकसित देखने की होती है। यही बात मैं कह रहा हूं। यद्यपि सबको समान रूप से समझाने के बावजूद सब समान रूप से तत्त्वज्ञ नहीं बर सकेंगे, फिर भी मेरी

भावना और प्रयास तो सदा सबको समान रूप से तत्त्ववेत्ता बनाने का ही रहेगा।

पूजनीय शास्त्र नहीं, ज्ञान है

आज हमारे सामने ग्रंथ, शास्त्र पुस्तकें आदि उपलब्ध हैं। वे श्रुतज्ञान ही हैं। आप कहेंगे वे ज्ञान कैसे, क्या ज्ञान जड़ है वस्तुतः ग्रंथ, शास्त्र, पुस्तकें आदि स्वयं ज्ञान नहीं, अपितु उनमें ज्ञान भरा है। उनके सहारे ज्ञान किया जाता है। दूसरों को ज्ञान कराने में वे निमित्त बनते हैं। इस दृष्टि से उन्हें व्यवहार में श्रुतज्ञान कह दिया जाता है। आजकल स्थान-स्थान पर ज्ञान-मंदिर बन रहे हैं। पूर भवन की दिवारों पर धर्म-ग्रंथों को खुदवाकर या लिखवाकर उन्हें सज्जित किया जाता है। कुछ लोग धर्म ग्रंथों की पूजा भी करते हैं। ऐसा करनेवाले स्वतंत्र हैं। उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। पर इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि ग्रंथ और प्रतिमा पूजने की वस्तुएं नहीं हैं, पूजने की वस्तु है ज्ञान। पर ज्ञान की पूजा धूप, दीप और चंदन से नहीं हो सकती। उसकी पूजा का तो एकमात्र तरीका यह है कि सच्चे दिल से उसकी आराधना की आदर्शों को जीवन में उतारना कठिन होता है और उनकी धूप, दीप आदि से पूजा करना बहुत सरल। इसलिए योग ने आदर्शों को अपनाना तो छोड़ दिया और धर्मग्रंथों का धूप, दीप आदि से पूजन करने प्रारंभ कर दिया।

सेठ का बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि बड़े-बड़े शहरों में तेल का व्यवसाय था। सेठ मद्रास में था। उसे खबर मिली कि कलकत्ता में तेल का बाजार बहुत मंदा हो गया है और बंबई में काफी देज। उसने तत्काल दोनों स्थानों पर मुनिमों को अलग-अलग चिट्ठियां लिखीं। कलकत्ता के मुनीम को लिखा कि बाजार काफी मंदा है, इसलिए जितना तेल खरीद सको, खरीद लो। बंबईवाले मुनीम की चिट्ठी में लिखा कि बाजार काफी तेज है, इसलिए जितना तेल बेच सको बेच दो।

चिट्ठी कलकत्ता पहुंची। मुनीम ने चिट्ठी पढ़ी। सेठ के निदेशानुसार उसने तत्काल तेल खरीदना शुरू कर दिया और चिट्ठी रद्दी को टोकरी में डाल दी।

चिट्ठी बंबई भी पहुंची। मुनीम को मिली। सेठ के हाथ की चिट्ठी पाकर वह बहुत खुश हुआ। उसने उसे अपने मस्तक पर लगाया और एक ऊंचे पट्ट पर ससम्मान रखकर प्रतिदिन धूप-दीप से उसकी पूजा

प्रारंभ कर दी। पर चिट्ठी में क्या लिखा है, यह कभी पढ़ने का प्रयास नहीं किया।

कुछ समय पश्चात सेठ कलकत्ता गया। मुनीम से सेठ का स्वागत किया। औपचारिक वार्ता के बाद सेठ ने मुनीम से पूछाह 'मैंने तुम्हें एक पत्र दिया था, वह मिला या नहीं?' मुनीम ने कहाह 'मिला।' सेठ ने वह पत्र दिखाने के लिए कहा तो उसने कहाह 'वह तो अब नहीं है, मैंने फाड़ कर फेंक दिया।' सेठ ने पूछाह 'उसको पढ़ा या नहीं?' मुनीम ने कहाह 'हां, पढ़ा।' तब सेठ ने व्यग्रता के साथ पूछाह 'तो बताओ, क्या किया तुमने?' मुनीम ने तत्काल बही लाकर सेठ के सामने रख दी। सेठ को यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि मुनीम ने मेरे निदेश का पूरा-पूरा पालन किया है। उसने हजारों टिन तेल खरीद लिया। इसमें काफी मुनाफा होने की संभावना है। सेठ ने मुनीम की तनख्वाह द्विगुणित कर उसके इस कार्य का अंकन किया।

अब से बंबई पहुंचा। वहां का काम संभालनेवाले मुनीम से भी उसने चिट्ठी के बारे में पूछा। मुनीम ने झट चिट्ठी पट्ट से उतारकर चिट्ठी सेठ के सामने रख दी। सेठ ने पूछाह 'चिट्ठी पढ़ी या नहीं?' मुनीम बोलाह 'पढ़ी तो नहीं।' सेठ ने जरा बिगड़ते हुए पूछाह 'फिर क्या किया?' बड़ी उत्फुल्लता के साथ मुनीम ने कहाह 'क्या-क्या किया, मैं इसकी प्रतिदिन पूजा करता हूं। आपको चिट्ठी हमारे पास कब-कब आती है !'

सेठ को मुनीम की मूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। उसकी नासमझी के कारण वह एक बहुत बड़े लाभ से वंचित रह गया। यदि मुनीम चिट्ठी को पढ़कर उसमें दिए गए निदेशानुसार गोदाम में पड़े तेल के हजारों टिन बेच देता तो सेठ मालामाल हो जाता। सेठ ने तत्काल मुनीम को छुट्टी कर दी।

बंधुओ! जो लोग धर्मग्रंथों के आदर्शों को जीवन में न उतारकर केवल उनकी पूजा करते हैं, वे बंबईवाले मुनीम के साथी हैं। आज ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है। और बहुत सही बात तो यह है कि अधिकतर लोग इसी कोटि के हैं। पर कुछ लोग कलकत्तावाले मुनीम जैसे भी मिलते हैं। वे धर्मग्रंथों की पूजा तो नहीं करते, पर उनकी बातों को जीवन में उतारते हैं। सारांश यही है कि धर्मशास्त्र, धर्मग्रंथ आदि पूजनीय नहीं, उनमें निहित ज्ञान ही पूजनीय है।

श्रुतज्ञान का माहात्म्य

श्रुतज्ञान हमारा परम उपकारी है, क्योंकि पांच ज्ञानों में यही एक ऐसा ज्ञान है, जो ज्ञान-दान का साधन बनता है। शास्त्रों में कहा गया है कि गुरु द्वारा शिष्यों को जो ज्ञान मिलता है, वह श्रुतज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। और तो क्या, केवलज्ञानी भी यदि किसी को ज्ञान-दान करते हैं तो श्रुतज्ञान के द्वारा ही करते हैं दूसरों को बोध देने में उनका केवलज्ञान काम नहीं आता। केवलज्ञान तो दर्पण के समान है। उसमें सब-कुछ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। पर जहां दूसरों को बताने का प्रश्न है, वहां तो एकमात्र श्रुतज्ञान का सहारा लेना होता है। इसलिए श्रुतज्ञान के महत्त्व को हम समझें और उसे अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास करें।

कच्छ में तेरापंथ के प्रथम प्रचारक

हमारे धर्मसंघ के साधु-साध्वियां तो श्रुतज्ञानी होते ही हैं, कुछ-कुछ श्रावक भी बहुत विशिष्ट श्रुतज्ञानी होते हैं। श्रावक श्री गेरूलालजी व्यास का नाम आपने सुना होगा। आचार्य भिक्षु के चार प्रमुख श्रावकों में उनका नाम आता है। वे महान रुतज्ञानी थे। आपको ख्याल रहना चाहिए कि कच्छ प्रदेश में सबसे पहले तेरापंथ का प्रचार-प्रसार उन्हीं के द्वारा किया गया था। साधु-साध्वियां तो बाद में आए हैं। वहां जाकर व्यासजी ने अनेक व्यक्तियों को सत्य-धर्म का तत्त्व समझाया। उनके समझाए हुए लोगों की पीढ़ियां आज भी मौजूद हैं। इस शृंखला में और भी अनेक श्रावकों के नाम गिनाए जा सकते हैं।

एक नई योजना

इस बार एक नई योजना बनी है। समाज के कुछ लोग श्रुत की उपासना करते हुए उपासक बनें। जिन क्षेत्रों में साधु-साध्वियों के चातुर्मास नहीं हैं, उन क्षेत्रों में जागर वे लोगों को धार्मिक आराधना में सहयोग और प्रेरणा दे सकेंगे। पिछले वर्ष पारमार्थिक शिक्षण संस्थ का एक गुप पर्युषण के अवसर पर रायपुर(मध्यप्रदेश गया था।)उसके माध्यम से वहां अच्छी धर्म-जागरण हुई। उस प्रयोग की सफलता के आधार पर इस बार एक से अधिक क्षेत्रों में वैसे गुपों को भेजने की योजना बनी है। कुछ गुप पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहनों के होंगे और कुछ उपासक साधकों के। इस योजना के सफल होने का दोहरा

लाभ होगा। एक तरफ जहां समाज में विशिष्ट साधनानिष्ठ, चरित्रनिष्ठ व्यक्तियों को आगे आने का मौका मिलेगा, वहीं दूसरी तरफ साधु-साध्वियों के चातुर्मास न होने के बावजूद श्रावक-समाज पर्युषण महापर्व को अच्छे ढंग से मना सकेगा।

गंगाशहर

१५ अगस्त १९७८

३३ : श्रुतज्ञान के प्रकार

श्रुतज्ञान की संक्षिप्त चर्चा कल मैंने अपनी प्रवचन में की। आज उसी चर्चा को मैं आगे बढ़ाऊंगा।

अक्षर-संज्ञि-सम्यक् -सादि-सपर्यवसित-गमिकाङ्गप्रविष्टानि सप्रतिपक्षाणि ।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद हैं १. अक्षरश्रुत २. अनक्षरश्रुत ३. संज्ञि-श्रुत ४. असंज्ञिश्रुत ५. सम्यक्श्रुत ६. असम्यक्श्रुत ७. सादिश्रुत ८. अनादिश्रुत ९. सपर्यवसितश्रुत १०. अपर्यवसितश्रुत ११. गमिकश्रुत १२. अगमिकश्रुत १३. अङ्गप्रविष्टश्रुत १४. अनङ्गप्रविष्टश्रुत।

अक्षरों द्वारा कथन-योग्य भाव की प्ररूपणा करना अक्षरश्रुत है। अंगुली, आंख, मुंह आदि के संकेतों से भावों को समझाना अनक्षरश्रुत है। यहां साधन को साध्य माना गया है। अक्षर और अनक्षर दोनों ही श्रुतज्ञान के साधन हैं। इनके माध्यम से लेखक, संकेतक और वक्ता के भावों को जाना जाता है।

समनस्क प्राणियों का श्रु संज्ञिश्रुत है। इसी प्रकार अमनस्क प्राणियों का श्रुत असंज्ञिश्रुत है। ये दोनों भेद ज्ञान के अधिकारी की अपेक्षा से किए गए हैं। इस संदर्भ में यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि समनस्क कौन हैं और अमनस्क कौन। जो प्राणी मानसिक चिंतन करने में सक्षम हैं, वे समनस्क कहलाते हैं। सभी देव और नैरयिक समनस्क हैं। मनुष्य (लगभग) और पशु-पक्षी भी समनस्क हैं। हालांकि पशु और पक्षियों का मानसिक चिंतन मनुष्य के मानसिक चिंतन की तुलना में बहुत कम विकसित होता है, फिर भी उनमें मानसिक चिंतन है, यह तो हमें स्वीकार करना ही होगा। आप देखें, गाय चरती है। पर वह खाएगी, वे ही चीजें, जो उसके खाने के योग्य हैं। अखाद्य को वह कभी नहीं खाएगी। खाद्य-अखाद्य का यह विवेक वह मानसिक चिंतन के द्वारा

ही करती है। पशु-पक्षी अपने-अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। यह तभी संभव है, जब मानसिक चिंतन हो। एकेंद्रिय से चतुरिंद्रिय तक के सभी प्राणी अमनस्क हैं। यानी सारे स्थावर जीव-पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक एकेंद्रिय प्राणी तथा द्वींद्रिय, त्रींद्रिय और चतुरिंद्रिय प्राणी अमनस्क हैं।

प्रश्न पूछा जा सकता, मक्खी (चतुरिंद्रिय) के जब मन है ही नहीं, तब वह मिठाई को छोड़ गंदगी पर आकर कैसे बैठती है। इस प्रश्न को गहराई से समझ लेना चाहिए। यह तो निश्चित है कि जब तक पांचों इंद्रियां नहीं हैं, तब मन कभी नहीं हो सकता। वस्तुतः मक्खी आदि चतुरिंद्रिय प्राणी आंखों से देखकर वासना के कारण क्रियाएं करते हैं। इसी प्रकार चींटी आदि त्रींद्रिय प्राणी अपने घ्राण से सूंघकर कहां-से-कहां चले जाते हैं। आप कहेंगे कि मक्खी बहुत दूर की वस्तु को आंखों से कैसे देख लेती है, चींटी बहुत दूर पड़ी वस्तु को कैसे सूंघ लेती है इसका समाधान यह है कि जब प्राणी के एक-दो-तीन-चार इंद्रियां नहीं होतीं तो शेष इंद्रिय इंद्रियां बहुत अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं। जिन इंद्रियों का उसके अभाव होता है, उन इंद्रियों का बहुत-कुछ काम वह दूसरी इंद्रियों से कर लेता है। आपने प्रायः अनुभव किया होगा कि जो व्यक्ति अचक्षु होते हैं, उनकी श्रोत्रेन्द्रिय तीव्र हो जाती है, स्पर्शनिंद्रिय अत्यन्त संवेदनशील हो जाती है। वे शब्द, स्पर्श आदि के द्वारा इतना ज्ञान कर लेते हैं, हतना बहुत-से आंखों वाले भी संभवतः नहीं कर पाते। मैंने अपने जीवन में अनेक अचक्षु विद्वानों को देखा है।

अभी-अभी सरदारशहर में एक अचक्षु व्यक्ति स्नातकोत्तर (एम.ए.) की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुआ है। वह अब पी.एच.डी. करना चाहता है। इसके लिए उसने हमसे विषय का सुझाव मांगा है। मुझे आश्चर्य होता सहडै षकि अचक्षु व्यक्ति तो इतना उच्चस्तर का अध्ययन कर लेते हैं और जिन्हें आंखें प्राप्त हैं, जो मेधासंपन्न हैं, वे अपनी शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग नहीं करते ! वे बहुत जल्दी अपने-आपको अध्ययन के लिए अपात्र मानकर निराश हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि पढ़ने की उम्र तो बीस-पचीस वर्ष तक ही है। उसक बाद पढ़ने की उम्र नहीं है। पर मैं उनसे कहना चाहता हूं कि यह मिथ्या धारणा और निराश की बात बहुत अहितकर है। इससे वे बहुत बड़े लाभ से वंचित रह जाते हैं।

साक्षरता अभियान

आपको शायद मालूम नहीं होगा कि आजकल राष्ट्र में साक्षरता का एक व्यापक आंदोलन चल रहा है। इस आंदोलन का उद्देश्य है कि राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति निरक्षर न रहे। मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ, क्या आपने भी सामाजिक स्तर पर इस विषय पर कभी चिंतन किया ? क्या आप नहीं जानते कि आज भी आपके समाज के कुछ प्रतिशत लोग निरक्षर हैं ? क्या यह निरक्षरता आपके समाज के लिए अशोभनीय नहीं है ? मैं सोचता हूँ, यदि समाज का प्रबुद्ध व चिंतनशील वर्ग इस विषय पर गंभीरता से चिंतन करके कुछ ठोस प्रयास करे तो कोई कारण नहीं कि समाज से निरक्षरता जैसे अशोभनीय चीज बहुत जल्दी समाप्त न हो सके। आपको संभवतः पता नहीं होगा कि ऋजुमना मातुश्री वदनाजी ने लगभग सत्तर वर्ष की उम्र में अक्षर-ज्ञान किया था। हमारी निरक्षर वृद्ध महिलाएं इस बात से प्रेरणा लें कि हम भी निरक्षरता जैसे अभिशाप से मुक्त होंगी। इस कार्य में उनकी शिक्षित बहुएं, बेटियां, पोतियां बहुत सहजतया सहयोग कर सकती हैं। आपको इस संदर्भ में शायद ख्याल नहीं होगा कि सरकार निरक्षरता मिटाने के लिए करोड़ों-करोड़ों रुपये का सहयोग दे रही है। मुझे बताया गया कि केवल एक संस्थाह्व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इस अभियान को चलाने के लिए कई करोड़ रुपये प्राप्त किए हैं। रुपये लेने और देने की बात तो मैंने प्रसंगवश कह दी। यह कोई बहुत महत्वपूर्ण बात नहीं है। बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि इस कलंक को धोने के लिए सरकार भी बहुत सचेष्ट है।

कल ही मेरे मेवाड़ के एक कार्यकर्ता का पत्र आया। उसने मुझे यह सुझाव दिया है कि आप घोषणा करें कि हमारे समाज में कोई निरक्षर नहीं रहेगा। पर जैसाकि आप जानते ही हैं, मैं आदेश-निदेश तो दे नहीं सकता, केव अपनी सीमा में रहकर प्रेरणा दे सकता हूँ और वह मैं ही दे रहा हूँ। इसके बावजूद उस भाई का सुझाव अच्छा है, यह कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं। समाज सोचे और कुछ महत्वपूर्ण निर्णय ले। गंगाशहर से इसकी शुभ शुरुआत हो सकती है।

बंधुओ! मैं पूछना चाहता हूँ, क्या आपको यह बात आवश्यक नहीं लगती है कि समाज में कोई निरक्षर नहीं रहना चाहिए ? यदि वास्तव में आप यह आवश्यक और उपयोगी समझते हैं तो इतना विश्वास मैं दिला

सकता हूँ कि यह कार्य बहुत कठिन नहीं है। पर पता नहीं क्यों हमारे यहां ऐसी पद्धति-सी पड़ गई है कि लोग सुनना तो बहुत पंसद करते हैं, पर उसके अनुसार कुछ करने की आवश्यकता नहीं समझते। वस्तुतः सुनने का अर्थ यही है कि करणीय कार्य में अपने पुरुषार्थ का नियोजन किया जाए। अन्यथा वही बात होगी कि घर से चोर सारा सामान ले गए और घर का मालिक कहता रहा कि मैं सब कुछ जानता हूँ !

घर में चोर घुस आए। उनकी आहट से सेठानी नींद से जग गई। उसने निद्राधीन सेठ को जगाते हुए कहा कि 'जल्दी उठिए, घर में चोर आ गए हैं। सेठ गहरी नींद में थे। वह बोला कि 'तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हूँ।' सेठानी को आश्चर्य से सेठ पुनः खरटि भरे लगा। थोड़ी देर पश्चात् सेठानी ने सेठ को पुनः जगाते हुए सूचित किया कि 'चोरों ने तिजोरियों के ताले तोड़ लिए हैं। अब तो जल्दी कीजिए।' सेठ ने नींद में पुनः सेठानी को आश्वासन करते हुए कहा कि 'तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हूँ।'

चोर तिजोरियों से नगद, जेवरात आदि निकालकर उनकी पोटली बांधने लगे। सेठानी ने ताजा स्थिति में अवगत करते हुए सेठ को तीसरी बार फिर जगाने का प्रयास किया। पर सेठ इस बार भी वही शब्दावली 'तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हूँ' दोहराता हुआ करवट बदलकर सो गया।

अब चोर सारा धन-माल लेकर चलने की तैयारी में थे। सेठानी ने एक प्रयत्न और किया सेठ को जगाने का। परंतु उसे सफलता नहीं मिली। उसे सेठ का वही रटा-रटाया उत्तर मिला कि 'तू चिंता मत कर, मैं सब-कुछ जानता हूँ।' चोर सारा धन लेकर चलते बने। सेठानी के धैर्य का बांध टूट गया। उसने सेठ को झकझोर कर जगाते हुए तेज स्वर में कहा कि 'मैं समझ नहीं पाई कि आपके इस जानने का क्या अर्थ है चोर तो सारा घर खाली कर चले गए हैं।' अब सेठ की नींद टूटी। खाली तिजोरियों को देखकर सहसा उसके होश उड़ गए। फिर जरा स्वस्थ हुआ तो सेठानी से बोला कि 'चोर सारा धन ले गए और तूने मुझे तो जगाया.....' सेठ का कथन पूर्ण होने से पूर्व ही झुंझलाहट के स्वर में बोली कि 'मैंने तो आपको बार-बार जगाने की चेष्टा की थी, पर किसी की नींद भी तो टूटे।

बंधुओ! सचमुच जानना तभी सार्थक है, जब उसके अनुसार करणीय कार्य के प्रति व्यक्ति सजग हो जाए। मैंने साक्षरता और निरक्षरता की बात प्रसंगवश कह दी है। यदि इस बात पर ध्यान देकर आप इस दिशा में कुछ सक्रिय कदम उठाते हैं और निरक्षरता को मिटा देते हैं तो समाज का हित है, गौरव है, अन्यथा मैंने तो अपना कर्तव्य निभा दिया।

अब मैं पुनः अपने मूल विषय पर लौटता हूँ। सम्यग्दृष्टि प्राणी का श्रुत या मोक्ष-साधना में सहयोगी श्रुत सम्यक्श्रुत कहलाता है। इसके ठीक विपरीत मिथ्यादृष्टि प्राणी का श्रुत या मोक्षसाधना में बाधक श्रुत मिथ्याश्रुत है। आदिसहित श्रुत सादिश्रुत है। आदिरहित श्रुत अनादिश्रुत कहलाता है।

तत्त्व रूप में समस्त श्रुत अनादि ही है। परंतु किसी तत्त्व को हम अहिंसा के नाम से पुकारने लगे, किसी तत्त्व को सत्य के नाम से, किसी तत्त्व को ब्रह्मचर्य के नाम से, किसी तत्त्व को.....। अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य आदि शब्द सादि हैं पर तत्त्व अनादि हैं।

सांतह्रअंतसहित श्रुत सपर्यवसितश्रुत कहलाता है। अनंत-अंतरहित श्रुत को अपर्यवसितश्रुत कहते हैं।

बारहवां अंगह्रदृष्टिवाद गमिकश्रुत है। इसमें एक समान पाठ होते हैं। कुछ वर्णन किया जाता है और फिर कह दिया जाता है कि शेष पूर्वोक्त पाठ की तरह समझना चाहिए। इस प्रकार एक पाठ का संबंध दूसरे पाठ से जुड़ा रहता है। जिसमें एक समान पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है।

गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगीह्रआचारंग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती.....अंगप्रविष्ट श्रुत है।

गणधरों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों द्वारा रचे गए ग्रंथ अनंगप्रविष्ट श्रुत हैं।

कई बार प्रश्न पूछा जाता है कि आगम कितने मान्य हैं। इसका समाधान यही है कि द्वादशांगी मान्य है। इसके अतिरिक्त जो ग्रंथ द्वादशांगी से मिलते हैं, वे भी मान्य हैं। जो ग्रंथ द्वादशांगी से नहीं मिलते, वे मान्य नहीं हैं।

अवधिज्ञान

मति और श्रुत ज्ञान के विवेचन के पश्चात अब मैं अवधिज्ञान के बारे में बताना चाहूंगा।

आत्ममात्रापेक्षं रूपिद्रव्यगोचरमवधिः।

अवधानं अवधिः।

अवधानपूर्वक किए जानेवाले ज्ञान को अवधिज्ञान माना जाता है। यानी एकाग्रचित्त होने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अवधिज्ञान है। जब भी किसी अवधिज्ञानी को किसी बात का ज्ञान करना होता है, उसे तत्काल उस विषय पर अपने चित्तको एकाग्र करना होता है। एकाग्र हुए बिना वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

आप देखें, गौतम स्वामी अवधिज्ञानी थे। वे चाहते तो उन बहुत-से प्रश्नों को स्वयं ही समाहित कर सकते थे, जिनका समाधान उन्होंने प्रभु महावीर से प्राप्त किया। पर उन प्रश्नों का स्वतः समाधान प्राप्त करने के लिए चूंकि उन्हें बहुत अधिक एकाग्र होना पड़ता, बहुत अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ती, अतः उन्होंने वे प्रश्न सीधे भगवान के सामने प्रस्तुत कर अपनी जिज्ञासाओं को शांत कर लिया।

अवधिज्ञान एक अतीन्द्रिय ज्ञान है। यानी इस ज्ञान में इंद्रियों तथा मन की अपेक्षा नहीं रहती। अतीन्द्रिय शब्द किसी समय बहुत अपरिचित-सा लगता था। पर आजकल वैसी बात नहीं है, क्योंकि आज इस शब्द की वैज्ञानिक जगत में काफी चर्चा है। इस अतीन्द्रिय ज्ञान से संपन्न व्यक्ति वे सारी बातें केवल आत्मा के सहारे जान सकता है, जिन्हें हम इंद्रियों एवं मन के सहारे जानते हैं। पर इस संबंध में इतना अवश्य है कि वह (अवधिज्ञानी) समस्त पदार्थ-जगत को नहीं जान सकता। मात्र रूपी पदार्थों को ही जान सकता है। अरूपी पदार्थों को जानना उसकी ज्ञान-सीमा से पर है।

इस प्रकार अवधिज्ञान की परिभाषा हम यह कर सकते हैं—इंद्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के सहारे जो रूपी द्रव्यों का ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान के विभिन्न स्तर पर विभिन्न प्रकार हैं। मान लीजिए, किसी को हथेली में अवधिज्ञान हुआ। इस स्थिति में वह हथेली से ही

देख सकेगा। इसी प्रकार यदि किसी को पांव में अवधिज्ञान हुआ है तो वह उसीसे देख सकेगा। यह कभी संभव नहीं कि जिसे हथेली में अवधिज्ञान हुआ है, वह पांव से देख सके। एक स्थिति यह भी है कि जो व्यक्ति जितनी अधिक शक्ति खर्च करता है, एकाग्र होता है, उसको उतना ही अधिक अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्न पूछा जा सकता है, क्या सभी प्राणियों को अवधिज्ञान हो सकता है हां, हो सकता है, पर सबको समान रूप से नहीं होता।

भवप्रत्ययो देवनारकाणाम्।

देवों और नारकों का अवधिज्ञान भवहेतुक होता है। अर्थात् देवगति और नरकगति में पैदा होनेवाले प्राणियों को यह ज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है।

क्षयोपशमनिमित्तश्च शोषाणाम्।

मनुष्य और तिर्यचों के लिए यह ज्ञान क्षयोपशमसापेक्ष है।

इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। मनुष्य एवं तिर्यचों का अवधिज्ञान क्षयोपशमजन्य है, इसका अर्थ यह नहीं कि देवों और नारकों का यह ज्ञान क्षयोपशमजन्य नहीं है। अवधिज्ञान तो सभी का क्षयोपशम-जन्य ही होता है। अलबत्ता इतना अंतर अवश्य है कि देवों और नारकों का अवधिज्ञान पुरुषार्थसापेक्ष नहीं है। भवस्थिति के कारण उन्हें यह ज्ञान सहज रूप में प्राप्त होता है, जबकि मनुष्यों एवं तिर्यचों को यह ज्ञान पुरुषार्थ/प्रयत्न के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

अवधिज्ञान के संबंध में एक बात और बताकर मैं आज का प्रवचन समाप्त करना चाहूंगा। आज भी अवधिज्ञान हो सकता है। उसकी कोई नास्ति नहीं है। पर उसके लिए तीव्र पुरुषार्थ अपेक्षित है। इसके साथ ही यह भी संभव है कि किसी को अवधिज्ञान प्राप्त हो जाए और उसे मालूम ही न पड़े।

गंगाशहर

१६अगस्त १९७८

३४ : अवधिज्ञान के प्रकार

अवधिज्ञान की चर्चा कल मैंने प्रारंभ की थी। हमारी आत्मा में अनंत ज्ञान है। पर ज्ञानावरणीय कर्म ने उस ज्ञान को अच्छादित कर रखा है। जब ज्ञानावरणीय कर्म दूर हट जाता है तो वह ज्ञान उसी प्रकार प्रकट होता है, जिस प्रकार बादलों के दूर होने पर सूर्य।

अवधिज्ञान के प्रकार

अनुगामी-अनुगामी-वर्धमान-हीयमान-प्रतिपाति-अप्रतिपाति भेदादसौ षेढा।

अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं१. अनुगामी २. अनुगामी ३. वर्धमान ४. हीयमान ५. प्रतिपाति ६. अप्रतिपाति।

अनुगामी अवधिज्ञानी के साथ-साथ चलनेवाला अवधिज्ञान अनुगामी अवधिज्ञान है। जिस प्रकार व्यक्ति की आत्मा सदा उसके साथ ही रहती है, उसी प्रकार अनुगामी अवधिज्ञान भी अवधिज्ञानप्राप्त व्यक्ति के साथ-साथ चलता है।

अनुगामी अवधिज्ञानी के साथ-साथ ने चलनेवाला अवधिज्ञान अनुगामी अवधिज्ञान है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति को इस क्षेत्र में अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। पर ज्यों ही यह क्षेत्र छोड़कर वह दूसरे क्षेत्र में चला जाता है, उसका अवधिज्ञान समाप्त हो जाता है। पुनः जब वह इसी क्षेत्र में आएगा तो उसे अवधिज्ञान प्राप्त होगा।

वर्धमान जो अवधिज्ञान प्राप्त क्रमशः बढ़ता रहता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है। पैदा होते समय किसी का अवधिज्ञान बहुत सूक्ष्म रूप में हो सकता है, पर बढ़ते-बढ़ते वह इतना बढ़ सकता है कि संसार के सभी रूपी द्रव्यों को जान सकता है।

हीयमान प्राप्त होने के समय किसी का अवधिज्ञान बहुत बड़े रूप

में हो यकता है। पर यदि वह क्रमशः हीन होता जाता है तो उसे हीयमान अवधिज्ञान कहा जाता है।

प्रतिपातिह उत्पन्न होकर चला जानेवाला अवधिज्ञान प्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है। इस संदर्भ में आ पूछ सकते हैं कि एक बार प्राप्त हुआ अवधिज्ञान कैसा चला जाता है? इसे एक-दो उदाहरणों से समझें। एक व्यक्ति को मोहरों से भरा एक कलश मिला। वह अत्यंत प्रसन्न हुआ कि सहज रूप में ही लाखों का धन मिल गया। उसने उन मोहरों को बाहर निकाला। वे मिट्टी से गंदी हो रही थीं। उसने सोचाहपास में ही नाले में पानी बह रहा है। इन्हें वहां धो लूं। इस चिंतन के साथ वह मोहरों को धोने के लिए वहां आया। नाले में पानी बहुत थोड़ा सा था। उसका प्रवाह भी अत्यंत मंद था। उसने मोहरों को धोने के लिए उन्हें पानी में डाला। उन्हें डालते ही पीछे से पानी को तेज प्रवाह आया और सारी मोहरें उसमें बह गईं। वह ज्यों-का-त्यों हाथ मलता रह गया। इसी प्रकार कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति को अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उस ज्ञान के द्वारा वह समस्त लोक के पुद्गलों को जगमगाते हुए देखता है। सहसा इस दृश्य को देखकर वह हक्का-बक्का-सा रह जाता है। यानी उस ज्ञान को पचा नहीं पाता। इसका परिणाम यह होता है कि उसका अवधिज्ञान चला जाता है।

अप्रतिपातिह एक बार प्राप्त होने के पश्चात कभी वापस न जानेवाला अवधिज्ञान अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है।

मनःपर्यायज्ञान

अवधिज्ञान की चर्चा के पश्चात अब मैं मनःपर्यायज्ञान का विवेचन करूंगा।

मनोद्वय्यायप्रकाशि मनःपर्यायः।

मनोवर्गणा के अनुसार मानसिक अवस्थाओं को जो ज्ञान होता है, उसे मनःपर्यायज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर व्यक्ति दूसरों के मनोगत भावों को जान लेने की क्षमता अर्जित कर लेता है। यह भी अतीन्द्रिय/इन्द्रियातीत ज्ञान है। इस संदर्भ में इतना स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि मनःपर्यायज्ञानी वस्तुतः मनोवर्गणा को ही जानता है, मनोगत भावों को नहीं। मनोवर्गणा के विभिन्न पर्यायों के आधार पर अनुमान के द्वारा वह व्यक्ति के भावों को पकड़ता है। सीधे मनोभावों को

पकड़ने की शक्ति इस ज्ञान में नहीं होती।

प्रश्न हो सकता है कि मनोवर्गणा के पर्यायों को तो अवधिज्ञान से भी जाना जाता है, फिर मनःपर्यायज्ञान की विशेषता क्या है। इसका समाधान इतना-सा ही है कि अवधिज्ञान से मनोवर्गणा के अतिरिक्त समस्त लोक के पुद्गलों को जाना जाता है, जबकि मनःपर्यायज्ञानी सिर्फ मनोवर्गणा को ही जानता है। वह मनोवर्गणा का विशेषज्ञ होता है। आजकल आपको शरीर के विभिन्न अंगों के विशेष डॉक्टर मिलते हैं। और तो क्या, दाहिनी आंख और बायीं आंख के भी अलग-अलग विशेषज्ञ होने लगे हैं। अब आप ध्यान दें, आंख के बारे में शरीर के सभी अवयवों की चिकित्सा करनेवाला डॉक्टर भी जानता है और वह उसकी चिकित्सा करता है तथा एक नेत्र-विशेषज्ञ भी जानता है और वह उसकी चिकित्सा करता है। पर दोनों के जानने और चिकित्सा करने में काफी-अन्तर रहता है। आंख के बारे में जितना सूक्ष्म ज्ञान नेत्र-विशेषज्ञ भी जानता है और वह उसकी चिकित्सा करता है। पर दोनों के जानने और चिकित्सा करने में काफी अंतर रहता है। आंख के बारे में जितना सूक्ष्म ज्ञान नेत्र-विशेषज्ञ को होता है, उतना सूक्ष्म ज्ञान सामान्य डॉक्टर को नहीं हो सकता। इसलिए आंख की जैसी सफल चिकित्सा नेत्र-विशेषज्ञ कर पाता है, वैसी सफल चिकित्सा सामान्य डाक्टर नहीं कर पाता। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान को भी हमें इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

आ पढ़ेंगे, ज्ञान के इन दोनों प्रकारों में बड़ा कौन-सा है। इस प्रश्न का समाधान सापेक्ष है। अवधिज्ञान समस्त लोग के रूपी द्रव्यों को जान लेता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान केवल मनोवर्गणा को जान पाता है। इस अपेक्षा से अवधिज्ञान को बड़ा माना जाता है। पर मनःपर्यायज्ञान मनोवर्गणा को जितनी सूक्ष्मता से जान पाता है, उतनी सूक्ष्मता से अवधिज्ञान नहीं जान पाता। इस अपेक्षा से मनःपर्यायज्ञान बड़ा है।

किसी व्यक्ति का अवधिज्ञान अत्यधिक विकसित है और किसी व्यक्ति का मनःपर्यायज्ञान अत्यल्प विकसित हैं ऐसे में अवधिज्ञान बड़ा होगा। इसके विपरीत किसी व्यक्ति का मनःपर्यायज्ञान अत्यधिक विकसित है और दूसरे व्यक्ति का अवधिज्ञान अत्यल्प विकसित है। इस स्थिति में मनःपर्यायज्ञान बड़ा होगा।

तरतमता कितनी

पूछा जा सकता है कि क्या ज्ञान-ज्ञान में भी अंतर होता है। हां, एक व्यक्ति के ज्ञान में तथा दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में बहुत बड़ी तरतमता रह सकती है। शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के ज्ञान में उत्कृष्ट रूप में अनंतगुनाउ फर्क पड़ सकता है। यानी एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के ज्ञान से अनंत गुण भाग हीन और अनंत गुण भाग अधिक हो सकता है। आप ज्ञान की बात करते हैं, पर मैं तो कहता हूं कि साधु-साधु में अनंतगुना फर्क हो सकता है। एक साधु पूर्णिमा के चंद्रमा जैसा होता है और दूसरा द्वितीय जैसा। एक साधु अत्यंत पापभीरु होता है, एक-एक कदम जागरूकता से रखता है, वहीं दूसरा साधु प्रमादी भी हो सकता है, वह बार-बार स्खलन भी कर सकता है। किंतु इसके बावजूद वे दोनों साधु ही हैं। आप कहेंगे, इसका अति तो यह हुआ कि प्रमाद किया जा सकता है। नहीं, प्रमाद करने का मैं किंचित भी अनुमोदन नहीं कर रहा हूं। पर छद्मस्थता के कारण वह हो सकता है और होता है। इस तथ्य को भी नकार नहीं सकता।

प्रसंग अतिमुक्तक मुनि का

शैक्ष अतिमुक्तक मुनि की बात आपने सुनी होगी। देह-चिंता से निवृत्त होने के लिए जंगल गए। वहां नाला बह रहा था। साधुचर्या के कल्प्य-अकल्प्य की उन्हें विस्मृति हो गई। अपनी पात्रिका को वे कच्चे पानी में तैराने लगे। कुछ देर बाद स्थविर मुनि आए। अतिमुक्तक मुनि को कच्चे पानी में पात्रिका तैराते देखकर उन्होंने मन-ही-मन सोचा। भगवान ने कैसे अबोध बालक को दीक्षित कर लिया! इसे अभी तक साधुत्व का जरा भी भान नहीं है!! वे उपालंभ की भाषा में बोले। 'यह क्या कर रहे हो, तुम्हें कल्प्य-अकल्प्य का जरा भी ख्याल नहीं है।' अतिमुक्तक मुनि तत्काल संभले। उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ। स्थविर मुनि उन्हें अपने साथ लेकर भगवान महावीर के श्रीचरणों में उपस्थित हुए और व्यंग्य की भाषा में बोले। 'भंते! आपका यह छोटा शिष्य अतिमुक्तककुमार कितने भवों में मुक्त होगा?' भगवान तो सर्वज्ञ थे, अतः सारी घटना से परिचित थे और स्थविर मुनियों के व्यंग्यात्मक भावों से भी। भगवान ने कहा। 'स्थविरों! तुम लोग छोटे मुनि की इस प्रकार आशातना मत करो, प्रत्युत इसकी सेवा-शुश्रूषा करो। यह

इसी भव में मुक्ति जानेवाला है।’

भगवान की बात सुनकर स्थिवर मुनियों को अपने अशिष्ट व्यवहार के लिए घोर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अतिमुक्तक मुनि से तत्काल क्षमायाचना की। अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने का प्रयास किया है।

अधीर न बनें!

बंधुओ! आप लोग भी हमारे छोटे-छोटे साधु और साध्वियों की स्खलना देखकर यह सोच सकते हैं कि आचार्य ने इनहें कैसे दीक्षित कर लिया! मैं मानता हूँ, साध्वियां और साधु स्खलना कर सकते हैं। छोटी गलती कर सकते हैं और बड़ी गलती भी कर सकते हैं। किंतु इस स्थिति के बावजूद मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि आप इनकी त्रुटियों को देखकर अधीर न बनें। आपको ख्याल रहना चाहिए कि साधना की अपरिपक्वता की स्थिति में त्रुटियां होना अस्वाभाविक नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं प्रमाद को प्रोत्साहन दे रहा हूँ। प्रमाद को मेरा कोई प्रोत्साहन नहीं है। मेरा प्रोत्साहन तो सदा अप्रमाद को ही है। मैं प्रमाद करनेवाले साधु-साध्वियों को समय-समय पर सजग भी करता रहता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आज जो स्खलन कर रहे हैं, वे कल ठीक भी हो सकते हैं। ऐसे अनेक साधु और साध्वियां मेरे ख्याल में हैं, जिनका प्रारंभिक साधना-काल संतोषप्रद नहीं था, पर धीरे-धीरे वे बहुत ही तेजस्वी और आत्मस्थ बन गए।

गंगाशहर

१७ अगस्त १९७८

३५ : मनःपर्यायज्ञान के प्रकार

मनःपर्यायज्ञान की बात कल मैंने प्रारंभ की थी। आप आप उसके भेदों को समझें।

ऋजु-विपुलमती।

साधारणमनोद्रव्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः। तद्विशेषग्राहिणी मतिः विपुलमतिः।

मनःपर्यायज्ञान के दो प्रकार हैं १. ऋजुमति २. विपुलमति।

सामान्य रूप से मानसिक पुद्गलों को ग्रहण करनेवाली मति को ऋजुमति कहा जाता है। उनके विशेष पर्यायों को जाननेवाली मति विपुलमति कहलाती है।

एक व्यक्ति ने मन में चिंतन किया कि मैं अमुक-अमुक व्यापार करूंगा। मुझे इतना लाभ होगा।.....अब ऋजुमति केवल इतना जान पाता है कि अमुक व्यक्ति सोच रहा है कि उसे व्यापार में लाभ होगा। पर वह किस चीज का व्यापार करेगा, किस व्यापारी के साथ करेगा, कब करेगा, उसे कितना लाभ होने की आशा है, आदि-आदि बातों को वह नहीं जान सकता। ये सब बातें जानना विपुलमति के सीमा क्षेत्र में है। विपुलमति इन सब विशेष पर्यायों को ग्रहण कर सकता है।

दूसरा उदाहरण और देखें एक व्यक्ति ने घड़े का चिंतन किया। ऋजुमति जानेगा कि अमुक व्यक्ति ने घड़े के बारे में चिंतन किया है। पर घड़ा कितना बड़ा है, उसका रंग कौन-सा है आदि बातें विपुलमति ही जान पाता है, ऋजुमति नहीं है।

निर्मल मेधा

हम मनःपर्यायज्ञान की बात एक बार छोड़ें। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को ही लें। किसी-किसी व्यक्ति का मति व श्रुत ज्ञान इस स्तर तक

विकसित होता है कि वे बहुत जल्दी दूसरे के मनोभावों का काफी हद तक सही-सही अनुमान लगा लेते हैं। इसके विपरीत बहुत-से लोग ऐसे भी होते हैं, जिनका ज्ञान दूसरों के भावों को समझने में सफल नहीं हो पाता।

घोड़े के पैर कितने होते हैं

हमारे धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन हम पढ़ते हैं। उनकी मेधा बहुत निर्मल थी। दूसरों के मनोगत भावों को पढ़ने में वे बहुत ही दक्ष थे। एक बार एक भाई उनके पास आया और प्रश्न की भाषा में बोलाह 'स्वामीजी ! घोड़े के पैर कितने होते हैं ?' स्वामीजी ने प्रश्नकर्ता के मन में छुपी दुर्भावना को तत्काल भांप लिया। वे कुछ क्षण के लिए चिंतन की मुद्रा में मौन रहे और फिर गिनती करते हुए बोलेह 'दो आगे के और दो पीछे के, कुल चार।' स्वामीजी द्वारा उत्तर दिए जाने के इस असामान्य ढंग को देखकर वह भाई बोलाह 'महाराज! यह तो सामान्य-सा प्रश्न है। एक छोटा बच्चा भी इसका उत्तर दे सकता है। फिर इसके लिए इतना सोचने और पैर गिनने की कन्न्या जरूरत थी?' स्वामीजी ने कहाह 'यह ठीक है कि तुम्हारा प्रश्न सामान्य-सा है। छोटा-सा बच्चा भी इसको उत्तरित कर सकता है। इसलिए इस प्रश्न के उत्तर देने में मैं चिंतन न भी करता तो कोई कठिनाई नहीं थी। इन इस प्रश्न के उत्तर मैंने सोचकर और पैर गिनकर इसलिए दया कि यदि तुम इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह कर लो कि कनखजूरे के पैर कितने होते हैं, तो मुझे सोचना और गिनना पड़ेगा। इस स्थिति में इस प्रश्न का उत्तर तो झट दे दूं और दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सोचकर और पैर गिनकर दूं, तब दूसरे प्रश्न का उत्तर में अटक जाऊं, यह उचित नहीं लगेगा। किंतु जब मैं पहले प्रश्न का उत्तर भी सोचकर और पैर गिनकर देने में कोई अनुचित बात नहीं होगी। उस प्रश्न का उत्तर सोचने और पैर गिनने का भी मेरे सामने अवकाश रह जाएगा।' वह भाई स्वामीजी की बात सुनकर चकित रह गया। शर्मिदा होता हुआ-सा धीरे से बोलाह 'वस्तुतः कनखजूरे के पैर पूछकर आपको पराजित और अपमानित करने के अभिप्राय से ही मैंने घोड़े के पैर पूछे थे। पर आपने तो मेर मन की भावना पहले ही भांप ली।'

वस्तुतः आचार्य भिक्षु मात्र दूसरों के मनोगत भावों को जानने की

कला में ही नहीं, अपत्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का समग्र स्थिति को समझने का कला में बहुत ही माहिर थे। मैं मानता हूँ, जीवन की सफलता का यह बहुत ही महत्वपूर्ण पक्ष है। जो व्यक्ति इस कला को नहीं जानता, वह कभी सफलता का वरण कर सकता। प्रवचनकार को प्रवचन प्रारंभ करने से पूर्व परिषद पर गहराई से ध्यान दे देना चाहिए। कि सुननवाले किस-किस मत को माननेवाले हैं, परिषद विद्वानों की है या सामान्य लोगों की जो प्रवचनकार ऐसी बातों की ओर ध्यान दिए बिना प्रवचन करता है, वह चाहे कितना भी बड़ा विद्वान और शास्त्रज्ञ क्यों न हो, अपनी छाप नहीं छोड़ सकता, सफल प्रवचनकार नहीं बन सकता।

मन से जुड़ी है बुराई और अच्छाई

कुछ लोगों का चिंतन है कि प्रवचनकार को प्रवचन करते समय आंखें बंद रखनी चाहिए, क्योंकि आंखें खुली रहने से विकार आ सकता है। चिंतन के लिए हर व्यक्ति स्वतंत्र है। किसी को रोका नहीं जा सकता। पर मैं इस चिंतन से सहमत नहीं हूँ। वस्तुतः विकार का कारण आंखें नहीं, मन है। यदि ओखें ही विकार का कारण हों तो वे सबके प्रति विकार की दृष्टि से देख सकती हैं। पर आप ध्यान दें, उन्हीं आंखों से लोग अपनी माता को देखते हैं, साध्वियों को देखते हैं और उन्हीं आंखों से अपनी पत्नी को देखते हैं, वेश्या को देखते हैं। अब समझाना यह है कि यदि आंखें ही बुरी हैं तो माता और साध्वियों को तथा पत्नी और वेश्या को देखने की एक ही दृष्टि होती। पर यह कैसे संभव है कि माता और साध्वियों के प्रति कभी कोई विकार की भावना आ जाए? लेकिन उन्हीं आंखों से पत्नी या वेश्या को देखा जाता है तो विकार भी आ सकता है। जिन दांतों से बिल्ली अपने बच्चे को पकड़ती है, उन्हीं दांतों से वह चूहे को भी पकड़ती है। किंतु जब वह अपने बच्चे को पकड़ती है, तब उसे दांत लग तो क्यों जाए और जब वह चूहे को पकड़ती है, तब चूहा उसके दांतों से बच तो क्यों जाए!

वस्तुतः आंख, कान आदि इंद्रियां अपने-आपमें न बुरी हैं और न अच्छी। उनका काम तो अपने-अपने विषय को ग्रहण करना है। बुराई और अच्छाई तो मन में छुपी रहती है। यदि मन में राग-द्वेष है, विकार है तो आंखों की दृष्टि विकृत बन जाती है। काम विकृत सुनने लगते हैं। जीभ लोलुप हो जाती है।इसके विपरीत यदि मन में विकार या राग-

द्वेष नहीं है तो आंखें सम्यक देखती हैं, कान सम्यक सुनते हैं।.....कुछ लोग कह देते हैं कि यह जीभ बहुत बुरी है, क्योंकि बहुत-से पाप इसके द्वारा ही होते हैं। यह खाकर भी नुकसान करती है और बोलकर भी। यह ठीक है कि खाने और बोलने के असंयम से आदमी बहुत बड़ा नुकसान उठाता है। पर वस्तुतः इसमें जीभ का कोई भी दोष नहीं है। दोष मन के विकार का ही है। यदि मन में विकार/आसक्ति/लालुपता न हो तो जीभ कोई गलत कार्य नहीं करेगी। वह अप्रिय/कर्कश/अश्लील नहीं बोलेगी। अच्छी-से-अच्छी वस्तु सामने आने पर भी उसे आसक्तिपूर्वक नहीं खाएगी।

मिश्री गीली कैसे हो

किसी व्यक्ति ने एक संत को मिश्री का एक टुकड़ा दिया और कहाह 'इसे मुंह में रख लीजिए।' उसे मुंह में रख लिया। दो मिनट के बाद उस व्यक्ति उसे वापस निकालने के लिए कहा। उन्होंने तत्काल मिश्री का वह टुकड़ा मुंह से निकालकर उसके हाथ में थमा दिया। वह व्यक्ति यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि मिश्री का टुकड़ा थूक से गीला नहीं हुआ है! उसी भावधारा में उसने पूछाह 'यह क्या ! मुंह में रखी हुई मिश्री गीली क्यों नहीं हुई?' संत बोलेह 'मुंह में रखने से मिश्री गीली कैसे हो? वह तो खाने से गीली होती। तुमने मिश्री को मात्र मुझे मुंह में रखने के लिए कहा था, खाने के लिए नहीं। जब खाने की मेरी भावना ही नहीं थी, तब इसके लार कैसे लगती?'

बन्धुओ! यह बात शायद आपकी समझ में न आए, पर वस्तुतः असंभव नहीं है। जब मन विकाररहित होता है तो जीभ की क्या ताकत है कि वह किसी वस्तु के प्रति आसक्ति करे ?

आप परम ज्ञान हैं

आप देखें, इसी जीभ से एक आदमी मीठा बोलता है और दूसरा कर्कश। यदि जीभ ही बुरी हो तो यह कैसे संभव हो सकता है? बुढ़िया का इकलौता बेटा वर्षों से घर नहीं लौटा। वह बड़ी चिंतित थी। एक दिन जब वह पानी भरने के लिए कई तो उसने तालाब की पाल पर दो ज्योतिषियों को बैठे देखा। वह उनके समीप गई और विनम्रतापूर्वक बोलीह 'पंडितजी महाराज ! मेरा इकलौता पुत्र वर्षों पहले परदेश गया था। जब तक वापस घर नहीं आया। कृपया बताएं कि वह मुझे कब मिलेगा?'

इस प्रश्न के साथ ही उसके माथे पर रखा पानी से भरा घड़ा नीचे गिर कर चूर-चूर हो गया। ऐसा हुआ कि नहीं हुआ, उन दोनों ज्योतिषियों में से एक ज्योतिषी बोल उठाह 'तेरा बेटा मर गया।'

सुनते ही बुढ़िया के शरीर में आग-आग लग गई। उस ज्योतिषी को दुत्कारती हुई बोलीह 'मूर्ख ! हट जा मेरी आंखों के सामने से। मैं नहीं सुनना चाहती तेरे मुंह का एक भी शब्द। नहीं देखना चाहती एक क्षण के लिए भी तेरा मुंह।'

दूसरे ज्योतिषी ने भी अपना फलित किया। वह बुढ़िया को आश्वस्त करता हुआ मधुर शब्दों में बोलाह 'मां ! तू अधीर मत बन। बेशक तेरा बेटा अभी-अभी तुझे घर पर आया मिलेगा।'ह 'पंडितजी ! आप परमज्ञानी हैं। आपकी वाणी में अमृत है। मेरा बेटा मुझे अवश्य घपर मिलेगा।' वह उन्हीं पैरों अपने घर पहुंची। सचमुच उसका बेटा घर के बाहर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

बंधुओ! यह कहानी लंबी है। मैं अभी इसे लंबाना नहीं चाहता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जीभ कोई बुरी नहीं है। बुरा है मन में छुपा अज्ञान, वासना और राग-द्वेष।

इंद्रियां सावद्य हैं या निरवद्य

कुछ लोग तत्त्व-दृष्टि से इंद्रियों को सावद्य मानते हैं। परंतु आचार्य भिक्षु का अभिमत इससे सर्वथा भिन्न है। उनके पास जब यह चर्चा आई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इंद्रियां सावद्य नहीं, निरवद्य हैं। इंद्रियां क्षयोपशम भाव हैं, उदय भाव नहीं है।(यह कथन मात्र भाव इंद्रियों की अपेक्षा से है।) क्षयोपशम भाव अर्थात् आत्मा की उज्ज्वलता से हमें जो कुछ प्राप्त होता है, वह कभी भी सावद्य नहीं हो सकता। उदय भाव यानी कर्मोदय से मिलनेवाली चीज सावद्य होती है। उन्होंने इस विषय पर *इंद्रियवादी री चौपी* नाम से एक पूरे ग्रंथ की रचना कर दी। इस ग्रंथ में उन्होंने सटीक तर्कों के द्वारा अपनी बात को सत्यापित किया है। आप यदि इस ग्रंथ को पढ़ें तो यह महसूस करेंगे कि स्वामीजी का तात्त्विक ज्ञान कितना तलस्पर्शी और यथार्थता से परिपूर्ण था।

हां, तो मैं इस बात को पुनः कहता हूं कि इंद्रियां स्वयं बुरी नहीं हैं, बुरीहै मन की वासना, राग-द्वेष। इसलिए यदि बुराई से मुक्त होना है तो इंद्रियां को निष्क्रिय करने से कोई उद्देश्य फलित नहीं होगा। उद्देश्य

फलित होने का एकमात्र उपाय है कि व्यक्ति अपने अंतन का शोधन करे। अंतर-शोधन की प्रक्रिया का नाम हैहधर्म। धर्म में वह शक्ति है, जो व्यक्ति के अंतर को धोकर उसे बिलकुल निर्मल बना सकता है। यदि धर्म में यह शक्ति न हो तो उसकी कोई उपयोगिता या उपादेयता भी नहीं है। जैसा कि आप सब अनुभव करते हैं, धर्म इस दृष्टि से पूर्ण सक्षम है। अतीत में उसने आत्मशोधन का कार्य किया है, वर्तमान में कर रहा है और अनागतकाल में सदा करता रहेगा।

धर्म का शाश्वत मूल्य

इतिहास इस बात का साक्षी है कि आज तक धर्म को समाप्त करने के अनेकानेक प्रयत्न हुए। पर धर्म कभी समाप्त नहीं हुआ। हां, धर्म को समाप्त करनेवाले अवश्य धार्मिक बन गए या स्वयं समाप्त हो गए। मैं मानता हूँ, यह एक वास्तविक है। इसे कभी भी झुठलाया नहीं जा सकता। आप निश्चित मानें, जब तक धर्म अपने मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति करता रहेगा, तब तक अनंत काल में भी उसके अस्तित्व को कोई खतरा नहीं है। हां, एक स्थिति में खतरा अवश्य है और वह समाप्त भी हो सकता है। वह स्थिति हैजब व्यक्ति स्वयं अपने धर्म को छोड़ने लगे। जब स्वयं धार्मिक अपने आत्म-गुणों को छोड़कर वैभाविक गुणों में चला जाता है, दुराचरण करने लगता है, तब उसका धर्म अपने-आप समाप्त हो जाता है। पर संसार के किसी भी अन्य व्यक्ति की यह सामर्थ्य नहीं कि वह किसी के धर्म को समाप्त कर सके। दूसरा व्यक्ति अधिक-से-अधिक कुछ करे तो किसी को पीट सकता है। उसके हाथ-पैर तोड़ सकता है। उसे गोली से उड़ा सकता है।.....पर उसके आत्म-गुणों को छीन सके, यह उसकी मजाल से परे की बात है। इसलिए मैंने कहा कि धर्म शाश्वत है, धर्म की उपयोगिता शाश्वत है। संसार की कोई भी हस्ती उसके अस्तित्व को कभी मिटा नहीं सकती।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान का अंतर

मैंने प्रासंगिक तौर पर कुछ दूसरी-दूसरी बातें कह दीं। अब मैं पुनः मनःपर्यायज्ञान की चर्चा पर आता हूँ। मनःपर्यायज्ञान के दोनों प्रकारों को जाना इसके अनंतर आपको यह जानना है कि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में क्या अंतर है।

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयभेदारवधेर्भिन्नः ।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयहइन चार भेदों के द्वारा अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान के अंतर को समझाना चाहिए।

विशुद्धिकृत भेदहअवधिज्ञान जिन मनोद्रव्यों को जानता है, उन्हीं मनोद्रव्यों को मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धता से जानता है।

क्षेत्रकृत भेदहअवधिज्ञानी अंगुली के असंख्यातवें भाग से लेकर समस्त लोक को जानता है। मनःपर्यायज्ञान केवल 'मनुष्य-क्षेत्र' तक सीमित है।

स्वामिकृत भेदहअवधिज्ञान नारक, तिर्यच, देव और मनुष्य सभी को होता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान केवल मनुष्य को होता है। मनुष्य में भी पूर्ण संयमी मनुष्य यानी साधु को ही होता है।

आप कहेंगे कि यह क्या पक्षपत। नहीं, यह पक्षपात की बात नहीं है। यह पात्रता और अपात्रता के कारण है। मनः पर्यायज्ञान की स्थिति ही कुछ ऐसी है कि वह पूर्ण संयम के बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए जो प्राणी संयमी नहीं होते, उनके लिए यह ज्ञान अलभ्य है।

चूंकि साधु पूर्ण संयमी होता है, इसलिए वह मनःपर्यायज्ञान को प्राप्त करने का पात्र है। यों तो संयम गृहस्थ के जीवन में भी हो सकता है, पर उसका संयम अपूर्ण होता है, पूर्ण नहीं। हमारे यहां कहा गया है कि एक गृहस्थ हरदम एकांतर तप करता है, पौषध करता है, सामायिक करता है तथा एक साधु प्रतिदिन आहार करता है, फिर भी दोनों में तुलनात्मक दृष्टि से साधु बड़ा है। आप पूछेंगे, क्यों इसका समाधान यही है कि गृहस्थ चाहे कितनी भी तपस्या, साधना क्यों न करता हो, उसके पापकर्म आने का रास्ताहआश्रव-द्वार (अशुभ योग आश्रव) सदा खुला रहता है, जबकि उपवास न करते हुए भी साधु के लिए वह रास्ता बंद रहता है।

गृहस्थ सामायिक करता है। सामायिक में सावद्य प्रवृत्ति करने का त्याग होता है। आप कहेंगे, तब तो वह एक प्रकार से साधुहपूर्ण संयमी बन गया। नहीं, ऐसा नहीं होता। साधु और उसमें काफी अंतर है। सामायिक करने के उपरांत यानी सावद्य योग का त्याग करने के बावजूद उसके अप्रत्यक्ष रूप से पापकारी प्रवृत्ति चालू रहती है। उदाहरणार्थहकोई व्यक्ति सामायिक करने के लिए धर्मस्थान पर आता है। घर से चलने से

पूर्व वह रसोइए को आदेश देकर आता है कि मेरे लिए अमुक-अमुक पदार्थ बनाकर तैयार रखना। अब उसने आकर सामायिक कर ली। पर भोजन के निमित्त होनेवाली सावद्य क्रिया उसके अप्रत्यक्ष रूप से चालू रहती है। दूसरा उदाहरण देखेंहकिसी ने आज पौषध किया। पौषध में पूरे दिन की सामायिक होती है। एक दिन के लिए व्यक्ति साधुवत बन जाता है। मैं पूछना चाहता हूँ, यदि उस व्यक्ति के एक लाख रुपये ब्याज में दिए हुए हैं तो क्या वह उस दिन का ब्याज छोड़ देता है ? नहीं छोड़ता। कहने का सारांश यही है कि गृहस्थ के आश्रव-द्वार (अशुभ योग आश्रव) सदा खुला रहता है। इसलिए वह कभी पूर्ण संयमी नहीं हो सकता। पूर्ण संयमी साधु ही होती है।

आप कहेंगे, बत तो मनःपर्यवज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें भी साधु बनना होगा। हां, निश्चित ही बनना होगा। जब तक आप साधु नहीं बनेंगे, तब तक मनःपर्यायज्ञान आपके लिए अप्राप्य है।

मैं कई बार लोगों के मुंह से इस आशय की शब्दावली सुनता हूँ कि हमारे धर्म में तो गृहस्थ को भी मुक्ति है, पर जैन धर्म में उसके लिए साधु बनना जरूरी है। मैं मानता हूँ, यह एक प्रकार की भ्रांति है। इस भ्रांति को मिटाना चाहिए। यह ठीक है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु बनना अनिवार्य है। पर साधु बनने का अर्थ केवल साधुवेष धारण करना नहीं है। यह तो मात्र साधु का ऊपरी चिह्न है। हालांकि इसका भी कई दृष्टियों से महत्त्व है, तथापि निश्चय दृष्टि से तो साधुत्व का संबंध अंतर के भावों से है। जिस दिन अंतर में साधुवृत्ति आ जाती है, उस दिन निश्चय नय की दृष्टि से साधुत्व आ जाता है, भले व्यक्ति का ऊपरी वेष गृहस्थ का भी क्यों न हो। इसके विपरीत यदि किसी ने साधु का वेष स्वीकार भी कर लिया, पर अंतर के भावों में साधुवृत्ति नहीं आई, यानी पूर्ण संयम नहीं आया तो वह द्रव्य साधु ही है, भाव साधु नहीं। मुक्ति का संबंध भाव साधुत्व से है, न कि द्रव्य साधुत्व से। इसलिए इस बात को ठीक ढंग से समझ लेना चाहिए कि जैनधर्म में मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु बनना किस संदर्भ में अनिवार्य बताया गया है।

विषयकृत भेदहअवधिज्ञान का विषय समस्त रूपी द्रव्य और उनके अपूर्ण पर्याय हैं। मनःपर्यायज्ञान का विषय हैहउनका अनंतवां भागह

समनस्क जीवों की मनोवर्णना ।

मनःपर्यायज्ञान के संदर्भ में एक बात जानना और आवश्यक है। मनःपर्यायज्ञानी दूसरों के मनोभावों को जानता है, पर जाने हुए मनोभावों को वह सबके सामने अभिव्यक्त करे, यह कोई आवश्यक नहीं है। क्यों? यह इसलिए कि कई बार जानी हुई किसी बात को प्रकट करना अत्यंत खतरनाक होता है। उससे बहुत बड़े अहित की संभावना रहती है। इसीलिए भगवान महावीर ने साधु के लिए निदेश दियाह

बहुं सुणेई कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छई।

न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरिहई॥

ह साधु कानों से बहुत-सी बातें सुनता है, आंखों से बहुत-सी बातें देखता है, पर सुनी और देखी हुई सभी बातों का प्रकट करना उसके लिए उचित नहीं।

तात्पर्य यह कि वह मात्र उन्हीं बातों को प्रकट करे, जिनके प्रकट होने से किसी प्रकार के अहित होने की संभावना न हो। सचमुच यह बहुत ही गहरी बात है। सत्य बोलने में भी साधक को बहुत विवेक की अपेक्षा हैहइसका यह निदेशक-सूत्र है। हर साधक को इसे गहराई को समझाना चाहिए।

गंगाशहर

१८ अगस्त १९७८

३६ : केवलज्ञान

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान के इन चार प्रकारों का विवेचन मैंने पिछले प्रवचनों में किया। विवेचन के इसी क्रम में आज हमें केवलज्ञान का विवेचन करूंगा।

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम्।

जिस ज्ञान के माध्यम में समस्त द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात् बोध होता है, उसे केवलज्ञान कहा जाता है। यह भी अतीन्द्रियहृद्द्रियातीत ज्ञान है। अर्थात् इस ज्ञान में इंद्रियों और मन की कोई अपेक्षा या उपयोगिता नहीं रहती। हालांकि इंद्रियातीत ज्ञान तो अवधि और मनःपर्याय भी हैं, पर इनका ज्ञान-क्षेत्र सीमित है। अवधि समस्त लोक को जानता है, पर मात्र रूपी द्रव्यों की अपेक्षा से। अरूपी द्रव्यों को वह नहीं जान सकता। रूपी द्रव्यों के भी समस्त पर्यायों को वह नहीं जानता। इसीप्रकार मनःपर्यायज्ञान मनोवर्गणा को और उनके असमस्त पर्यायों को जानता है। साक्षात् मनोभावों को जानना भी उसकी सीमा से परे है। केवलज्ञान में ये सारी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। यह सीमातीत ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों एवं उनके समस्त पर्यायों का आत्मा के स्तर पर साक्षात् बोध करता है।

यहां एक बात और स्पष्ट कर लेनी चाहिए। यद्यपि श्रुतकेवली भी कवलज्ञानी की तरह ही संपूर्ण लोक के समस्त द्रव्यों एवं उनके सभी पर्यायों को जानते हैं, फिर भी दोनों में अंतर है। अंतर क्या है ? अंतर हैज्ञानने की पद्धति का। श्रुतकेवली सब द्रव्यों एवं पर्यायों को शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर जानते हैं और क्रमशः जानते हैं, जबकि केवलज्ञानी सब द्रव्यों एवं पर्यायों को साक्षात् जानते हैं और एक साथ जानते हैं।

केवलज्ञान कब प्रकट होता है

आप पूछ सकते हैं कि केवलज्ञान किस-किसमें होता है। मैं पूछता

हूँ, वह किस-किसमें नहीं होता? तत्त्वतः हर आत्मा में केवलज्ञान है। मेरे में भी है, आप सब में भी है और प्रत्येक और बादर-से-बादर और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म में भी है। पर मुश्किल यह है कि अभी तक वह अप्रकट अवस्था में है। आप पूछेंगे कि वह प्रकट कब होता है। वह प्रकट होता है वीतरागता की अवस्था में। जब आत्मा राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो जाती है, उस विशेषवस्था में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में जब व्यक्ति पूर्ण समता में अवस्थित हो जाता है तो केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। पूर्ण समता के अभाव में केवलज्ञान कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। केवलज्ञान की बात तो दूर, पूर्ण समता के बिना आदमी को अत्मिक सुख और शांति भी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि हम पूर्ण समता/वीतरागता को प्राप्त करें।

आप पूछेंगे कि क्या केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् आदमी व्यापार कर सकता है, राज्य का संचालन कर सकता है? युद्ध का मोर्चा संभाल सकता है, परिवार का संरक्षण कर सकता है, इन सारे प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हैं, क्योंकि व्यापार आदि में राग-द्वेष अवश्यंभावी है। स्थूल राग-द्वेष से चाहे कोई बच भी जाए, पर सूक्ष्म राग-द्वेष तो रहता ही है।

केवलज्ञानी में यथाख्यात चरित्र होता है। वे नितांत आत्मरक्षण करते रहते हैं। उनकी हर प्रवृत्ति आत्म-साधना की दृष्टि से ही होती है। प्रश्नों की इस शृंखला में कोई पूछ सकता है कि केवलज्ञानी भोजन करते हैं या नहीं, हास्य-रुदन करते हैं या नहीं, बीमार होते हैं या नहीं, चिकित्सा करवाते हैं या नहीं, उत्सुकता दिखाते हैं या नहीं।.....

इनमें से कुछ प्रश्नों के उत्तर 'हां' में हैं और कुछ प्रश्नों के उत्तर 'नहीं' में हैं। केवलज्ञानी भोजन करते हैं, बालते हैं, बीमार होते हैं, चिकित्सा करवाते हैं, पर वे उत्सुकता नहीं दिखाते, हंसते नहीं, रोते नहीं। इसका कारण यह है कि किसी बात को जानने की उत्सुकता दिखाना ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है। केवलज्ञानी के ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, इसलिए उत्सुकता नाम की कोई बात अविशष्ट नहीं रहती। उत्सुकता उसी को रहती है, जिसका ज्ञान पूर्ण रूप से अनावृत नहीं होता, केवलज्ञान के स्तर तक नहीं पहुंचता। इसी प्रकार हास्य, रुदन आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियां हैं। केवलज्ञानी मोहनीय

कर्म का सर्वथा क्षय कर देते हैं, इसलिए वे न कभी हंसते और न कभी रोते हैं।

केवलज्ञानी भय से भी सर्वथा मुक्त होते हैं। किसी प्रकार का भय उन्हें नहीं सताता। सामान्य मनुष्यों में तो भय की स्थिति बड़ी विचित्र होती है। लोग कहते हैं, भूत खाते हैं। पर मुझे तो लगता है कि लोगों को भूत नहीं, उनका स्वयं का भय ही खाता है। कल ही मुझे एक घटित घटना सुनाई गई।

किसी व्यक्ति के मन में एक विचार-तरंग उठी कि मुझे श्मशान में जाकर कील गाड़नी है। अपने विचार की क्रियान्विति के लिए वह श्मशान की ओर चल पड़ा। किंतु वह थोड़ी ही दूर गया होगा कि भय ने उसे घेर लिया। इसके बावजूद वह साहस बटोरकर श्मशान में पहुंचा। उसने झटपट कड़वे खोदा और उसमें कल गाड़ी इस समय तक वह इतना भयभती हो चुका था कि अब उसके लिए एक क्षण भी वहां खड़ा रहना कठिन हो गया। ज्यों ही उसने वहां से भागने के लिए कदम उठाया कि उसे महसूस हुआ कि किसी ने मुझे पकड़ लिया है। भयाक्रांत बना वह तत्काल बेहोश होकर वहीं गिर पड़ा। दो-तीन घंटों तक जब वह घर नहीं लौटा तो परिवारवालों तथा साथियों को बड़ी चिंता हुई है। वे लोग उसको खोजते-खोजते श्मशान-भूमि में पहुंचे। अब तक वह बेहोश ही पड़ा था। प्रयत्न किए जाने पर वह होश में आया। उससे पूछा गया कि 'तुम यहां क्यों पड़े हो ?' उसने कहा कि 'मुझे किसी ने पकड़ लिया है।' लोगों ने कहा कि 'किसी ने नहीं पकड़ा है, तुम्हारी कील ने ही तुम्हें पकड़ा है।' उसने आंखें उठाकर पीछे देखा तो सचमुच वहां कोई पकड़नेवाला नहीं था, केवल उसकी धोती कील में अटकी थी। कील गाड़ते समय वह उसमें अटक गई थी।

बंधुओ! ऐसी एक-दो नहीं, अपितु सैकड़ों-सैकड़ों घटनाएं प्रकाश में आती हैं। यह भय भी मोहनीय कर्म के उदय के कारण ही होता है। चूंकि केवलज्ञानी मोहनीय कर्म को सर्वथा क्षीण कर देते हैं, इसलिए उनको किसी प्रकार का भय नहीं सताता। इसी प्रकार रति-अरति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियां केवलज्ञानी में प्राप्त नहीं होतीं।

हमारा वह दिन धन्य होगा, जिस दिन हम केवलज्ञान को प्राप्त कर

लेंगे। पर यह केवल कामना करने से नहीं होगा, अपितु इसके लिए तीव्र पुरुषार्थ की अपेक्षा है। इस दृष्टि से हम सतत जागरूक हैं और उस दिशा में गतिशील भी हैं। सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ एक दिन अवश्य फलित होगा।

अज्ञान

ज्ञान का विवेचन करने के बाद अब मैं अज्ञान के बारे में बताऊंगा। अज्ञान शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है—ज्ञान का अभाव और मिथ्यात्वसहवर्ती ज्ञान। यहां जिस अज्ञान की चर्चा में कर रहा हूँ, वह मिथ्यात्वसहवर्ती ज्ञान है।

मति-श्रुत-विभङ्गा मिथ्यात्वसाहचर्यादज्ञानम्।

विभङ्ग अवधिस्थानीयः।

*मिथ्यात्वानां ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्योऽपि बोधो मिथ्यात्व-
सहचारित्वात् अज्ञानमुच्यते तथा चागसःह*

अविसेसिया मईहमइनाणं च मइअन्नाणं च।

विसेसिया समदिट्ठिस्स मई मइनाणं।

मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं।

यत्पुनर्ज्ञानाभावरूपं औदायिकमज्ञानं तस्य नात्रोल्लेखः।

*मनःपर्यायकेवलयोस्तु सम्यग्दृष्टिष्वेव भावात् आज्ञानानि त्रीणि
एव।*

जैसाकि मैं पहले बता चुका हूँ, जैनदर्शन में सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ही ज्ञान माना गया है। वही ज्ञान यदि मिथ्यादृष्टि के पास हो तो वह अज्ञान कहलाता है। वह आन ज्ञानावरणीय कर्म का उदय नहीं, अपितु क्षयोपशम ही है, पर अपात्र के योग से वह कुत्सित हो जाता है। इसीलिए हमारे यहां पात्र-अपात्र के विवेक को बहुत महत्व दिया गया है। हम व्यवहार में भी देखते हैं कि अच्छी-से-अच्छी वस्तु भी गलत हाथों में जाने से अहितकर हो जाती है, खतरनाक साबित होती है। लोग तलवार से अपनी रक्षा करते हैं पर वही तलवार जब बंदर के हाथ में चली जाती है तो उसका परिणाम बड़ा भयंकर आ सकता है।

पंडितोऽपि वरं शत्रुः.....

राजा ने बंदर को अपना अंगरक्षक नियुक्त किया। एक दिन राजा

सो रहा था और बंदर नंगी तलवार लिए पास में बैठा था। उसने देखा, एक मक्खी राजा के गले पर बैठी है। उसने उसे उड़ाने का एक से अधिक बार प्रयास किया। पर वह उड़ी नहीं। बंदर को गुस्सा आ गया। उसने गले पर बैठी मक्खी पर तलवार से वार करने के लिए हाथ ऊंचा उठाया। संयोग से उसी समय एक चोर राजा के कक्ष में घुसा। उसने यह दृश्य देखा तो वह चोरी की बात तो भू गया और झट पीछे से जाकर उसने बंद का हाथ पकड़ा। इतने में राजा के आंखें खुली गईं। महल में चोर आया जान उसने तत्क्षण उसे पकड़ने का आदेश दिया। चोर ने कहाह 'यह ठीक है कि मैं चोर हूँ और चोरी की नीयत से ही यहां आया था, पर यहां मैंने एक कौड़ी की भी चोरी नहीं की है, प्रत्युत आपको जीवनदान दिया है।' राजा ने साश्चर्य पूछाह 'मुझे जीवनदान कैसे ?' चोर ने बतायाह 'यहां जो आपके गले पर मस्सा है, उसको मक्खी मानकर आपके इस अंगरक्षक ने आपके गले पर तलवार चलाने की तैयारी की थी। पर संयोग से मैंने देख लिया और इसका हाथ पकड़ लिया। परिणामतः आप बच गए। यदि मैं इस कार्य में एक क्षण की भी देरी कर देता तो न तो आप आज होते और न ही मुझे बंदी ही बनाया जाता है।'

राजा ने वस्तुस्थिति का अंकन किया और सहसा उसके मुंह से निकल पड़ाह **पंडितोऽपि वरं शनुः, न मूर्खो हितकारकः।** चोर को पुरस्कृत कर छोड़ दिया गया।

बंधुओ! यही स्थिति ज्ञान की है। ज्ञान भी कुसंगति से, मिथ्यादृष्टि के पास जाने से अज्ञान बन जाता है। इसलिए अपेक्षित है कि व्यक्ति सबसे पहले अपनी दृष्टि को सम्यक बनाए। सम्यग्दृष्टि होने के बाद ही वह ज्ञान-प्राप्ति का सच्चा अधिकारी बनता है।

अज्ञान के तीन प्रकार हैंह

मति अज्ञानह मिथ्यात्वी का मति ज्ञान, मति अज्ञान कहलाता है।

श्रुत अज्ञानह मिथ्यात्वी का श्रुत ज्ञान, श्रुत अज्ञान कहलाता है।

विभंग अज्ञानह मिथ्यात्वी का अवधि ज्ञान, विभंग अज्ञान कहलाता है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनःपर्याय अज्ञान और केवल अज्ञान

क्यों नहीं होते। इसका समाधान यह जानना चाहिए कि मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान मात्र सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को प्राप्त होते हैं, मिथ्यादृष्टि को नहीं, जबकि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि दोनों को समान रूप से प्राप्त होते हैं। इस कारण मनःपर्याय अज्ञान और केवल अज्ञान नहीं होते।

गंगाशहर

१९ अगस्त १९७८

३७ : दर्शन और उसके प्रकार

ज्ञान और अज्ञान की चर्चा के पश्चात अब हम दर्शन पर विचार करेंगे। दर्शन शब्द मत और देखना (अवबोध) दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। प्रस्तुत संदर्भ में हम जिस दर्शन शब्द की बात कर रहे हैं, वह देखने के अर्थ में है।

सामान्यग्राहित्वाद् दर्शनमनाकारः।^१

जैसाकि मैं पहले ही बता चुका हूँ, दर्शन वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करता है। वह सामान्य रूप से वस्तु का ज्ञान करता है। उसके विस्तारह्रभेद-प्रभेद में नहीं जाता। इंद्रिय से पदार्थ का संयोग होने के बाद जो प्रथम क्षण का अस्पष्ट अवबोध होता है, वह दर्शन है। इसमें वस्तु का स्पष्ट आकार समाने नहीं आता। इसलिए इसे अनाकार उपयोग कहा जाता है। उसके पश्चात वह वस्तु क्या है, कैसी है, कब की है, किसकी है आदि-आदि बातों का समाधान होने से उसका स्पष्ट चित्र सामने

१. जैनसिद्धांतदीपिका के संशोधित तृतीय संस्करण (सन १९९२) में अमुक सूत्र के स्थान पर निम्नांकित सूत्र रखा गया हैह

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्य द्रव्यस्य उत्पादव्ययत्मकं पर्यायं गौणीकृत्य ध्रौव्यस्य।

ग्राहकं दर्शनं अनाकार उपयोग। इत्युच्यते। निर्विकल्प उपयोग इत्यस्य पर्यायः।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य के उत्पाद-व्ययरूप पर्याय को गौण कर केवल ध्रौव्य धर्म की ग्रहण करनेवाला दर्शन अनाकार उपयोग कहलाता है। इसका दूसरा नाम हैहनिर्विकल्प उपयोग।

दर्शन यानी अनाकार उपयोग की पूर्व व्याख्या और इस नई व्याख्या में कोई मौलिक अंतर नहीं है। मात्र विवक्षाभेद है। इस विवक्षा में अनाकार उपयोग को सामान्यग्राही ज्ञान के स्थान पर ध्रौव्यात्मक ज्ञान के रूप में व्याख्यायित किया गया है।

आता है। यह सब जानना साकार उपयोग है। साकार उपयोग को ज्ञान कहा गया है।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि ।

चक्षुषः समान्यबोधः चक्षुर्दर्शनम् ।

शेषन्द्रियमनसोरचक्षुर्दर्शनम् ।

अवधिकेवलयोश्च अवधिकेवलदर्शनि ।

मनःपर्यायस्य मनसःपर्यायविषयत्वेन सामान्यबोधाभावान्न दर्शनम् ।

दर्शन के चार भेद हैं १. चक्षुदर्शन २. अचक्षुदर्शन ३. अवधिदर्शन ४. केवलदर्शन ।

चक्षुदर्शनहचक्षु के द्वारा जो सामान्यरूप से देखा जाता है, वह चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शनहचक्षु को छोड़कर शेष इंद्रियों एवं मन के द्वारा किए गए सामान्य बोध का अचक्षुदर्शन कहा जाता है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि आंखों के द्वारा देखने की बात तो बुद्धिगम्य है, पर दूसरी इंद्रियों एवं मन के द्वारा देखने की बात का क्या तात्पर्य। आंखों से देखने की बात तो बिल्कुल स्पष्ट है। पर थोड़ी-सी गहराई से ध्यान देने से पाएंगे कि हम केवल आंखों से नहीं, अपितु दूसरी-दूसरी इंद्रियों एवं मन से भी देखते हैं। दाहरणार्थहघोर अंधकार में एक व्यक्ति के हाथ में नींबू आया। हाथ में आते ही वह जान लेता है कि यह नींबू है। यह नींबू होने का ज्ञान उसने आंखों से नहीं, बल्कि स्पर्शनिद्रिय से किया। इसी प्रकार चखकर, सूंघकर (रसनैन्द्रिय व घ्राणैन्द्रिय से) भी उसका ज्ञान किया जा सकता है।

अभी बाहर स्कूटर की खट-खट की आवाज हो रही थी। क्या इसे हमने आंखों से देखकर जाना? नहीं, बिल्कुल नहीं। हमने यह दर्शन कानों से आवाज सुनकर किया।

मैंने मन से प्रवचन सुना

दिल्ली में एलिजाबेथ नाम एक विदेशी महिला मेरे प्रवचन में आई। हिन्दी भाषा वह नहीं समझती थी। पर मैंने देखा कि मेरा प्रवचन सुनकर वह भाव-विभोर हो रही है। प्रवचन-समाप्ति के पश्चात मैंने उससे

पूछाह 'क्या तुमने प्रवचन सुना ?' स्वीकृतिसूचक सर हिलाते हुए उसने कहाह 'हां' तब मैंने पूछाह 'तुम मेरी भाषा तो बिलकुल नहीं समझती, फिर प्रवचन कैसे सुना ?' वह बोलीहमैंने कानों से नहीं, अपितु मन से प्रवचन सुना। आप अपने हाथों से, आंखों से, चेहरे से जो भाव प्रदर्शित कर रहे थे, वे मैं सब समझ रही थी।'

मैं नहीं भटकूंगा, तुम्हीं भटकोगे

आपने आपने देखा कि कुछ-कुछ अचक्षु व्यक्ति जैसा जानते हैं और देखते हैं, वैसा बहुत-से आंखवाले भी न जान सकते हैं और न ही देख सकते हैं। छपर (चूरु) में शेरा नाम का एक अचक्षु भाई था। वह घर पर ऊंट रखता और उस पर लोगों को सारी करवाकर अपनी आजीविका चलाता। अचक्षु होने के बावजूद उसका अचक्षुदर्शन हतना प्रबल था कि वह लोगों को बिलकुल ठीक स्थान पर पहुंचाता। कभी-कभी परीक्षा लेने के लिए दूसरे-दूसरे लोग उसके साथ हो जाते। वे उसको गलत मार्ग पर ले जाने का प्रयास करते। पर वह तत्काल अपना ऊंट सही रास्ते पर मोड़ लेता। लोग कहतेह 'शेरा ! तू उधर मत जा, कहीं भटक जाएगा।' वह कहताह 'मैं नहीं भटकूंगा, तुम्हीं भटकोगे। मैं बिलकुल सही रास्ते पर जा रहा हूं।' आखिर उन्हें हार माननी पड़ती है।

सुजानगढ़वासी गणेशमलजी कठोटिया को आमें से अनेक व्यक्तियों ने देखा होगा। बहुत बचचन से ही वे अचक्षु हो गए थे। पर उनका अचक्षुदर्शन अत्यंत प्रबल था। विशाल परिवार का सारा लेखा-जोखा वे रखते थे। एक बार जिस मकान से होकर गुजर जाते, उसका पूरा-पूरा चित्र उनके ध्यान में आ जाता।

इस प्रकार के दो नहीं, अपितु सैकड़ों उदाहरण हमें देखने को मिल सकते हैं, जिनमें बिना आंखों के भी व्यक्ति बहुत-कुछ देखता है, जानता है। यह अचक्षुदर्शन है।

अवधिज्ञानहअवधि के सामान्य बोध को अवधिदर्शन कहा जाता है।

केवलदर्शनहकेवल का सामान्य बोध केवलदर्शन कहलाता है।

मनःपर्याय दर्शन क्यों नहीं

यहां एक बात और जान लेने की है। ज्ञान के पांच प्रकार हैं, पर दर्शन के चार ही प्रकार हैं। इसका कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान,

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, मन के पर्यायों को, उसकी विभिन्न अवस्थाओं को जानता है। पर सामान्य रूप से मन का ग्रहण नहीं करता। चूंकि दर्शन सामान्यग्राही है, विशेषग्राही नहीं है, अर्थात् विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान करना उसका काम नहीं है, इसलिए मनःपर्याय ज्ञान ही है, मनःपर्याय दर्शन नहीं।

इंद्रिय

दर्शन का विवेचन करने के बाद अब मैं इंद्रिय के बारे में बताऊंगा। आप कह सकते हैं कि इंद्रियों से तो हम बिल्कुल परिचित हैं, हरदम हम उनका उपयोग करते हैं, फिर उनके बारे में बताने का क्या अर्थ हो सकता है। यह ठीक है कि आप इंद्रियों से परिचित हैं, उनका उपयोग भी करते हैं, पर मैं मानता हूँ कि आपका इस बारे में ज्ञान इतना स्थूल है कि परिचित होकर भी आप उनसे अपरिचित हैं।

प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम् ।

*प्रतिनियताः शब्दादिविषया गृह्यन्ते येन तत् प्रतिनियतार्थ-
ग्रहणमिन्द्रियं भवति ।*

इंद्रिय शब्द इंद्र से बना है। इंद्र का अर्थ हैह्रस्वामी। यानी आत्मा। इंद्र का चिह्न इंद्रिय कहलाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि आत्मा का जो चिह्न है या जिसके द्वारा आत्मा को पहचाना जाता है, वह इंद्रिय है। दूसरे शब्दों में अपने नियत विषय (शब्द, रूप आदि) का ज्ञान करनेवाली आत्म-चेतना की इंद्रिय कहते हैं।

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणी ।

इंद्रियां पांच हैं१. स्पर्शन २. रसन ३. घ्राण ४. चक्षु ५. श्रोत्र ।

पांच इंद्रियां एवं मनहइन छहों में आत्मा को कार्य विभक्त है। स्पर्श का काम स्पर्श इंद्रिय करती है। रस-ग्रहण का कार्य रसन इंद्रिय सम्पादित करती है। गंध ग्रहण करने का कार्य घ्राणेंद्रिय रूप ग्रहण करने का कार्य चक्षुरिंद्रिय और शब्द ग्रहण करने का कार्य श्रोत्रेंद्रिय करती है। चिंतन करने का काम मन द्वारा होता है। ये सभी अपने-अपने कार्यक्षेत्र में ही व्याप्त हैं। अपनी-अपनी सीमा का अतिक्रमण कर दूसरे-दूसरे की सीमा में नहीं आते। यानी स्पर्शन कभी चक्षु का काम नहीं करती और चक्षु कभी स्पर्शन का काम नहीं करती।.....यह कार्य-क्षेत्र का बंटवारा

इतना सुंद और व्यवस्थिति है कि किसी को किसी के प्रति शिकायत नहीं है। शिकायत वहीं होती है, जहां बंटवारे में पक्षपात की बू आती है।

सेठ के चार बेटे थे। शरीर छोड़ने से पूर्व उसने गुप्त प्रणाली से चारों पुत्रों में अपनी सारी चल-अचल सम्पत्ति का सुव्यवस्थित बंटवारा कर दिया। बेटों से कह दिया कि मकान के चारों कोनों में चार घड़े गड़े हुए हैं। मेरी मृत्यु के पश्चात उन्हें निकाल लेना और अपने-अपने नाम का घड़ा ले लेना।

सेठ का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात चारों भाई परस्पर मिले और उसके निदेशानुसार चारों ने मकान की चारों दिशाओं में गाड़े गए चारों घड़ों को बाहर निकाला। सबसे बड़ा भाई के नाम जो घड़ा निकला, उसमें कागज के कुछ टुकड़े थे। अनुक्रम से दूसरे भाई के हिस्से में जो घड़ा था, उसमें मिट्टी के ढेले निकले। तीसरे भाई के घड़े में हड्डियों के टुकड़े पाए गए। सबसे छोटा भाई का घड़ा भी खोला गया। तीनों भाइयों को अपने पिता के इस व्यवहार पर बड़ा रोष हुआ कि उन्होंने सारे कीमती रत्न-जवाहरात सबसे छोटे भाई को दे दिए हैं। तीनों ने सोचा, बुढ़ापे में उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, इसलिए उन्होंने इतना पक्षपातपूर्ण बंटवारा किया है। उन्होंने छोटे भाई से स्पष्ट कह दिया कि पिताजी ने चाहे यह धन तुम्हें दे दिया है, पर हमें उनका यह पक्षपातपूर्ण बंटवारा कभी मान्य नहीं है। हम इस धन को बराबर बंटवारा करेंगे। छोटे भाई का तर्क था कि पिताजी ने अपनी इच्छा से जो कुछ कर दिया, वह अंतिम निर्णय है उनके निर्णय को बदलने का हमें कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार संघर्ष खड़ा हो गया और इस स्तर पर खड़ा हो गया कि दोनों तरफ से न्यायालय में जाने की पूरी तैयारी भी कर ली गई।

उसी शहर में दिवंगत सेठ का एक घनिष्ठ मित्र भी रहता था। उसने अपने मित्र के पुत्रों में धन के बंटवारे को लेकर होनेवाले संघर्ष की बात सुनी। उसके मन में विचार आया, मेरे मित्र बहुत ही समझदार था। वह कभी ऐसा बंटवारा नहीं कर सकता, जिससे उसके मरने के पश्चात संघर्ष की स्थिति पैदा हो। हो-न-हो अवश्य कुछ रहस्य है और वे चारों भाई इस रहस्य को समझ नहीं पाए हैं। इस कारण संघर्ष की नौबत आई है। मुझे सारी स्थिति को जानना चाहिए। इस चिंतन के साथ वह अपने दिवंगत मित्र के घर और और उसने चारों भाइयों से स्थिति

की जानकारी ली। सारी बात सुनते ही उसका अंदाज बिलकुल सही साबित हुआ। उसने चारों भाइयों को अपने पास बिठाकर कहाह 'तुम बिना मतलब ही आपस में लड़ रहे हो और पिता पर पक्षपात का आरोप लगा रहे हो। तुम्हारे बाप ने तुम चारों में बिलकुल बराबर बंटवारा किया है। मैं अभी सारा रहस्य समझाकर तुम्हारा संघर्ष तुम्हारी सहर्ष सहमतिपूर्वक समाप्त कर दूंगा।' उसने सबसे बड़े भाई से कहाह 'तुम्हारे घड़े में कागज मिले हैं। इसका अर्थ है कि ब्याज के धंधे में जितना लेना बाकी है, वह सब तुम्हारा है। बताओ, तुम्हारी दुकान में अभी कितना लेना है?'

सबसे बड़ा भाई वर्षों से लेन-देन का काम संभालता था। उसे सारा लेन-देन का काम संभालता था। उसे सारा लेन-देन ख्याल में था ही। अतः उसने हिसाब लगाकर कहाह 'लगभग पांच लाख का।'

वह भाई जमीन-जायदाद का काम देखता था। उसने सारी जमीन-जायदाद पिता के उस मित्र को बताई। वृद्ध ने पूछाह 'इसकी अनुमति कीमत कितनी है?' उस भाई ने उसकी अनुमानित कीमत लगाकर कहाह 'लगभग पांच लाख रुपये।'

दो भाइयों को तो अब अपने पिता की निष्पक्षता का विश्वास जमने लगा। पर तीसरा भाई, अब तक भी बिलकुल आश्वस्त नहीं था। उसके घड़े में हड्डियों के टुकड़े निकाले थे। वृद्ध ने उससे पूछाह 'तुम्हारे पिता के पशु-धन कितना है?'

वह भाई पशुओं की देखभाल करता था। उसने तत्काल अपने ऊंटों, बैलों गायों आदि की अनुमति कीमत लगाकर कहाह 'लगभग पांच लाख रुपये का।'

वृद्ध ने अब चौथे घड़े के रत्न-जवाहरात बाहर निकाले और सबकी सहमति से उनकी कीमत का अंकन किया। वे भी लगभग पांच लाख रुपयों के निकले। अब वृद्ध ने पूछाह 'बोलो, तुम्हारे पिता ने धन का बंटवारा निष्पक्ष किया था या पक्षपातपूर्ण?'

बड़े तीनों भाइयों के पास अब बोलने को कुछ भी नहीं था। तीनों उस वृद्ध की रहस्योद्घाटिनी प्रतिभा के प्रति नत थे। मूर्खता एवं अज्ञानवश अपने पिता के प्रति मन व वाणी पर आए दुर्भाव व दुर्वचनों के प्रति उनके मन में बड़ी ग्लानि हुई। चारों भाइयों न सारा संघर्ष

पारस्परिक पूर्ण सहमति से अपने पिता के उस वृद्ध मित्र के समक्ष सहर्ष समाप्त कर दिया।

बंधुओ! वे चारों भाई मूर्खतावश अने बंटवारे के लिए ऐसा संघर्ष कर सकते हैं, पर इंद्रियां इतनी मूर्ख नहीं हैं। आत्मा द्वारा किए गए कार्यों के बंटवारे के प्रति वे पूर्ण आश्वस्त हैं। इसलिए वे अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में व्याप्त रहती हैं।

गंगाशहर

२१ अगस्त १९७८

३८ : इंद्रिय के प्रकार

इंद्रिय की चर्चा कल में प्रारंभ की थी। उस चर्चा के अंतर्गत स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र-इन पांच इंद्रियों का संक्षिप्त विवेचन आपने सुना। आज उसी चर्चा को मैं और आगे बढ़ाऊंगा।

जैसा कि कल बताया गया, इंद्रिय आत्मा को पहचानने का चिह्न है। अर्थात् विभिन्न इंद्रियों द्वारा आत्मा को जाना जाता है। पर इस संदर्भ में इतना और स्पष्ट कर लेना चाहिए कि पांचों इंद्रियां अधूरी हैं। यानी पांचों में से कोई भी एक सभी विषयों का ज्ञान नहीं कर सकती। स्पर्शन केवल स्पर्शन का कार्य कर सकती है, घ्राण, चक्षु, रसन एवं श्रोत्र का नहीं। चक्षु रूप को जान सकती है, पर शब्द, गंध, रस, और स्पर्श को ग्रहण करना उसके सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसी प्रकार सभी इंद्रियां अपने-अपने विषयों का ज्ञान कर सकती हैं। समस्त विषयों का पूरा ज्ञान करने में तो केवल आत्मा समर्थ है।

संसार के सभी प्राणी इंद्रियसम्पन्न होते हैं। कोई भी प्राणी इसका अपवाद नहीं हो सकता। पर प्राणी-प्राणी में इंद्रियों की प्राप्ति में काफी तरतमता होती है। इस दृष्टि से संसार के सारे प्राणी पांच भागों में विभक्त किए जा सकते हैं १. एकेंद्रिय २. द्वीन्द्रिय ३. त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५. पंचेंद्रिय

एकेंद्रिय एक इंद्रियवाले प्राणी।

द्वीन्द्रिय द्विन्द्रियवाले प्राणी।

त्रीन्द्रिय त्रीन्द्रियवाले प्राणी।

चतुरिन्द्रिय चार इंद्रियवाले प्राणी।

पंचेंद्रिय पांच इंद्रियवाले प्राणी।

जिस प्राणी में एक, दो, तीन, चार और पांच जितनी इंद्रियां प्राप्त

होती है, उस क्रम से वह ऐकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेंद्रिय कहलाता है। पृथ्वी, पानी, अग्नि वायु और वनस्पति के सभी प्राणी ऐकेंद्रिय हैं। लट, शंख, आदि द्वीन्द्रिय प्राणी हैं। त्रीन्द्रिय की कोटि में चींटी, मकोड़ा, जूं आदि प्राणी आते हैं। मक्खी, मच्छर, बिच्छू टिड्डी आदि प्राणी चतुरिन्द्रिय हैं। नारक, देवता, मनुष्य तथा हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि पशु पंचेंद्रिय हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ऐकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणियों में इंद्रियों की प्राप्ति का क्रम क्या है। इनमें से कोई भी एक, दो तीन और चार इंद्रियां प्राप्त हो सकती हैं या इसका कोई निश्चित क्रम है।

यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। इंद्रियों को प्राप्ति का एक बिलकुल निश्चित क्रम है। इसमें त्रिकाल में भी कभी कोई अंतर नहीं होता। ऐकेंद्रिय प्राणी के एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय में क्रमशः रसन, घ्राण और चक्षु इंद्रियां और बढ़ जाती हैं। यानी द्वीन्द्रिय में स्पर्शन और रसन, त्रीन्द्रिय में स्पर्शन, रसन व घ्राण तथा चतुरिन्द्रिय में स्पर्शन, रसन, घ्राण व चक्षु इंद्रियां होती हैं। पंचेंद्रिय में पांचों ही इंद्रियां प्राप्त होती हैं।

स्थूल रूप में इंद्रियों को आपने जाना। अब इन्हें सूक्ष्मता से भी पहचानें।

द्रव्यभावभेदानि ।

प्रत्येक इंद्रिया के दो-दो प्रकार हैंह१. द्रव्य इंद्रिय २. भाव इंद्रिय ।

द्रव्य इंद्रिय

इंद्रिय का पौद्गलिक आकार और अपने विषय को ग्रहण करने की पौद्गलिक शक्ति को द्रव्य इंद्रिय कहते हैं। दूसरे शब्दों में अवास्तविक या काल्पनिक इंद्रिय को द्रव्य इंद्रिय कहा जाता है।

निर्वृत्पकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।

कर्णशष्कुल्यादिरूपा बाह्या, कदम्बकुसुमादिरूपा चाभ्यन्तरीय पौद्गलिक आकाररचनाहनिर्वृत्तीन्द्रियम् ।

तत्र या श्रावणद्युपकारिणी शक्तिःह्रतदुपकरणेन्द्रियम् ।

द्रव्य इंद्रिय के दो प्रकारह१. निवृत्ति इंद्रिय २. उपकरण इंद्रिय ।

निवृत्ति इंद्रियहइंद्रिय के बाह्य एवं अभ्यांतर पौद्गलिक शारीरिक

संस्थानह्रआकार को निर्वृत्ति इंद्रिय कहते हैं। जैसेह्रश्रोत्रेंद्रिय का बाहरी आकार कर्णशष्कुली सरीख तथा आंतरिक आकार कदम्ब के फूल जैसा होता है। यह निर्वृत्ति इंद्रिय है। इसी प्रकार प्रत्येक इंद्रिय का बाह्य एवं आंतरिक शारीरिक संस्थान होता है।

उपकरण इंद्रियह्रनिर्वृत्ति में स्थिति अपने विषय का ज्ञान करने में सहायक या उपकारक पौद्गलिक शक्ति उपकरण इंद्रिय कहलाती है।

हमें यह बात ख्याल में रखना चाहिए कि निर्वृत्ति इंद्रिय तब तक अपना काम नहीं कर सकती, जब तक उसमें अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। इस बात को आप एक स्थूल उदाहरण से समझें। कैची वकजा आकार बिलकुल ठीक है। कैची के दोनों भागों को बिलकुल ढंग से जोड़ा गया है। इसके बावजूद यदि उसमें काटने की शक्ति नहीं है तो वह काटने की क्रिया नहीं कर सकती। यही बात निर्वृत्ति इंद्रिय और उपकरण इंद्रिय के संबंध में है।

भाव इंद्रिय

इंद्रिय द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने की आत्मिक शक्ति और उसके उपयोग को भाव इंद्रिय कहा जाता है।

लब्ध्युपयोगौ भवेन्द्रियम्।

ज्ञानावनणादिकर्मक्षयोपशमजन्यः सामर्थ्यविशेषःह्रलब्धीन्द्रियम्।

अर्थग्रहणरूप आत्मव्यापारःह्रउपयोगेंद्रियम्।

सत्यां लब्धौ निर्वृत्युपकरणोपयोगौ।

सत्यां च निर्वृत्तौ उपकरणोपयोगौ।

सत्युपरकरणौ उपयोगः।

भाव इंद्रिय के दो प्रकार हैंह्र१. लब्धि इंद्रिय २. उपयोग इंद्रिय।

लब्धि इंद्रियह्रइंद्रिय द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने में जो आत्मिक शक्ति काम आती है, उसे लब्धि इंद्रिय कहा जाता है।

हम देखते हैं कि मृत्यु के पश्चात यद्यपि व्यक्ति के सुनने, देखने, सूंघने आदि के शारीरिक यंत्र (द्रव्य इंद्रिय) बिलकुल स्वस्थ रूप में होते हैं, फिर भी वह न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है..... इसका कारण यही तो है कि द्रव्य इंद्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में

जो आत्मिक-शक्ति अनिवार्य रूप से सहयोगी थी, वह मृत्यु के साथ समाप्त हो गई। इससे हमें द्रव्य इंद्रियों के कार्य करने में प्रयुक्त होनेवाली आत्मिक शक्ति का सहज अनुमान हो सकता है।

उपयोग इंद्रियहइंद्रिय द्वारा अपने विषय के ग्रहण में जो आत्मिक शक्ति का व्यापारहउपयोग होता है, वह उपयोग इंद्रिय है।

बहुत बार आपने अनुभव किया होगा कि व्यक्ति की श्रोत्रेंद्रिय का बाह्य आकार एवं आभ्यांतर यंत्र बिलकुल ठीक है, उसमें शब्द को ग्रहण करने की शक्ति है, सुनने की आत्म-शक्ति भी उसे प्राप्त है, फिर भी वह एक शब्द नहीं सुनता। उसके भी। सामने कोई चाहे कितने भी जोर-जोर से क्यों न बोले, उसे बिलकुल पता नहीं चलता। इसका कारण यही है कि उन क्षणों में वह अपनी आत्म-शक्ति का उपयोग नहीं कर रहा है। हमारे धर्मसंघ के घोर तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी को आप में से बहुत-से लोगों ने देखा होगा। कभी-कभी वे अपने काम में इतने तल्लीन होते कि दूसरे साधु उन्हें पुकारते, उनके शरीर का स्पर्श कर उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते, फिर भी उन्हें बिलकुल पता नहीं चलता। जब वे अपना काम पूरा कर लेते, तब उनका ध्यान वहां से टूटता और उन्हें पता लगता कि मुझे कोई पुकार रहा है या मुझे अमुक काम करने के लिए सूचित किया जा रहा है। संत कहतेह'महाराज ! आपको हमने कितनी आवाज दी। शारीरिक स्पर्श करके भी सूचित किया, फिर भी आपने हमारी बात का ध्यान नहीं दिया।' वे कहतेह'संतो ! तुम ठीक ही कहते हो, पर बात यह है कि मैं उस समय अमुक कार्य करने में इतना एकाग्र था कि मुझे तुम्हारा कुछ भी ख्याल नहीं पड़ा।' यह क्यों होता था? यह इसीलिए तो कि मुझे तुम्हारा कुछ भी ख्याल नहीं पड़ा।' यह क्यों होता था ? यह इसीलिए तो कि जानने, सुनने देखने आदि की शक्ति होने के बावजूद वे उस समय उसकी उपयोग नहीं करते थे। जब पूर्व कार्य से निवृत्त होते, तब उस शक्ति का उपयोग करते और उन्हें तत्क्षण ज्ञात हो जाता कि मुझे कोई पुकार रहा है या अमुक बात कह रहा है। ऐसे एक-दो नहीं, अपितु सैकड़ों उदाहरण हमारे देखने, पढ़ने और सुनने में आते हैं।

.....**पढ़ कुरान बोरे भए**

कहा जाता है कि बादशाह अकबर के महल की सीढ़ियों में एक

फकीर रहता था। वह वहीं खाता, वहीं सोता, वहीं नमा पढ़ता.....। एक दिन रात्रि के समय बादशाह की शाहजादी तूती सीढ़ियों से नीचे उतरी। वह अपने प्रेमी से मिलने के खयाल में इतनी खोई हुई कि उसे फकीर का कोई ध्यान ही नहीं हुआ। जब वह कार्य से निवृत्ति होकर वापस आई तो फकीर ने कहाह

तूती चुगै तो ऊंच चुग, नीच चुगन मत जाह।

तू तूती पतशाह की, लाजे अकबर शाह॥

तूती ने साश्चर्य पूछाह 'तुम्हें मेरे जाने का क्या पता लगा?' फकीर ने कहाह 'तेरा पैर मेरी पीठ पर लगने से। मैं उस समय नमाज पढ़ रहा था। मेरी पीठ को सीढ़ी समझ तू उस पर पैर देकर नीचे उतरी थी।' यह सुनते ही शाहजादी का मन एकदम आंदोलित हो उठाहयह ठीक है कि मैं उस समय अपने प्रेमी के ध्यान में पूरी तरह से खोई हुई थी, इसलिए मुझे पता ही नहीं लगा कि यह सीढ़ी है या फकीर की पीठ पर इसको मेरा खयाल है। यदि यह वास्तव में ही नमाज पढ़ता होता तो इसे मेरे पैर लगने का खयाल ही नहीं होता। अब वह चुप नहीं रह सकीह

नर राची सूझ्यो नहीं, तू कित लख्यो सुजान ?

पढ़ कुरान बोरे भए, नहीं राच्यो रहमान॥

बंधुओ! इस बात का सारांश आप समझ गए होंगे। जब कोई व्यक्ति किसी काम में बिलकुल तन्मय हो जाता है, तब अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति होने के बावजूद इंद्रिय अपना कार्य संपादित नहीं कर पाती, क्योंकि उस समय उसकी आत्म-शक्ति का उपयोग नहीं होता। कालांतर में जब उसका उपयोग शुरू होता है, तब इंद्रिय अपने विषय का ग्रहण करने लगती है।

द्रव्य इंद्रियों की उपयोगिता

इंद्रिय के चारों प्रकारों का विवेचन आपने सुना। इस संदर्भ में एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब द्रव्य इंद्रियां अवास्तविक हैं, त फिर उनकी उपयोगिता को क्यों स्वीकार किया जाता है। यह ठीक है कि भाव इंद्रियां ही वास्तविक हैं, द्रव्य इंद्रियां वास्तविक नहीं, फिर भी हम उनकी उपयोगिता कम नहीं आंक सकते। मैं इसे और स्पष्ट करूं। चश्मा यद्यपि आंख नहीं है, फिर भी उसके अभाव में अनेक व्यक्ति अंध-तुल्य हो जाते हैं। इस तरह आत्मा मूल है, वास्तविक है। शरीर अवास्तविक है,

वैभाविक है। पर इसके बावजूद हमें आत्मा के साथ शरीर अवास्तविक है, वैभाविक है। पर इसके बावजूद हमें आत्मा के साथ शरीर की उपयोगिता को स्वीकार करना ही होगा। शरीर के बिना संसार में आत्मा टिकेगी कहां ? त्याग, तपस्या, संयम आदि सब शरीर के द्वारा के ही संपादित हो सकते हैं। शरीर के अभाव में आत्मा कोई धार्मिक क्रिया/साधना करने में समर्थ नहीं है। इसलिए शरीर अवास्तविक होते हुए भी आत्मा की तरह हमारे लिए उपयोगी है। अलबत्ता इतना अवश्य है कि दोनों की उपयोगिता के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा के क्षेत्र में आत्मा उपयोगी है और शरीर के क्षेत्र में शरीर। आत्मा का काम शरीर नहीं कर सकता और शरीर का काम आत्मा नहीं कर सकती। पर दोनों की उपयोगिता हैह्यह एक निर्विवाद तथ्य है। इसी प्रकार द्रव्य इंद्रियों और भाव इंद्रियों की बात समझनी चाहिए। द्रव्य इंद्रियां अपने क्षेत्र में उपयोगी हैं और भाव इंद्रियां अपने क्षेत्र में। पर दोनों की उपयोगिता असंदिग्ध है। इसलिए आप इस बात को भलीभांति समझें कि इंद्रिय के चारों प्रकार (दो द्रव्य इंद्रिय के और दो भाव इंद्रिय) की विषय के ग्रहण करने में अनिवार्य अपेक्षा है। इनमें से किसी एक की भी कमी हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। उदाहरणार्थकिसी को कोई फल छीनना है। इसके लिए चाकू आवश्यक है। यदि चाकू नहीं हो तो फल नहीं छीला जा सकता। मान लीजिए, चाकू है, उसमें धार भी है, पर काटने की शक्ति नहीं है। इस स्थिति में फल कैसे छीला जा सकेगा ? चाकू है और उसमें काटने की शक्ति भी है, यदि फल छीलनेवाला के हाथ को लकवा मार गया हो तो भी वह फल नहीं छील सकेगा। चाकू है, उसमें काटने की शक्ति भी है, हाथ भी स्वस्थ है, उसमें फल छीलने की क्षमता भी है, पर उस व्यक्ति का मन फल छीलने का नहीं है, इस स्थिति में भी फल का छीला जाना संभव नहीं है। यानी चारों बातों का योग मिले, तब ही फल छीलने की क्रिया पूरी हो सकेगी, अन्यथा नहीं। इस उदाहरण से आप इंद्रियां के चारों प्रकारों की अनिवार्यता भलीभांति समझ सकते हैं। इसमें चाकू की आकार-संरचना के सामन बाह्य निर्वृत्ति इंद्रिय है। उसकी धार के समान अभ्यंतर निर्वृत्ति इंद्रिय है। धार के काटने की शक्ति के समान उपकरण इंद्रिय है। हाथ की शक्ति के समान लब्धि इंद्रिय और मन की भावना के समान उपयोग इंद्रिय को जानना चाहिए।

यद्यपि उपयोगिता की दृष्टि से इंद्रिय के चारों ही प्रकार महत्वपूर्ण हैं, फिर भी प्राथमिकता को दृष्टि से लब्धि इंद्रिय प्रमुख है। लब्धि इंद्रिय के अभाव में शेष तीनों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस क्रम में दूसरा स्थान निर्वृत्ति इंद्रिय का है। निर्वृत्ति इंद्रिय के बिना पकरण इंद्रिय और उपयोग इंद्रिय दोनों कार्य नहीं कर सकतीं। तीसरा स्थान उपकरण इंद्रिय का समझना चाहिए। उपकरण इंद्रिय के पश्चात उपयोग इंद्रिय का स्थान है।

गंगाशहर

२२ अगस्त १९७८

३९ : इंद्रियों के विषय

इंद्रियों की विस्तृत चर्चा पिछले दो प्रवचनों में मैंने की। आपने यह जाना कि द्रव्य इंद्रियां जड़ हैं और भाव इंद्रियां चेतन। दूसरे शब्दों में इंद्रियों के पौद्गलिक श्रसंस्थान और अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की पौद्गलिक शक्ति जड़ है। जबकि इसलिए हम इंद्रियों को एकांततः न जड़ कह सकते हैं न चेतना ही। इसी प्रकार इंद्रियां एकांततः न मूर्त हैं और न अमूर्त ही। एक दृष्टि से मूर्त हैं तो दूसरी दृष्टि से अमूर्त भी।

इंद्रियों के विषय

इंद्रियों का जो ज्ञेय है, उसे विषय कहते हैं। अर्थात् जिन क्षेत्रों में इंद्रियां कार्य करती हैं, वे विषय हैं।

स्पर्श-रस-गंध-रूप-शब्दास्तद्विषयाः ।

पांच इंद्रियों के पांच विषय हैं। *पचीस बोल* के अंतर्गत बारहवें बोल में पांच इंद्रियों के तेईस विषय बताए गए हैं। प्रश्न पूछा जा सकता है कि इंद्रियों के विषयों की संख्या में यह अंतर क्यों। वास्तव में यह कोई अंतर नहीं है। केवल अपेक्षाभेद है। जहां हम पांच इंद्रियों के पांच विषय बताते हैं, वहां हमारी दृष्टि संक्षेप की है। हम प्रत्येक इंद्रिय का एक-एक विषय ग्रहण करते हैं। स्पर्शन इंद्रिय का विषय हैहस्पर्श रसन इंद्रिय का विषय हैहरस। घ्राण इंद्रिय का विषय हैहशब्द। पर जहां हम पांच इंद्रियों के तेईस विषय कहते हैं, वहां हमारी दृष्टि विस्तार की है। प्रत्येक इंद्रिय के विषय को हम अनेक भागों में विभक्त कर देते हैं।

स्पर्श के आठ भेद हैंहशीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, मृदु, कर्कश, गुरु और लघु।

रस के पांच भेद हैंहतिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर।

गंध के दो भेद हैंहसुगंध और दुर्गंध।

रूप के पांच भेद हैंहृकृष्ण, नील, रक्त, श्वेत और पीत।

शब्द के तीन भेद हैंहृजीव, अजीव और मिश्र।

इन सभी भेदों को संयुक्त रूप में पांच इंद्रियों के तेईस विषय कहा जाता है।

बुरा कौन है

प्रश्न पूछा जा सकता है कि इंद्रिया अहितकारी हैं या उनके विषय वास्तव में न इंद्रियां कोई नुकसान करती हैं और न विषय ही। वे तो अपने-अपने स्वभाव में रहते हैं। नुकसन करती हैंहृविषयों के प्रति मन को आसक्ति। उदाहरणार्थहृआपके घर में कोई विशेष खाद्य पदार्थ तैयार हुआ। भिक्षा में हमें भी वह पदार्थ प्राप्त हो गया। अब आपने भी वह पदार्थ खाया और हमने भी। पर खाने-पीने में बहुत बड़ा अंतर हो सकता है। आपने वह खाद्य खूब स्वाद ले-लेकर, सराह-सराहकर खाया और हमने सहज रूप से खाया। हालांकि सहज रूप से खाने का यह अर्थ नहीं कि उसके स्वाद को न जाना जाए। भोजन स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट जैसा भी है, उसे उसी रूप में जानना कोई बुराई नहीं है, अपितु यह तो होना ही चाहिए। यदि वस्तु को अच्छी या बुरी यथावत रूप में जानना ही बुरा हो या पाप हो तो क्या सबसे अधिक पाप केवलजाना को नहीं होगा ? वे तो संसार के अच्छे-बुरे, कुरूप-सुरूप, सुगंधित-दुर्गंधित सब पदार्थों को सर्व प्रकार से जानते हैं। पर यह बिलकुल निर्विवाद है कि उन्हें कोई पाप नहीं लगता। इसलिए आप इस सिद्धांत को समझें कि वस्तु अच्छी या बुरी जैसी है, उसे उसी रूप में जानना कोई पाप नहीं है, अपितु न जानना अज्ञान है।

हां, तो आपने भी वह पदार्थ खाया और हमने भी। पर आपने उस पदार्थ के द्वारा पापकर्म का बंधन कर लिया और हमने नहीं किया। मैं पूछना चाहता हूं, आपको यह नुकसान किसने पहुंचाया? क्या यह नुकसान रसना ने पहुंचाया? नहीं, बिलकुल नहीं। यदि रसना ही नुकसान पहुंचाती तो हमें भी नुकसान पहुंचना चाहिए था। फिर क्या भोजन की स्वादिष्टता ने यह नुकसान पहुंचाया ? नहीं, यह भी नहीं हो सकतथा, क्योंकि पदार्थ तो हमने और अपने एक ही खाया यदि उसने आपको नुकसान पहुंचाया तो हमें क्यों नहीं पहुंचाया ? स्वादिष्टता की अनुभूति भी नुकसान का कारण नहीं है, यह मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं।

आखिर नुकसान किसने किया ? यह नुकसान किया स्वादिष्ट पदार्थ के प्रति आपकी आसक्ति ने। यदि किसी साधु के मन में भी प्रमादवश पदार्थ की स्वादिष्टता के कारण आसक्ति आ जाए तो वह उसे भी नुकसान पहुंचाए बिना नहीं छोड़ सकती। इसलिए हम इस तथ्य को हृदयंगम करें कि न इंद्रियां बुरी हैं, न इंद्रियों के विषय बुरे हैं और न इंद्रियों के विषयों का ज्ञान ही बुरा है। बुरी हैहमन की वासना या आसक्ति।

नारी बुरी है

आप देखें, नारी को बुरा बताया जाता है। उसके लिए वैतरणी, नरक की कुंडी, राक्षसी जैसे न जाने कैसे-कैसे हीन शब्दों का प्रयोग होता रहा है। आगमों में कहा गया हैह

नो रक्खसीसु गिज्जेज्जा, गडवळ्हासुऽणेगचित्तासु।

जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लंति जहा नदासेहिं॥

ह वक्ष में ग्रंथि (स्तन) वाली, अनेक चित्तवाली तथा राक्षसी की भांति भयावह स्त्रियों में साधक आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन में डालकर उसे दास की भांति हैं नचाती हैं।

मैं पूछना चाहता हूं, क्या सचमुच नारी बुरी है ? क्या वास्तव में ही वह वैतरणी, नरक की कुंडी या राक्षसी ? यदि 'हां' तो फिर पुरुष नरक की कुंडी क्यों नहीं, राक्षसी क्यों नहीं ? राक्षस क्यों नहीं ? नारी को नरक का द्वार या राक्षसी मानेंगे तो पुरुष को भी नरक का द्वार और राक्षस मानना होगा। कुछ लोग यह भी कह देते हैं कि स्त्री की तरफ कभी देखना नहीं चाहिए, उससे बात नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसकी दृष्टि में जहर होता है। वह पुरुष को भ्रष्ट कर देती है, उसे अपने मोहपाश में बांध लेती है, दस बना लेती है, बंदर की तरह नाच नचाती है। मैं नहीं समझता, इसमें नारी का क्या दोष है। यह तो स्वयं पुरुष की दुर्बलता है कि वह नारी के मोहपाश में बंध जाता है, उसका दास बन जाता है, बंदर की तरह नाच करने लगता है। यदि नारी में ही पुरुष को दास बनाने की या बंदर की तरह नाच नचाने की शक्ति होती तो वह सुदर्शन सेठ को क्यों नहीं दास बना सकी? क्यों नहीं मुनि स्थूलिभद्र को बंदर की तरह नाच नचा सकी? क्यों नहीं उन्हें अपने मोहपाश में बांध सकी?

मुनि स्थूलिभद्र बाल्यकाल से संसार से विरक्त-से थे। आमोद-प्रमोद, हास्य, भोग-विलास आदि में उनकी कोई रुचि नहीं थी। माता-पिता ने उनको सांसारिक भागों में आसक्त करने का उपाय सोचा। उन्होंने स्थूलिभद्र को काम-क्रीड़ा सीखने के लिए कोशा नामक वेश्या के पास भेज दिया। कोशा के सहवास से वे सांसारिक भोग-विलासों तथा कामवासना में इतने डूब गए कि वापस घर जाना भूल गए। माता-पिता ने बुलाया फिर भी घर नहीं लौटे। आखिर पिता की मृत्यु का समाचार पाकर उन्होंने घर का दरवाजा देखा। पर अब वे घर के उपयुक्त नहीं रहे, क्योंकि इस घटना के निमित्त से उनके मन में वैराग्य के सुषुप्त संस्कार पुनः जाग्रत हो गए। परिणामतः वे मुनि बन गए। मुनि बनने के पश्चात उन्होंने अपने गुरु भद्रबाहु स्वामी से अनुमति प्राप्त करके उसी कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत किया। कोशा ने अपने हाव-भाव आदि से स्थूलिभद्र को संयमपथ से च्युत कर पुनः कामवासना में फंसाने के लिए विभिन्न प्रयास किए। पर स्थूलिभद्र के अडोल मानस के सामने उसके सारे प्रयास व्यर्थ रहे। इसके विपरीत स्थूलिभद्र ने उसे उस नरकमय जीवन से छुटकारा दिलवाकर श्राविका और ब्रह्मचारिणी बना दिया।

अब आप चिंतन करें कि यह यदि नारी ही पुरुष को दास बनाती है या नाच नचाती है तो स्थूलिभद्र पर उसकी शक्ति काम क्यों नहीं कर सकी। वस्तुतः तत्त्व यह है कि न स्त्री बुरी है और न पुरुष बुरा है। न स्त्री राक्षसी है और न पुरुष राक्षस है। न स्त्री किसी को दस बनाती है, नाच नचाती है और न पुरुष किसी को दासी बनाता है, नाच नचाता है। ये सब खेल मन के हैं। मन के विकार के हैं। वही राक्षसी है। वही राक्षसी है। उसके कारण ही व्यक्ति, भले वह स्त्री हो या पुरुष, नाना प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों का शिकार बनता है।

मानव-मन की यह बहुत बड़ी कमजोरी है कि वह अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ना चाहता है। उसमें इतना साहस कहां कि सहजतया अपना दोष स्वीकार कर ले? प्राचीन युग में एक ऐसा प्रवाह था कि लगभग सभी साहित्य-स्रष्टाओं ने, चाहे वे लेखक हों या कवि, स्त्री को कोसा है। उसे भला-बुरा कहा है। मन की कमजोरी को उस पर आरोपित किया है। पर अब युग बदल गया है। युग का चिंतन बदला है। लोगों की दृष्टिकोण बदला है। अब यह विचार बड़ी तेजी के साथ प्रसरणशील

बनता जा रहा है कि मन की वासना का दोष स्त्रियों पर आरोपित करना स्त्री जाति का अपमान है। स्त्रियों हमारी माताएं हैं। उनको इस प्रकार तिरस्कृत और अपमानित करना सभ्य समाज के लिए शोभनीय नहीं है।

हां, तो प्रसंगवश मैंने यह बात कह दी। अब मैं वही बात दोहराता हूँ कि न इंद्रियां बुरी हैं, न इंद्रियों के विषय बुरे हैं और न ही उनके द्वारा अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना बुरा है। बुरी हैहमन की वासना/ राग-द्वेष। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि इंद्रियां और इंद्रियों के विषयों को कोसना छोड़कर मन की वासना को जीतने का प्रयास किया जाए। मन की वासना को जीतने का एकमात्र तरीका यही है कि व्यक्ति बहिर्मुखी से अंतर्मुखी बने। धर्म व्यक्ति को अंतर्मुखी बनाने की एकमात्र प्रक्रिया है।

गंगाशहर

२३ अगस्त १९७८

४० : मन : एक मीमांसा

आज का का हमारा चर्चनीय विषय हैहयह बड़े आश्चर्य की बात है कि हम सबके पास मन है, मन का हम सदा उपयोग करते हैं, फिर भी बहुत-सारे लोग यह भलीभांति नहीं समझ पाते कि मन क्या है। एक दृष्टि से यह ठीक भी है, क्योंकि जो वस्तु जितनी समीप होती है, उससे प्रायः व्यक्ति उतना ही अधिक अपरिचित रहता है। संसार क्या है, संसार में कहां क्या हो रहा है, अमुम राष्ट्र का राष्ट्रपति कौन है, सूर्य, चंद्रमा और मंगल के बारे में क्या-क्या शोध ो रही है आदि-आदि बातों के संदर्भ में आदमी काफी जानकारी रखता है, जबकि मैं कौन हूं, मैं कहां से आया हूं, मैं कहां जाऊंगा, मेरा चरम लक्ष्य क्या है आदि-आदि बातों के संदर्भ वह लगभग अनजान रहता है।

सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं मनः ।

सर्वे, तु इन्द्रियवत् प्रतिनियत अर्था गृह्यन्ते येन तत् सर्वार्थग्राही, त्रिकालविषयत्वात् त्रैकालिकं मनः । तद् अनिन्द्रियमपि उच्यते ।

मनस्तवेन परिणतानि पुद्गलद्रव्याणि द्रव्यमनः, लब्ध्युपयोगरूपं भावमनः ।

जिसके द्वारा सब विषयों (स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द) का ग्रहण किया जाता है और जो त्रैकालिक संज्ञान है, उसे मन कहते हैं।

मन और इंद्रियों में अंतर

यद्यपि मन भी पांचों इंद्रियों की तरह ही स्पर्श, रस आदि विषयों को ग्रहण करता है, फिर भी दोनों में थोड़ा अंतर है। सभी इंद्रियां केवल अपने-अपने एक-एक विषय को ग्रहण करती हैं। श्रोत्र इंद्रिय शब्द को ही ग्रहण कर सकती है, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श को नहीं। इसी प्रकार

अन्य इंद्रियां भी केवल अपने-अपने एक-एक विषय को ग्रहण कर सकती हैं, दूसरे-दूसरे विषयों को नहीं। पर मन स्पर्श, रस आदि सभी विषयों को ग्रहण करता है। मन की स्थिति मिल के मैनेजर की तरह है और इंद्रियों की स्थिति विभागीय अधिकारियों की तरह। विभागीय अधिकारी अपने-अपने विभाग का ध्यान रखते हैं, अपने-अपने विभाग के जिम्मेदार होते हैं पर मैनेजर को सभी विभागों का काम देखना होता है। वह सभी विभागों की जिम्मेदारी निभाता है। मन सभी इंद्रियों के विषयों का ग्रहण करता है, सबकी जिम्मेदारी निभाता है।

इंद्रियों और मन में दूसरा अंतर हैकाल का। सभी इंद्रियां केवल वर्तमानिक होती हैं। यानी वे केवल वर्तमान में ही विषय का ग्रहण करती हैं। पर मन त्रैकालिक है। भूत, वर्तमान और भविष्यहतीनों काल में विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है। आपके कान वर्तमान में शब्दों को ग्रहण कर रहे हैं। पर कल मैंने क्या कहा था, उन शब्दों को ग्रहण करना कान का काम नहीं है। यह काम मन के द्वारा होता है। इसी प्रकार कल मैं क्या कहूंगा, उन शब्दों को ग्रहण करना भी कान का काम नहीं है। यह चिंतन भी मन ही करता है कि कल प्रवचन में अमुक-अमुक बातें सुनने को मिलेंगी। मन अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना को वर्तमान के साथ जोड़ता है। सचमुच मन बहुत शक्तिशाली है। हालांकि शक्तिशाली इंद्रियां भी हैं, तथापि मन की शक्ति की तुलना में उनकी शक्ति बहुत सीमित है। जिन प्राणियों के मन नहीं होता, उनकी इंद्रियां ज्यों-त्यों अपना काम चलाती हैं। पर समनस्क प्राणियों की इंद्रियां मन के साथ जुड़कर कार्य करती हैं।

संयोजन का सारा कार्य भी मन का है। आंखों ने दो रूप देखे। वे अपना विषय ग्रहण कर निरपेक्ष हो गईं। अर्थात् इन दोनों में कौन सुंदर है और कौन सुंदर नहीं है, इस बात का निर्णय यह नहीं कर सकती। यह काम मन का है।

सड़क के किनारे एक स्थान पर सुगंध और दुर्गंध दोनों एक साथ आ रही थीं। लोग उधर से गुजरे और यह स्थिति देखकर सबने बड़ा आश्चर्य किया। पर किसी ने गहराई से कारण की खोज नहीं की। आखिर एक व्यक्ति ने तथ्य की जांच-पड़ताल की तो मालूम हुआ

कलाल चल्थो जात शीश घड़ा लिए दारुन को,
गांधी चल्थो जात है फुलेल लिए वासना।
ठेकर ठबक्क लगी फूट गए दोनों घट,
आए नर चातक ज्यों करत मुख भाषणा।
भले की भलाई रही बुरे की बुराई जान,
केजिए भलाई ज्यों लों पिंड मांही सासना।
शुद्ध मन आसन ज्यों दुलह पाक सासन ज्यों,
वासन विलाय जात रह जात वासना॥

एक कलाल शराब का घड़ा अपने मस्तक पर रखकर कहीं चला जा रहा था। सामने की दिशा से एक गांधी इत्र का बरतन लिए जा रहा था। दोनों अपनी-अपनी धुन में थे। सहसा दोनों की दृष्टि चूकी। परिणामस्वरूप वे परस्पर टकरा गए। टक्कर इतनी तेज हुई कि दोनों के बरतन नीचे गिर पड़े और फूट गए। शराब और इत्र दोनों नालियों में बह गए। सफाई कर्मचारी आए और उन्होंने कांच और मिट्टी के टुकड़ों को उठाकर सड़क साफ कर दी, पर उन दोनों चीजों की वासना को वे कैसे उठाते ? घंटों समय बीत गया, फिर भी शराब और इत्र दोनों का गंध पाथिकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी।

इस बात से आपको समझना यह है कि सुगंध और दुर्गंध का ग्रहण इंद्रियों ने किया। पर उसके पश्चात यह चिंतन कि दुर्गंध क्यों आ रही है, यह दुर्गंध किसी है आदि-आदि बातों पर चिंतन घ्राण इंद्रिय ने नहीं किया। यह चिंतन का सारा कार्य मन के द्वारा संपादित हुआ। यदि मन होता तो इन सारी बातों पर चिंतन किया जाना सर्वथा असंभव था।

भलाई भुलाई नहीं जाती

यहां एक दूसरी बात और समझने की है कि दुर्जन बुराई करना नहीं छोड़ता तो सज्जन भी अपनी सज्जनता क्यों छोड़े यद्यपि उसकी अच्छाई उसके स्वयं के हित के लिए होती है, पर परोक्ष रूप में उससे समाज भी लाभान्वित होता है। यही कारण है कि संसार से उसके चले जाने के पश्चात भी लोग उसकी स्मृति करते रहते हैं। राम को हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो गए पर आज भी राम जन-जन के मुख पर हैं।

हम दूर क्यों जाएं, आपके गंगाशहर के ही भैरूदानजी चोपड़ा अब संसार में नहीं हैं। पर उनकी अच्छाइयों को चित्र आज भी लोगों की

आंखों में नाच रहा है।

छोगमलजी चोपड़ा भी यहीं के थे। उनके जीवन में कुछ विरल विशेषताएं थीं। अध्ययन के तो वे मानो व्यसनी थे। वर्षों तक जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के मंत्री रहे। उस समय वे महासभा के पुस्तकालय के लिए जो पुस्तकें खरीदते, उन्हें सबसे पहले स्वयं पढ़ते। शायद ही ऐसी कोई पुस्तक बची हो, जिसे उन्होंने पढ़े बिना पुस्तकालय में रखा हो। तेरापंथ धर्म-शासन व समाज की उन्होंने जो सेवा की है, वह कई दृष्टियों से अविस्मरणीय है। उन्होंने अपना सारा जीवन इस कार्य के लिए खपा दिया। उनकी अन्यायन्य विशेषताओं को संभवतः दूसरे-दूसरे लोग ग्रहण भी कर लें, पर पत्र-लेखन की जो कला उनके पास थी, उसे कोई ग्रहण कर पाए, यह कम संभव लगता है। अपने जीवन में उन्होंने कम-से-कम चालीस-पचास हजार पत्र लिख होंगे। पत्रों के माध्यम से वे लोगों को विभिन्न रूपों में सुझाव देते थे। उनके सुझाव बड़े मूल्यवान और दूरदर्शितापूर्ण होते थे। शासन के विभिन्न समाचारों के तो वे एक चलते-फिरते केंद्र ही थे।

हीरालालजी आंचलिया को भी समाज कभी नहीं भुला सकता। अपनी धुन के वे बड़े पक्के थे। वे सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने धार्मिक एवं तात्त्विक पुस्तकों को प्रकाशित करा-करा के जन-जन के हाथों में पहुंचाया। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि उन पुस्तकों का मूल्य केवल स्वाध्याय ही था। हजारों-हजारों की संख्या में वितरित की गई पुस्तकों के लिए उन्होंने कभी किसी से एक पैसा नहीं लिया।

इस क्रम में अनेक नाम मेरी स्मृति में आ रहे हैं। पर अभी मैं उन सबका जिक्र नहीं कर सकता। तत्त्व यह है कि भलाई कभी भुलाई नहीं जाती। भले आदमी को संसार सदा याद करता रहता है। इसी प्रकार बुरे आदमियों को भी उनकी बुराई के लिए लोग याद करते हैं। पर उनके नामों की चर्चा मैं आपसे नहीं करूंगा। हमारा काम अच्छाई का संयोजन करना है, बुराई को हम क्यों देखें?

मन इंद्रिय क्यों नहीं

यद्यपि मन इंद्रियों की तरह स्पर्श, रस आदि विषयों का संग्रहण करता है, फिर भी उसे अर्नीन्द्रिय कहा गया है। इसका कारण स्पष्ट है।

इंद्रिय की भांति न तो वह इन का बाहरी साधन है और ही उसका कोइ नियत आकार है। पर चूंकि वह इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए गए विषयों को जानता है, इसलिए उसे नो-इंद्रिय-ईषत इंद्रिय या इंद्रिय-तुल्य भी कहा गया है।

द्रव्य मन : भाव मन

प्रश्न पूछा जा सकता है कि मन जड़ या चेतन। मन एक दृष्टि से जड़ है और दुसरी दृष्टि से चेतन। हमें यहां यह जान लेना चाहिए कि मन के दो प्रकार हैं-द्रव्य मन और भाव मन। द्रव्य का अर्थ, जैसाकि मैंने एक-दो दिन पहले भी बताया था, अवास्तविक या काल्पनिक है। पर अवास्तविक या काल्पनिक का यह अर्थ नहीं कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। उसका अस्तित्व है और उसका अपना उपयोग भी है, तथापि वास्तविकता से सर्वथा परे है। उदाहरणार्थ-किसान लोग खेत में बिजुरा खड़ा करते हैं। वे लकड़ी गाड़कर उस पर कमीज जैसा कपड़ा लगा देते हैं और ऊपर उलटी काली हंडी रख देते हैं। दूर से वह कोई खड़ा हुआ आदमी दिखलाई देता है। मैं पूछता हूं, क्या वह वास्तव में आदमी है? नहीं, वास्तव में वह आदमी नहीं है। मात्र आदमी का आकार है। यद्यपि वह थोड़ा-बहुत आदमी का-सा कार्य भी करता है, पशु-पक्षी उसे आदमी समझकर खेत में आने से डरते हैं। फिर भी हम उसे अवास्तविक ही मानेंगे, वास्तविक नहीं।

यद्यपि द्रव्य मन भी वास्तविक नहीं है, फिर भी उसका अस्तित्व है। मनोवर्गणा द्रव्य मन है। वह मानसिक चिंतन में अनिवार्य रूप से काम आती है। यदि उसका योग न हो तो भाव मन चिंतन नहीं कर सकता। पेट्रोल न हो तो कार नहीं चल सकती। यद्यपि पेट्रोल कार नहीं है, फिर भी उसके बिना कार बेकार है यही बात मनोवर्गणा-द्रव्य मन की है। यद्यपि वह वास्तविक मन नहीं, फिर भी उसके अभाव में भाव मन चिंतन करने में अक्षम है। द्रव्य मन जड़/निर्जीव है।

भाव का अर्थ वास्तविक है। भाव मन अर्थात् वास्तविक मन। मनोवर्गणा को ग्रहण कर जिसके द्वारा व्यक्ति चिंतन-मनन करता है, वह भाव मन है। दूसरे शब्दों में विचारात्मक मन का नाम भाव मन है। भाव मन चेतन है।

हमारी आत्मा पूर्ण ज्ञानमय है, चैतन्यमय है। किंतु उस पर

ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का आवरण है। इस आवरण के कारण आत्मा की चेतना ढक जाती है। जितने-जितने रूप में यह आवरण दूर हटता है, उतने-उतने रूप में वह चेतना अनावृत होती है। प्राणी-प्राणी में इस दृष्टि से चेतना के विभिन्न स्तर होते हैं।

जिन प्राणियों की चेतना स्पर्शन व इंद्रिय के स्तर तक विकसित होती है, वे एकेंद्रिय कहलाते हैं। जिनकी चेतना स्पर्शन व रसन इंद्रिय के स्तर तक विकसित होती है, वे द्वीन्द्रिय कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्पर्शन, रसन, घ्राण इंद्रिय तक की विकसित चेतना की स्तरवाले प्राणी त्रीन्द्रिय तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण एवं चक्षु इंद्रिय तक की विकसित चेतना के स्तर को प्राप्त प्राणी चतुरिन्द्रिय कहे जाते हैं। जिनकी चेतना के विकास का स्तर पांचों इंद्रियों (मनरहित) तक पहुंच जाता है, वे असंजी पंचेंद्रिय और जिनकी चेतना पांच इंद्रियों के साथ-साथ मन के स्तर तक पहुंच जाती है, वे संजी पंचेंद्रिय कहलाते हैं। इस बात को मैं एक उदाहरण से समझाऊं। एक जलते बल्ब पर ढक्कन लगा दिया जाता है। उस ढक्कन में एक छिद्र है। उस छिद्र से होकर प्रकाश बाहर आता है। देखनेवाला कहता है, एक बल्ब जल रहा है। अब उस ढक्कन को उतारकर उस पर दूसरा ढक्कन रख दिया जाता है। उसमें दो छिद्र हैं। इस स्थिति में देखनेवाले को लगता है कि दो बल्ब जल रहे हैं। इसी प्रकार ढक्कन में तीन, चार, पांच.....जितने छिद्र होते हैं, उतने ही छिद्रों से होकर प्रकाश बाहर आता है और देखनेवाले को उतने ही बल्ब जलते हुए मालूम होते हैं। पर ज्यों ही ढक्कन हटाया जाता है, वे सारे बल्ब दिखाई देने बंद हो जाते हैं और मात्र एक बल्ब शेष रह जाता है।

आप दूसरा उदाहरण और देखें। चांदी की एक शिला मिट्टी से ढकी हुई है। कालांतर में उसके ऊपर की मिट्टी का एक तरफ का हिस्सा दूर हो जाता है। देखनेवाले को ऐसा लगता है कि चांदी का एक टुकड़ा यहां है। फिर दूसरी जगह से मिट्टी हटती है और वहां भी चांदी का एक दूसरा टुकड़ा दिखाई देता है। इस प्रकार जहां-जहां से मिट्टी हटती है, वहां-वहां चांदी का एक-एक टुकड़ा नजर आता है। पर वास्तव में सारी मिट्टी के नीचे वह शिला एक ही है। ज्यों ही सारी मिट्टी हटेगी, वे चांदी के विभिन्न टुकड़े दिखने बंद हो जाएंगे और अखंड शिला सामने आ जाएगी। वे विभिन्न टुकड़े तो मिट्टी के थोड़े-थोड़े रूप में अनेक स्थानों से हटने से दिखाई देते थे। यही स्थिति हमारी आत्मा की है। जैसा कि मैंने

बताया, हमारी आत्मा पूर्ण चैतन्यमय है। उसकी चेतना या ज्ञान खंड-खंड में विभक्त नहीं है। पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों (आवरण) के विभिन्न स्तरों पर क्षयोपशम होने के कारण वह चेतना इंद्रियों एवं मन के रूप में प्रकट होती हुई दिखाई पड़ती है, खंड-खंड में विभक्त हुई दिखाई देती है। जिस क्षण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों का संपूर्ण आवरण हट जाता है, उस क्षण वह चेतना अखंड रूप में प्रकट होती है। यानी आत्मा ज्ञानमय बन जाती है। चेतना या ज्ञान के इस स्तर को जैन-दर्शन के केवलज्ञान कहा गया है। जिस दिन चेतना या ज्ञान इस स्तर तक पहुंच जाता है, उस दिन मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानहइन चारों का फिर कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। ये सब केवलज्ञान में समाहित हो जाते हैं

मन की अवस्थिति

यहां यह जान लेना भी प्रासंगिक होगा कि मन एकदेशीय है या शरीरव्यापी मन त्वचा की तरह हमारे पूरे शरीर में व्याप्त है। इंद्रिय की तरह वह एकदेशीय नहीं है। इसलिए वह शरीर में सर्वत्र काम करता है। शरीर के किसी भाग से वह चिंतन-मनन का कार्य कर सकता है। हालांकि मस्तिष्क उसका मुख्य केंद्र माना जाता है।

मन कहां है, इस प्रश्न का एक महत्त्वपूर्ण एवं योग-सम्मत समाधान यह भी है कि जहां श्वास है, वहां मन है। श्वास के साथ-साथ मन चलता है। श्वास रुका कि मन रुका। इसलिए योग के एक आचार्य ने कहा है **हैह्यत्र यत्र पवनः तत्र तत्र मनः।** अर्थात् जहां-जहां पवन (श्वास) है, वहां-वहां मन है। श्वास को रोकना कठिन है, इसलिए मन को सर्वथा रोकना भी कठिन है। फिर रोकने की अपेक्षा भी क्या है ? अपेक्षा है, उसे नियंत्रित करने की। यदि हमारा मन हमारे नियंत्रण में है तो वह चलता हुआ भी हमारा अहित नहीं कर सकता। अहित तभी होता है, जब वह हमारे नियंत्रण से बाहर होता है।

मन को नियंत्रित करने की प्रक्रिया

मन को नियंत्रित करने की सरलतम प्रक्रिया हैहव्यक्ति अपने श्वास को नियंत्रित करे। आपने शायद अनुभव किया होगा कि जब-जब आप क्रोध, अहंकार, वासना आदि से भर जाते हैं, तब-तब आपका श्वास बहुत चंचल हो जाता है। इसके ठीक विपरीत जब आपका मन इन उद्वेगों

एवं विकारों से मुक्त होता है, अर्थात् आप शांत होते हैं, तब आपका श्वास भी बहुत शांत होता है। इसलिए इस तथ्य को समझकर कि श्वास की गति के साथ मन का निकटतम संबंध है, आप अपने श्वास की गति को नियंत्रित करना सीखें। श्वास की गति पर नियंत्रण का अर्थ है। एक भी श्वास आपकी बिना जानकारी के न अंदर जाए और न बाहर आए। जिस दिन आपने यह कला सीख ली। मानना चाहिए कि उस दिन आपने मन को नियंत्रित करने की कला सीख ली। यह मात्र कोई उपदेश नहीं है, अपितु एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान है। आज लगभग सारा संसार मन के अनियंत्रण की बीमारी से पीड़ित है। इस बीमारी की परिधि में न जाने कितनी-कितनी दूसरी-दूसरी बीमारियां, बुराइयां पल रही हैं और उनसे मानव-समाज संतुलित बन रहा है। अतः यदि आप अपने मन को अनुशासित करना चाहते हैं, उसके स्वामी बनना चाहते हैं तो आपको हर हालत में अपने श्वास को अनुशासित करना होगा, अपने श्वास का स्वामी बनना होगा।

गंगाशहर

२४ अगस्त १९७८

४१ : भाव : आत्मा का स्वरूप

कल के प्रवचन में आपने जाना कि मन आत्मा का ही एक हिस्सा है, चेतना का ही एक स्तर है। आज हम इस बात का विचार करेंगे कि आत्मा का स्वरूप क्या है।

औपशामिक-क्षायिक-क्षयोपशमिका भावाः स्वरूपं जीवस्य ।

मोहकर्मणो वेद्याभाव उपशमः अन्तर्मुहूर्त्तविधिकः । तेन निष्पन्नो भाव औपशामिकः ।

ज्ञानावरणाद्यष्टानामपि कर्मणां सर्वथा प्रणाशः क्षयः । तेन निर्वृत्तो भावः क्षायिकः ।

चतुर्णां घात्यकर्मणां विपाकवेद्याभावः क्षयोपशमः । तेन निर्वृत्तो भावः क्षयोपशामिकः ।

उदयप्राप्तक्षयस्योभयत्र समानत्वेऽपि उपशमे प्रदेशतोऽपि नास्ति उदयः, इत्यनयोर्भेदः ।

जीव का स्वरूप है वह कर्मों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से निष्पन्न होनेवाली जीव का विभिन्न अवस्थाओं को भाव कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्मों के संयोग एवं वियोग से होनेवाली जीव की विभिन्न अवस्थाएं भाव हैं।

भाव तीन हैं १. औपशामिक भाव २. क्षायिक भाव ३. क्षयोपशमिक भाव ।

औपशामिक भाव

मोहनीय कर्म के दब जाने को उपशम कहते हैं। उपशम से होनेवाली आत्मा की अवस्था औपशामिक भाव है। इसे मैं एक उदाहरण से स्पष्ट करूंगा। बरसात के दिनों में आप तालाब से पानी लाएं। वह मिट्टीमिश्रित है। उस पानी में आपने फिटकरी डाली। दस-पंद्रह मिनट में

सारा पानी बिलकुल स्वच्छ हो गया। यह औपशमिक अवस्था है। इस अवस्था में पानी बिलकुल स्वच्छ हो गया, फिर भी मिट्टी नीचे जमी रह गई। थोड़ी देर में जरा-सा पानी हिला कि मिट्टी वापस ऊपर आ गई और पानी गंदला बन गया। ठीक यही बात हमारी आत्मा की है। आत्मा के मल को इस प्रकार दबाया गया कि वह हमारी चेतना को विकृत न कर सके, यह औपशमिक अवस्था है। पर चूंकि कर्मफल समाप्त नहीं हुआ हुआ है, केवल दबाया गया है, अतः थोड़ा-सा प्रकंपन हुआ कि आत्मा का दबाया हुआ मल पुनः ऊपर उठ जाता है। परिणामतः आत्मा पुनः मल-युक्त हो जाती है। सैद्धांतिक दृष्टि से औपशमिक भाव की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है। यानी एक मुहूर्त के अंदर-अंदर आत्मा पुनः कर्ममल से विकृत हो जाती है।

आप कहेंगे, जब पुनः आत्मा कर्ममल से विकृत हो जाती है, तब इस उपशम से क्या लाभ मैं पूछता हूं, इससे नुमसान भी क्या है ? जितनी देर आत्मा उपशम अवस्था में रहती है, उतनी देर का लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। माना कि रोग को इंजेक्शन देकर बढ़ाया गया है वह जड़-मूल से समाप्त नहीं हुआ है, अवसर पाकर पुनः उभरेगा। भले उभरे। पर जितनी देर वह शांत रहता है, उतनी देर तो रोगी आराम पाता ही है, इस तथ्य को हम नकार नहीं सकते।

क्षायिक भाव

जानावरणीय आदि कर्मों के सर्वथा नष्ट हो जाने को क्षय कहा जाता है। कर्मों के क्षय से होनेवाली आत्मा की अवस्था क्षायिक भाव कहलाती है। इसे आप और अधिक स्पष्टता से समझें। फिटकरी से मिट्टी नीचे जम जाने के पश्चात आपने धीरे-धीरे पानी छान लिया। छानने के बाद आपने पुनः उस पानी में फिटकरी डाली, शोधक मसाले डाले और उसे अग्नि पर उबाला। अब वह पानी बिलकुल मल-रहित बन गया। यह क्षायिक अवस्था है। हमारी आत्मा भी कर्मों को नष्ट करते-करते जब पूर्ण रूप से उन्हें नष्ट कर देती है, अर्थात् उनके वापस उभरने की सारी संभावनाओं से मुक्त हो जाती है, तब आत्मा क्षायिक भाव को प्राप्त होती है।

क्षायोपशमिक भाव

चार घात्यकर्मोहज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय के विपाक वेद्याभाव को क्षयोपशम कहा जाता है। उससे होनेवाली आत्मा

की अवस्था क्षायोपशमिक भाव कहलाती है।

मान लें, आपने पानी में थोड़ी फिटकरी डाली। परिणामतः कुछ मिट्टी नीचे जम गई और और कुछ नहीं जमी। अर्थात् न तो पानी बिलकुल साफ ही हुआ और न ही बिलकुल गंदा रहा। यह मध्यम स्थिति है। कर्मों का उदय, कर्मों का क्षय और थोड़ा उपशमहृये तीनों बातें क्षायोपशमिक भाव में साथ-साथ चलती हैं। वर्तमान में हमारा भाव लगभग क्षयोपशमिक ही है। हमारा सम्यक्त्व, व्रत, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि सब क्षायिक नहीं, लगभग क्षायोपशमिक ही हैं। आप पूछेंगे, इस भाव से क्या लाभ है आत्म-उज्ज्वलता तो क्षायिक भाव की है, पर आंशिक उज्ज्वलता भी बहुत काम की है। इस आंशिक उज्ज्वलता की प्राप्ति करते-करते आत्मा एक दिन पूर्ण उज्ज्वलता की स्थिति में भी पहुंच सकती है। अर्थात् क्षायोपशमिक भाव से आगे बढ़ते-बढ़ते एक दिन आत्मा भाव को भी प्राप्त हो सकती है।

इस संदर्भ में एक बात और स्पष्ट करूं कि आत्म-उज्ज्वलता की दृष्टि से क्षायिक भाव और औपशमिक भाव में कोई अंतर नहीं है। अंतर केवल इतना ही है कि क्षायिक भाव की उज्ज्वलता स्थायी होती है, जबकि औपशमिक भाव की उज्ज्वलता क्षणिक या वार्तमानिक होती है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि तीनों भाव किन-किन गुणस्थानों में पाए जाते हैं। औपशमिक भाव की प्राप्ति चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक है। क्षायिक भाव चौथे गुणस्थान, से चौदहवें गुणस्थान तक प्राप्त होता है। क्षायोपशमिक भाव पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक है।

गंगाशहर

२५ अगस्त १९७८

४२ : भाव और कर्म

जीव के स्वरूपह्रभव की संक्षिप्त चर्चा कल मैंने की। भाव तीन होते हैं—औपशमिक, क्षयिक और क्षायोपशमिक। इन तीनों भावों का कर्मों से गहरा संबंध है। कर्मों के कारण ही आत्मा विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है। आज मैं इस बात पर चिंतन करना है कि तीनों भावों से कौन-कौन से कर्म संबद्ध हैं।

कर्म आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य नाम, गोत्र और अंतराय इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतरायह्रये चार कर्म आत्मा के मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य) की घात करनेवाले हैं। चूंकि ये चारों कर्म चेतना को आवृत करनेवाले हैं, इसलिए इन्हें घाती या घात्य कर्म कहा गया है अथवा सघन प्रयत्न के द्वारा ही इन कर्मों का घात हो सकता है, अतः इन्हें घनघात्य कर्म भी कहा जाता है। इन चारों कर्मों के आंशिक क्षय, उपशम और उदय से क्षायोपशमिक भाव प्राप्त होता है।

चारों घात्य कर्मों में भी मोहनीय कर्म प्रमुख है। आठों कर्मों में यही एक कर्म ऐसा है, जो आत्मा को विकृत बनाता है। औपशमिक भाव मोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होता है। यहां आपको इतना और जान लेना चाहिए कि आठ कर्मों से उपशम केवल मोहनीय कर्म का हो सकता है। यद्यपि चारों घात्य कर्म आत्मा के मूल गुणों को रोकनेवाले हैं, फिर भी मोहनीय कर्म को छोड़ कर शेष तीन कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय उपशमित नहीं होते। क्यों ? यह इसलिए कि उपशम का अर्थ ही है—दब जाता। दब जाने या ढक जाने से जो अवस्था प्राप्त होती है, वह कभी स्थायी नहीं हो सकती। इस स्थिति में यदि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय का उपशम हो तो इसका परिणाम यह होगा कि केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंत आत्मा-

ऊर्जाह्वये तीनों तत्त्व एक क्षण के लिए प्राप्त होंगे और पुनः समाप्त हो जाएंगे। पर ऐसी त्रिकाल में भी कभी होता नहीं। केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंत आत्म-ऊर्जाह्वये तीनों तत्त्व एक बार प्राप्त होने के पश्चात कभी वापस नहीं जाते। इसलिए मैंने कहा कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अंतरायह्वइन तीनों कर्मों का उपशम नहीं होता। उपशम मात्र एक मोहनीय कर्म का होता है। केवल कषाय दब सकता है, ज्ञान, दर्शन और वीर्यह्वये तीनों या तो आवृत होते हैं या अनावृत। उपशमनह्वदब जाने जैसे तीसरी अवस्था इनकी नहीं होती।

वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्रह्वये चारों भवोपग्राही कर्म हैं। ये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। पर ये हमारी आत्मा के मूल गुणों का घात करनेवाले नहीं होते। इनका संबंध आत्मा के साथ चौदहवें गुणस्थान तक बना रहता है। यानी वीतरा, सहयोग केवली और अयोगी केवली भी इन कर्मों से बंधे हुए होते हैं। संसार-मुक्ति के साथ ही आत्मा से इनका संबंध विच्छिन्न होता है। इसलिए इन कर्मों का भी कभी उपशम नहीं होता।

क्षायिक भाव आठों ही कर्मों के क्षय से प्राप्त होता है।

गंगाशहर

२६ अगस्त १९७८

४३ : औदयिक भाव

जीव के स्वरूप का विवेचन पिछले दो दिनों से चल रहा है। मैं मानता हूँ कि आत्मा के स्वरूप को पहचानना सर्वाधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहचाने बिना उसे पाना बहुत संभव है कि वह तो प्राप्त होगा नहीं और उसके स्थान पर कोई दूसरा ही तत्त्व मिल जाएगा। पाना दूध था और मिल जाएगा कहीं मूत्र।

एक वणिक एक ऐसे देश में व्यापारार्थ गया, जहां गाय नहीं थी। वह दूध पीने का आदी था, अतः अपने साथ एक गाय भी ले गया जब वह उस देश के राजा से व्यापार करने की अनुमति लेने गया तो साथ में भैंटस्वरूप दूध से भरा एक लोटा भी ले गया। चूंकि राजा ने दूध कभी देखा नहीं था, अतः उसने साश्चर्य पूछाह 'यह सफेद-सफेद क्या है?' व्यापारी ने कहाह 'यह हमारे देश का अमृत है। इसे पीने से शरीर स्वस्थ और बलिष्ठ बनता है।'

राजा ने दूध पिया और पीते ही उसका मन तृप्त हो गया। उसके मन में इस विचित्र पेय पदार्थ के प्रति अत्यधिक आकर्षण पैदा हो गया। उसने व्यापारी से इस अमृत की प्राप्ति के बारे में जिज्ञासा की। व्यापारी ने कहाह 'महाराज ! यह अमृत एक वृक्ष का फल है; और बड़ी बात यह है कि इसका एक ही वृक्ष कई तरह के फल देता है।'

व्यापारी राजा को खुश रखने के लिए दूध से निष्पन्न पदार्थहदही, रबड़ी, मलाई, कलाकंद, संदेश आदि राजमहल में पहुंचाने लगा। राजा उन चीजों को खा-खाकर अत्यंत खुश होता। उनकी सराहना करते-करते नहीं अघाता।

राजा ने प्रसन्न होकर वणिक को व्यापार के लिए अपेक्षित सभी प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर दीं। प्राप्त सुविधाओं का समुचित उपयोग करते हुए वणिक ने चारों ओर व्यापार फैलाया। भाग्य ने उसका साथ

दिया। परिणामतः कुछ ही दिनों में वह मालामाल हो गया। अब उसे अपने देश की याद सताने लगी। उसने अपना सारा व्यापार समेटा और अपने देश लौटने की तैयारी कर ली। रवाना होने से एक दिन पूर्व कृतज्ञता करने एवं स्वदेश लौटने की सूचना देने वह राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। राजा ने उसे मार्ग में आवश्यक सुरक्षा-प्रबंध का आश्वासन दिया और प्रतिदिन नए-नए खाद्य पदार्थ भिजवाने के लिए धन्यवाद। वणिक जब रवाना होने लगा तो राजा ने पूछाह 'तुम्हारा वह वृक्ष कहां है?' वणिक ने करबद्ध उत्तर दियाह 'यहीं मेरे घर पर।' राजा ने कहाह 'क्या तुम जाते समय उसे मेरे बगीचे में लगा जाओगे ?' वणिक बोलाह 'यह तो मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात होगी। फिर इसमें कोई कठिनाई भी नहीं है। वह वृक्ष बड़े गजब का है ! हमारी तरह की चलता-फिरता है। उसे जब जहां चाहें, तब वहां लगा सकते हैं।'

वणिक ने गाय को राजा के बगीचे में खड़ा कर दिया। राजा ने अपने कर्मचारियों को अदेश दिया कि इस वृक्ष की पूरी-पूरी सुरक्षा व चौकसी रखी जाए। जब भी यह कोई फल दे, उसे तत्काल मेरे समक्ष हाजिर किया जाए। कर्मचारियों ने आ शिरोधार्य की और बड़ी सजगत से फल की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर हुई कि गाय ने मूत्र किया। तत्काल कर्मचारियों ने उसे राजा के समक्ष पेश किया। राजा ने ऐसा फल तो कभी देखा नहीं था। तत्काल उसे चख। हालांकि बहुत-से लोग गो-मूत्र को पवित्र मनते हैं, तथापि उससे मुंह तो खराब हो ही जाता है। राजा का मुंह भी बिलकुल खराब हो गया। हालांकि उसे वणिक की नीयत पर थोड़ा संदेह हुआ, फिर भी सोचा कि इतनी जल्दी अविश्वास करन उचित नहीं, थोड़ी प्रतीक्षा और करनी चाहिए। कुछ ही देर पश्चात गाय ने गोबर किया। कर्मचारी पूर्ण सावधान थे। उन्होंने भी नीचे नहीं गिरने दिया। स्वर्ण-पात्र में झेल कर राजा के समक्ष हाजिर किया। राजा ने उसे चखा और चखते ही उसे उस वणिक पर इतना गुस्सा आया कि उसने आदेश दिया, तत्काल वणिक को पकड़ा जाए।

वणिक अभी दो-ढाई मील का फासला ही तय कर पाया था। तत्काल राजपुरुषों ने उसे पकड़कर राजा के समक्ष हाजिर किया। राजा ने आग-बबूला हो हुए कहाह 'भलाई क यह परिणाम! मैंने तुम्हें व्यापारार्थ इतनी सुविधाएं दीं, उसके बावजूद तुम्हारा मेरे साथ यह सलूक! ऐसा धोखा!'

वणिक राजा की नाराजगी का कारण जानता था। उसने बड़े शान्त और विनम्र स्वर में कहाह 'महाराज ! मैंने कोई धोखा नहीं दिया है। अच्छा, आप मुझे बताएं, वृक्ष ने फल दिए या नहीं ?' राज ने झुंझलाहट स्वर में कहाह 'फल तो दिए, पर दोनों ही बेकार और दुर्गन्धयुक्त। एक पीला-पीला और दूसरा हरा-हरा।' वणिक ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहाह 'महाराज ! मैं सब समझ गया। पर इसमें मेरा और वृक्ष का कोई दोष नहीं है। अभी मैं आपके सामने उसी वृक्ष का मीठा फल हाजिर करता हूँ।'

वणिक तत्काल बगीचे में गया। उसने गाय को दूहा। दूध को गर्म किया। उसमें मिश्री तथा केसर मिलाई। एक स्वर्ण-कटोरे में डालकर उसे राजा के समक्ष हाजिर किया। राजा ने दूध क एक घूंट लिया और वह तत्काल बोल उठाह 'यह तो वही फल है, जो प्रथम दिन लाए थे।'

राजा ने अपने व्यवहार के लिए वणिक से खेद व्यक्त किया। वणिक ने कहाह 'महाराज ! इसमें अपना तनिक भी दोष नहीं है। यह सब आपके कर्मचारियों के अज्ञान और नासमझी का परिणाम है। उन्हें न तो फलों की पहचान है और न ही उन्हें प्राप्त करने की विधि मालूम है।'

वणिक ने कुछ दिन रुककर गाय को दुहने एवं दूध से बननेवाले विभिन्न पदार्थों को तैयार करने की प्रक्रिया राजा के रसोइयों को सिखलाई। सारे फलों की जानकारी प्राप्त हो जाने के पश्चात राजा ने बहुत-सारा धन देकर उस वणिक को ससम्मान विदा किया।

इस कहानी के माध्यम से मैं यह बताना चाहता हूँ कि सबसे पहले हम आत्मा के स्वरूप को पहचानें। बिना पहचाने हम यथेष्ट फल को प्राप्त नहीं कर सकते। भगवान महावीर ने कहाह **पढमं नाणं तओ दयाह** पहले ज्ञान, फिर आचरण। ज्ञान के बिना आचरण हो तो सकता है, पर यह कोई जरूरी नहीं कि वह सम्यक ही हो। वह असम्यक भी हो सकता है। और उसकी ही संभावना ज्यादा है। पर ज्ञानी का आचरण सदा सम्यक ही होता है। वह असम्यक आचरण नहीं कर सकता।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकहइन तीन भावों की चर्चा मैंने पिछले प्रवचनों में की। तीनों आत्माए के स्वरूप हैं। आत्मा के सिवाय ये तीनों अवस्थाएं अन्यत्र अप्राप्य हैं।

प्रश्न पूछा जा सकता है, कि औपशमिक, क्षायिक और

क्षायोपशमिक भाव के अतिरिक्त भी क्या आत्मा के और स्वरूप होते हैं।

औदयिकपारिणामिकावपि ।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव के अतिरिक्त औदयिक एवं पारिणामिक भाव भी आत्मा के स्वरूप हैं।

औदयिक भव

उदीरणाकरणेन स्वभावरूपेण वा अष्टानामपि कर्मणामनुभवावस्था उदयः तेन निर्वृत्तो भाव औदयिकः ।

पूर्व संचित कर्मों का उदीरणाकरण के द्वारा या काल-परिपाक से सहजरूप से फल भोगने के रूप में जो अनुभव किया जाता है, उसे उदय कहते हैं। उदय से होनेवाली आत्मा की अवस्था को औदयिक भाव कहा जाता है। इसे आप एक स्थूल उदाहरण से समझें। किसी व्यक्ति ने चोरी की। कालांतर में वह पकड़ा गया। न्यायाधीश ने उसे आजीवन कारावास की सजा सुना दी। अब वह कारागृह में बंद रहता है। कारागृह में वह जिस दुःख अनुभव कर रहा है, वह उसके चोरी के द्वारा संचित पाप का उदय है।

सुकृत और दुष्कृत : एक मीमांसा

इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। कुछ लोग इस आशय की बात कह दिया करते हैं कि आजकल तो पापी-दुराचारी लोग मौज करते हैं, गुलछर्रे उड़ाते हैं, जबकि धार्मिक व्यक्ति कष्ट पाते हैं, तकलीफ उठाते हैं। इस स्थिति में धर्मक्रिया करना बेकार है। दुराचरण ही लाभकारी है। मैं मानता हूँ, यह एक प्रकार का अज्ञान है, दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। यद्यपि सदाचारी, ईमानदार और धर्मनिष्ठ व्यक्ति जब दुःख की जिंदगी बसर करता है और उम्र-भर पाप-कर्मों में संलग्न व्यक्ति भौतिक सुखों को प्राप्त करता है, तब सामान्य व्यक्ति के दिमाग में ऐसी भावना का पैदा होना अस्वाभाविक नहीं है। किंतु यहां समझने की बात है कि कोई भी धार्मिक व्यक्ति आज कष्ट भाग रहा है तथा कोई पापी-दुराचारी व्यक्ति मौज करता है, ये दोनों ही स्थितियां क्रमशः उस धार्मिक व्यक्ति के अज के सुकृत एवं उस पापी-दुराचारी व्यक्ति के आज के दुष्कृत के फलस्वरूप नहीं, प्रत्युत उस धार्मिक व्यक्ति के पूर्वकृत दुष्कृत एवं उस अधार्मिक व्यक्ति के पूर्वकृत सुकृत द्वारा संचित और शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप हैं। हमें यहां यह बात भी समझ लेनी

चाहिए कि आज व्यक्ति जो दुष्कृत य सुकृत कर रहा है, उसका परिणाम उसे आज ही मिलेहयह कोई आवश्यक नहीं है। आज के सुकृत व दुष्कृत से जिन कर्मों का बंधन होगा, वे कर्म जब काल-परिपाक से उदय में आएंगे, तब उनका फल मिलेगा। आप इसे उदाहरण से समझें। आपने अभी दवा ली। दवा पेट में गई। पेट में जाकर वह रोग से लड़ेगी और फिर जाकर फल के रूप में आपको स्वास्थ्य प्रदान करेगी। अभी आपने भोजन किया। पर भोजन करते ही उसका परिपाक नहीं हे जाता। उसमें समय लगता है। पहले वह अमशय में जाता है। अमाशय से छोटी आंत में जाता है। उसका सारभूत तत्त्व खून में मिलता है और शेष बचा भोजन मल के रूप में बड़ी आंत में जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि हर चीज काल-परिपाक पाकर ही अपना फल देने में सक्षम बनती है। आज जो पापी या दुश्चरित्र व्यक्ति सुख-सुविधाएं प्राप्त कर रहा है, उसका अर्थ यह है कि उसने अपने अतीत में कुछ सुकृत करके शुभ कर्मों का संचय किया था और अब वे उदय में आए हैं। इसी प्रकार चरित्रसंपन्न या धर्मनिष्ठ व्यक्ति यदि आज कष्ट प्राप्त करता है तो इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि उसने अपने पूर्व जन्मों में अवश्य कुछ ऐसे दुष्कृत किए थे, जिनके कारण अशुभ कर्मों का बंधन हो गया और अब वे काल-परिपाक के साथ उदय भी आए हैं।

जब दवा रोग से अधिक शक्तिशाली हो

प्रस्तुत संदर्भ में एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि अतीत में संचित अशुभ कर्म क्या सुकृत से समाप्त नहीं हो जाते। हां, हो सकते हैं। पर होंगे उसी अवस्था में जब व्यक्ति का सुकृत दुष्कृत से तेज हो। यदि सुकृत दुष्कृत से क्षीण है तो दुष्कृत द्वारा संचित अशुभ कर्म नष्ट नहीं होंगे। दवा से रोग शांत होता है, पर होता उसी स्थिति में है, जब दवा रोग से अधिक शक्तिशाली हो। साधारण दवा तीव्र रोग को शांत नहीं कर पाती।

निकाचित कर्म तपस्या से नहीं टूटते

कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं उन्हें निकाचित कर्म कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो फिर हमारे त्यागी-तपस्वी साधु, अचार्य, उपाध्याय, केवली, तीर्थंकर आदि को कष्ट क्यों भुगतनी पड़े ? उनकी तपस्या-साधना कोई सामान्य तो नहीं होती। वस्तुतः उनके भी कुछ ऐसे

निकाचित कर्म होते हैं, जो तीव्र तपस्या से भी नहीं टूटते। आप अपने व्यावहारिक जीवन में इस बात को अनुभव कर सकते हैं। क्या आपने नहीं देखा कि किसी-किसी व्यक्ति का ऐसा रोग हो जाता है, जिस पर सारे उपचार निरर्थक साबित होते हैं ? उस बीमारी को भुगतना ही पड़ता है। यही स्थिति निकाचित कर्मों की है।

कर्म-बंधन और मनोभाव

एक बात यहां और स्पष्ट कर देना मैं आवश्यक समझता हूं। कर्म-बंधन में व्यक्ति की हर अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के साथ-साथ उसके मनोभावों की भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। ऊपर के व्यवहार या आचरण से जो व्यक्ति हमें तपस्वी, ध्यानी, मौनी, साधक प्रतीत होता है, वह भी अपने मनोभावों की मलिनता के कारण प्रगाढ़ अशुभ कर्मों का बंधन कर लेता है। ठीक इसके विपरीत एक व्यक्ति जो सामान्य लोगों की दृष्टि में बहुत बुरा कार्य करता है, पापाचरण करता है, वह अपने आत्म-भावों की विशुद्धि के फलस्वरूप प्रगाढ़ अशुभ कर्म-बंधन से बच जाता है।

वेश्या स्वर्ग में !

मैंने एक कहानी पढ़ी थी। किसी बड़े शहर के बाहरी भाग में एक वेश्या रहा करती थी। उसके मकान के ठीक सामने एक संन्यासी की कुटिया थी। वर्षों तक वे आमने-सामने रहे और संयोग से उन दोनों की मृत्यु भी लगभग एक समय में हुई। दोनों साथ-साथ ही धर्मराज के दरबार में पहुंचे। सबको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि धर्मराज ने संन्यासी को नरक और व्यभिचारिणी वेश्या को स्वर्ग भेजने का आदेश दिया। बाबा ने धर्मराज से कहा 'महाराज ! लगता है खाता देखने में कोई भूल रह गई है। मैंने उम्र-भर तपस्या की, साधना की, ब्रह्मचर्य का पालन किया.....इसलिए मुझे स्वर्ग मिलना चाहिए। नरक तो इस वेश्या को मिलना चाहिए, जो आजीवन पापाचरण में आकंठ डूबी रही।' वेश्या को भी बाबा की बात न्यायोचित लगी। पर धर्मराज ने कहा 'मेरा निर्णय अटल है। उसमें कोई भी परिवर्तन होनेवाला नहीं है।' उपस्थित लोगों ने पूछा 'महाराज ! आखिर इस निर्णय का आधार क्या है ?' धर्मराज ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा 'यह ठीक है कि बाबा उग्र तपस्या करता था, जीवन-पर्यंत ब्रह्मचारी भी रहा, पर इसका मन साफ नहीं

था। वेश्या के पास अच्छे-अच्छे आदमियों को जाते देख इसके मन में ईर्ष्या की आग सुलगती रहती। यह सदा वेश्या पर कुढ़ता रहता यह कैसी पापिन है, जो सब लोगों को भ्रष्ट करती है ! इस मानसिक मलिनता के कारण इसकी सारी तपस्या, ब्रह्मचर्य-साधना निस्तेज हो गई। साथ ही अशुभ कर्मों का प्रगाढ़ बंधन हो गया। अतः इसे नरक में जाना पड़ेगा।’

वेश्या को स्वर्ग में भेजने का आधार बताते हुए धर्मराज ने कहाह ‘यद्यपि यह जीवन भर पापाचरण करती रही, नारकीय जिंदगी जीती रही, फिर भी इसकी भावना बड़ी ऊंची थी। यह सदा अपने बुरे आचरण के लिए अपनी आत्मा की निंदा करती रहती। बाबा को देखकर बराबर सोचती कि यह बाबा कितनी त्याग-तपस्या की जिंदगी बिताता है ! वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जिस दिन इस गंदगी से निकलकर मैं भी ब्रह्मचर्य में उपस्थित हाऊंगी और त्याग-तपस्या से आत्मा को भावित करूंगी। अपनी इस शुद्ध भावना के कारण पापाचरण में रत रहती हुई भी यह प्रगाढ़ अशुभ बंधन से बच गई। परिणामतः यह स्वर्ग में जाने की अधिकारिणी।’

इस कहानी का सार आप समझ गए होंगे। कर्मों के बंधन में केवल दीखनेवाली अच्छी या बुरी प्रवृत्ति एकमात्र कारण नहीं है, अपितु भावना का भी बहुत निकट का संबंध। इसलिए मैं आप लोगों से यह विशेष बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि आप हर प्रवृत्ति करने में अपने भावों को यथासंभव शुद्ध रखने का प्रयास करें।

अब मैं पुनः अपनी उसी बात पर आता हूँ, कर्म सदा काल का परिपाक पाकर ही प्राणी को फल देने में समर्थ होते हैं। अतीत में व्यक्ति ने जो कर्म-बंधन किया है, वह काल-परिपाक से सुख-दुःख के रूप में आज फल दे रहा है और वर्तमान में उसके द्वारा जो कर्म-बंधन किया जा रहा है, उसका परिणाम उसके परिपाक होने पर उसे मिलेगा। इसलिए धार्मिक व्यक्ति को वर्तमान के कष्ट देखकर अपना धैर्य कभी खोना नहीं चाहिए।

संतुलन की एक नजीर

मैं तो यह भी मानता हूँ कि परीक्षा सदा धार्मिक, धीरों और वीरों की होती है। अधार्मिकों, अधीरों और कायर-कमजोरों की कैसी परीक्षा !

कैसी कसौटी ! क्या आपने कभी कांच और कोयले को कसौटी पर चढ़ते देखा है ? कसौटी पर तो हीरा और हेम ही चढ़ सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन सबको कठिन परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है। कठिन परिस्थितियों से निकलने पर उनके व्यक्तित्व में शतगुणित निखार आया है।

बंधुओ! मुसीबतें और कठिन परिस्थितियां तो संसार के हर मनुष्य के जीवन में आती हैं। यह दूसरी बात है कि किसी व्यक्ति के जीवन में उनकी मात्रा अल्प होती है और किसी व्यक्ति के जीवन में उनकी मात्रा अधिक। पर ऐसा व्यक्ति खोजना असंभवप्रायः है, जिसके जीवन में सर्वथा उतार-चढ़ाव न आया हो। अलबत्ता इतना फर्क जरूर पड़ता है कि जहां सामान्य व्यक्ति उतार-चढ़ावों में अपने संतुलन को खो देता है और बहुत जल्दी अधीर बन जाता है, वहीं महान व्यक्ति दृढ़ता के साथ हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति से मुकाबला करता है और अपने संतुलन को बनाए रखता है। दूसरे शब्दों में हम इस बात को यों भी कह सकते हैं कि अनुकूलता एवं प्रतिकूलताहृदोनों ही परिस्थितियों में एक समानहृमध्यस्थ बने रहने के कारण ही वह महान है। कवि ने कितना सुंदर कहा हैहृ

उदये सविता रक्तो, रक्तश्चास्तमये तथा।

संपत्तौ च विपत्तौ च, महतामेकरूपता ॥

हृ जिस प्रकार सूर्य उदय एवं अस्त दोनों ही समय में अग्नि-पिंड की तरह लाल होता है, उसी प्रकार महापुरुष भी संपत्ति और विपत्तिहृलाभ और अलाभ दोनों ही स्थितियों में एकरूप रहते हैं।

दशरथ कहते हैंहृ

आहूतस्याभिषेकाय, विसृष्टस्य वनाय च।

न लक्षितो मया तस्य, स्वल्पोप्याकारविभ्रमः ॥

हृ राम को मैंने राज्याभिषेक के लिए आमंत्रित किया या वन जाने के लिएहृइन दोनों ही परिस्थितियों में उसके चेहरे पर वही सहजता दिखाई दी, जो सदा रहती है। राज्याभिषेक के प्रिय आमंत्रण पर उसके चेहरे पर कोई अतिरिक्त प्रसन्नता नहीं और वन जाने के अप्रिय आमंत्रण पर उसके चेहरे पर कोई विषाद

की रेखा नहीं। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों में वह बिलकुल मध्यस्थ रहा।

आप कहेंगे, यह समता बहुत कठिन है। मैं भी मानता हूँ, यह कोई सरल काम नहीं है। पर इसके साथ ही यह भी मानता हूँ कि यदि व्यक्ति को महान बनना है तो उसे इस तत्त्व को स्वीकार करना ही होगा। अन्यथा वह महान की कोटि में नहीं आ सकता आप टटोलें अपने-आपको। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में आप स्वयं को किसी सीमा तक संतुलित रख पाते हैं ?

कुछ लोग कहते हैं, संतों का जीवन बड़ा कष्टमय है। उनके भोजन का ठिकाना नहीं, पानी का ठिकाना नहीं, रहने के स्थान के स्थान का ठिकाना नहीं...ठीक है, संतों को जीवन कठिनाइयों का जीवन है। पर उन्हें सदा अभाव में ही रहना होता है, ऐसी कोई बात नहीं है। जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री उन्हें भी मिलती है। और मुझे तो ऐसा लगता है कि कई बार तो आप लोगों से भी अच्छी सामग्री उन्हें प्राप्त होती है, क्योंकि लोगों के मन में संतों के प्रति अपार श्रद्धा/भक्ति है। इस श्रद्धा/भक्ति के कारण वे अपनी अच्छी-से-अच्छी वस्तु संतों को देकर प्रसन्नता की अनुभूति करते हैं। हां, कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी उपस्थिति होते हैं, जब उनकी साधना की पूरी-पूरी कसौटी भी होती है। ऐसा भोजन और ऐसा पानी खा-पीकर भी उन्हें काम चलाना पड़ता है, जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते।

मैं अपने जीवन का एक घटना-प्रसंग सुनाऊँ। मैं यात्रा पर था। रास्ते में मुझे भयंकर प्यास लग गई। मैंने संतों से कहा 'पानी की खोज करो।' संतों ने इधर-उधर काफी खोज की, पर कहीं भी प्रासुक पानी प्राप्त नहीं हुआ। आखिर एक साधु घूमता-घूमता एक प्रजापत के घर पहुंचा। वहां उसने एक घड़े में थोड़ा प्रासुक पानी पाया। पर वह भी पीने योग्य नहीं था, क्योंकि घड़े में पानी कम और मिट्टी ज्यादा थी। मुझे सूचित किया गया। मैंने कहा 'जैसा मिले, वैसा ही ले आओ।' वह साधु उस मिट्टीमिश्रित पानी को लेकर आया और मैंने वह पानी पिया। आज तक भी मुझे उस दिन की वह प्यास याद है।

बंधुओ! ऐसे प्रसंग मेरे जीवन में कई बार उपस्थित हुए हैं। यद्यपि मैं साधक हूँ और साधनाकाल में कठिन परिस्थितियों में विषमता का

आना कोई स्वाभाविक बात नहीं है, तथापि मुझे इस बात का संतोष है कि कठिन परिस्थितियों में भी मैं अपने संतुलन को बनाए रख सका हूँ, अपने-आपको संभाल कर रख सका हूँ। उन क्षणों में मैंने बराबर यह सोचा है कि हम साधक हैं। हमारा संकल्प हैह्रभाव और अभावहदोनों ही स्थितियों में हम अपनी मानसिक समाधि बनाए रखेंगे। उसे खंडित नहीं होने देंगे। खाने-पीने को मिलेगा तो समभावपूर्वक खाएंगे और नहीं मिलेगा तो समभावपूर्वक भूख-प्यास को सहन करेंगे।

मैं तो इस बात का भी समर्थक हूँ कि व्यक्ति के जीवन में कठिन परिस्थितियां अवश्यमेव आपनी चाहिए, क्योंकि तभी उसके धैर्य और तितिक्षा का पता चलता है। अनुकूलता में शांत रहना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात तब है, जब मन के प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी व्यक्ति शांत बना रहे। आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में एक बहुत ही सुंदर दृष्टांत प्रस्तुत किया हैह्र

अल्लाह की गाय

सास अपने दामाद की बड़ाई करते-करते नहीं अघाती। जब-कभी प्रसंग चल पड़ता, वह बोल उठतीह्र‘मेरा दामाद तो अल्लाह की गाय है। कुछ भी खिला दो, वह कभी एक शब्द नहीं बोलता।’ एक दिन कुछ लोगों ने पूछाह्र‘बुढ़िया ! आखिर तू अपने दामाद को खिलाती क्या है ?’ बुढ़िया बोलीह्र‘कभी हलुआ, कभी रबड़ी, कभी बर्फी, कभी कलाकंद.....’ उसकी बात बीच में काटते हुए लोग बोलेह्र‘प्रतिदिन मनोनुकूल भोजन मिलता है, तब तेरा दामाद क्यों बोले ? एक दिन ठंडी रोटी और ठंडी घाट खिला, तब परीक्षा होगी कि वह कितना शांत है।’ बुढ़िया ने कहाह्र‘उसे कुछ भी खिलाओ, कोई फर्क पड़नेवाला नहीं है।’ लोगों ने कहाह्र‘अच्छी बात है, कुछ भी फर्क न पड़े, पर एक दिन हमारे कहने से यह प्रयोग करके तो देख।’

बुढ़िया ने दूसरे दिन वैसा ही किया। दामाद ने ज्यों ही ठंडी रोटी और ठंडी घाट देखी, वह आगबबूला हो उठा। थाली को ठोकर मारकर तत्काल वहां से उठ गया और सास को गालियां बकने लगा।

सायं लोग मिले। बुढ़िया का चेहरा उदास था। लोगोंने पूछाह्र‘क्यों बुढ़िया ! क्या हाल-चाल है ?’ बुढ़िया ने अपनी अवधारणा में संशोधन करते हुए कहाह्र‘तुम लोग बिलकुल ठीक कह रहे थे। एक

दिन में ही उसकी पूरी परीक्षा हो गई। आज एक दिन थोड़ा-सा मन के प्रतिकूल भोजन दिया कि दामाद तो बिलकुल आप से बाहर हो गया और इतने दिनों से लगातार खा रहे मनोनुकूल भोजन को भूल गया।’

बंधुओ! सचमुच यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि आदमी साल में तीन सौ चौंसठ दिन सुखी रहता है और एक दिन दुखी होता है तो तीन सौ चौंसठ दिनों के सुख को भूल जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण स्पष्ट है। जीवन में समता का अभ्यास नहीं है। अपेक्षा है, व्यक्ति समता का अभ्यास करे। समता ही हमें अपनी मंजिल तक पहुंचानेवाला सही राजपथ है। राजपथ प्राप्त करके भी जो व्यक्ति कंटकाकीर्ण और टेढ़ी-मेढ़ी पगंडियों में भटक जाता है, वह अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच पाता। जीवन का सही आनंद प्राप्त करने के लिए आप लोगों को आज से ही सजग होना है, इसी क्षण से सजग होना है। इसी में जानव-जीवन की सार्थकता है।

गंगाशहर

२७ अगस्त १९७८

४४ : औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव के प्रकार

औदयिक भाव की चर्चा कल के प्रवचन में मैंने प्रारंभ की थी। प्रायः कहा जाता है—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभमूलकृतं कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, उसे अवश्य भोगना पड़ता है। यानी जिन कर्मों का जीव बंधन करता है, वे निश्चित ही कभी-न-कभी उदय में आते हैं। पर इस संबंध में एक-दो बातें समझ लेना आवश्यक हैं। सभी कर्म उदय में आते हैं, पर फल देने की शक्ति सबमें नहीं होती। फल वे ही कर्म देते हैं, जो विपाकोदय में आते हैं। प्रदेशोदय में समाप्त हो जानेवाले कर्म निष्फल हो जाते हैं। दूसरी बात—जिन कर्मों का जीव आज बंधन करता है, उसी समय उदय में आ जायें—यह कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है। सभी कर्मों के उदय होने का एक नियत काल होता है और उसी नियत काल के अनुसार वे उदय में आते हैं। पर प्रक्रियाविशेष के द्वारा हम नियत समय के अनुसार बाद में उदय में आनेवाले कर्मों को खींचकर पहले भी उदय में ला सकते हैं। जैन-दर्शन में इसे उदीरणा की संज्ञा दी गई है। इसे एक दाहरण से समझा जा सकता है। प्राचीन काल में आम के वृक्ष बारह वर्षों से फलवान होते थे। पर आज कलमी आम के वृक्ष बहुत कम समय में ही फल देने लगे हैं। यह कलम का प्रयोग काल की उदीरणा में एक सहकारी कारण बना है। एक व्यक्ति आराम से जी रहा है। पर उदीरणा के द्वारा वह बाद में उदय में आनेवाले असातवेदनीय कर्मों को अभी उदय में ला सकता है। वस्तुतः उदीरणा एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसके सहारे हम अपने पूर्वसंचित कर्मों का बहुत अल्पकाल में नष्ट कर सकते हैं। त्याग, तपस्या, साधना आदि उसी के लिए तो हैं। केशलुंचन, पदयात्रा, रात्रि-भोजन-परित्याग आदि साधु जीवन की बहुत-सी क्रियाओं से भी कर्मों की उदीरणा होती है। प्रायश्चित्त और शुभ अध्यवसाय भी उदीरणा के साधन हैं। अशुभ मनःपरिणाम से जीव जहां सातवीं नरक में जाने के योग्य कर्मों का बंधन

कर लेता है, वहीं शुभ अध्यवसाय के द्वारा वह तत्काल उन्हें नष्ट भी कर सकता है।

पारिणामिक भाव

स्वस्वभावे परिणमनं परिणामः। तेन निर्वृत्तः स एवा वा भावः पारिणामिकः।

भावों के क्रम में अंतिम भाव है पारिणामिक भाव। अपने-अपने स्वभाव में परिणत होना परिणाम कहलाता है। परिणाम से होनेवाली आत्मा की अवस्था या परिणाम को ही पारिणामिक भाव कहा जाता है। बैठना, सोना, खाना, पीना, रोना, हंसना आदि-आदि जीव के परिणाम हैं। इस प्रकार एक ही जीव के अनंत-अनंत पारिणामिक भाव होते हैं। एक व्यक्ति जब वह बालक होता है, तब उसमें बालकपन प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब वह युवक होता है। तब उसमें यौवन और जब वह बूढ़ा होता है, तब उसमें बुढ़ापा आता है। ये विभिन्न अवस्थाएं पारिणामिक भाव हैं।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन्हें पांच भावों को आपने समझा। पूछा जा सकता है कि हमारे में कितने भाव हैं। औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन्हें तीन भाव तो निश्चित हैं। औदयिक भाव इसलिए है कि अभी हमारे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठों कर्मों का उदय है। मन, बुद्धि, इंद्रियां, ज्ञान, साधुपन, श्रावकपन आदि हैं, इसलिए क्षायोपशमिक भाव है। हम अनेक अवस्थाओं में परिणमन कर रहे हैं, इसलिए पारिणामिक भाव है। औपशमिक और क्षायिक भाव भी हो सकते हैं। पर इनके विषय में निश्चित नहीं कहा जा सकता। ये दोनों भाव उसी स्थिति में हो सकते हैं, जब औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व हो।

प्रसंग विजयचंद्रजी पटवा का

पाली के विजयचंद्रजी पटवा आचार्य भिक्षु के अनन्य भक्त थे। आचार्य भिक्षु के प्रमुख चार श्रावकों में उनका अग्रणी स्थान है। पर स्वामीजी के भक्त बनने से पूर्व वे उनके कट्टर विरोधी भी थे। धर्म का सही तत्त्व प्राप्त करने के लिए उन्होंने स्वामीजी से काफी लंबी चर्चा की थी। स्वामीजी के समय चंद्रभानजी, तिलोकचंद्रजी आदि कुछ साधुओं का तेरापंथ संघ से संबंध-विच्छेद हो गया था। एक बार वे घूमते-फिरते पाली

आए। वहां वे काफी दिन ठहरे। अपने प्रवास-काल में उन्होंने इधर-उधर की गलत बातें कह-कहकर विजयचंदजी को तेरापंथ एवं आचार्य भिक्षु से विमुख करने का हर संभव प्रयास किया। लगता है, विजयचंदजी बड़े ही भद्र प्रकृति के व्यक्ति थे। किसी को कड़ा कहना शायद वे जानते ही नहीं थे। अतः चंद्रभानजी, तिलोकचंदजी आदि के बातें सर्वथा गलत जानते हुए भी उन्होंने उनका कोई प्रतिवाद नहीं किया। परिणामतः वहां के दूसरे-दूसरे श्रावकों ने यह अनुमान लगाया कि विजयचंदजी गण-पृथक साधुओं (टालोकरों) के बहकावे में आ गए हैं। इनकी श्रद्धा कमजोर हो गई है।

चंद्रभानजी आदि के पाली से विहार करने के कुछ ही दिनों पश्चात आचार्य भिक्षु का वहां पदार्पण हुआ। स्थानीय लोगों ने विजयचंदजी के प्रति अपने अनुमति संशय को स्वामीजी के सामने रखा। स्वामीजी को यद्यपि विजयचंदजी की श्रद्धा पर किंचित भी संदेह नहीं था, फिर भी लोगों के संदेह-निवारण के लिए वे विजयचंदजी से इस विषय में बात कर लेना उचित समझते थे। पर कठिनाई यह हो गई कि एक महीने के प्रवास में विजयचंदजी ने स्वामीजी की उपासना तो बहुत की, लेकिन इस संबंध में कोई बात ही नहीं की। इस स्थिति में एक दिन स्वामीजी ने स्वयं ही इस संदर्भ को छेड़ते हुए पूछाह 'विजयचंदजी ! इस बार यहां चंद्रभानजी, तिलोकचंदजी आदि टालोकर आए थे?' पटवाजी ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए कहाह 'हां, महाराज आए थे।' स्वामीजी ने पूछाह 'तुम्हारे से उनका सम्पर्क हुआ ?' पटवाजी बोलेह 'हां, महाराज ! हुआ था।' स्वामीजी ने कहाह 'उन्होंने मेरे तथा तेरापंथ के बारे में काफी आलोचनात्मक बातें कही होंगी।' पटवाजी ने कहाह 'हां महाराज! कही थीं।' स्वामीजी बोलेह 'तुमने मुझसे कुछ पूछा तो नहीं।' पटवाजी बोलेह 'क्या पूछूं, महाराज ! मेरे मन में दो बातों का दृढ़ विश्वास हैह आप इतने आत्मार्थी हैं कि स्वप्न में भी कभी आपने न्याय-पथ को छोड़ नहीं सकते और अनंत सिद्धों की साक्षी से किए त्यागों को तोड़कर गण से पृथक होनेवाले साधु (टालोकर) कभी झूठ बोले बिना रह नहीं सकते।'।

विजयचंदजी के यह उत्तर सुनकर स्वामीजी ने उपस्थित साधुओं और श्रावकों को लक्ष्य कर कहाह 'लगता है, विजयचंदजी, क्षायिक सम्यक्त्व के धनी हैं।'।

बंधुओ! क्षायिक सम्यक्त्व आज भी हो सकता है। उसकी कोई नास्ति नहीं है। पर चाहिए उसके लिए दृढ़ आत्मबल और घनीभूत श्रद्धा।

पांच भावों के विभिन्न प्रकार

पांच भावों की संक्षिप्त चर्चा के पश्चात अब आप उनके विभिन्न प्रकारों को भी समझें।

औपशमिकस्य सम्यक्त्व चारित्रे।

औपशमिक भाव के दो प्रकार हैंह्र१. औपशमिक सम्यक्त्व
२. औपशमिक चारित्र।

औपशमिक सम्यक्त्वह्रतत्त्व के प्रति अल्पकालीन (अंतर्मुहूर्त) यथार्थ श्रद्धा। यह स्थिति दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होती है। चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक यह स्थिति प्राप्त हो सकती है।

औपशमिक चारित्रह्रअल्पकालीन (अंतर्मुहूर्त) वीतरागता। चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम से यह स्थिति उपलब्ध होती है। मात्र ग्यारहवें गुणस्थान में यह स्थिति प्राप्त होती है।

क्षायिकस्य ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्व-चारित्र-अप्रतिहतवीर्यादयः।

क्षायिक भाव के आठ प्रकार हैंह्र१. केवलज्ञान २. केवलदर्शन
३. आत्मिक सुख/असंवेदन ४. क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र
५. अटल अवगाहन ६.अमूर्तित्व ७. अगुरुलघुत्व ८. अप्रतिहत शक्ति।

चूंकि क्षय आठों ही कर्मों का होता है, इसलिए क्षायिक भाव आठों ही कर्मों के नष्ट होने से प्राप्त होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के विलय से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन, वेदनीय कर्म के टूटने से आत्मिक सुख/असंवेदन, मोहनीय कर्म के टूटने से क्षायिक सम्यक्त्व और वीतरागता (क्षायिक चारित्र), आयुष्य कर्म के क्षय से अलट अवगाहन, नाम कर्म के विलय से अमूर्तित्व, गोत्र कर्म के नष्ट होने से अगुरुलघुत्व एवं अंतराय कर्म के विलय से अनंत आत्मा-ऊर्जा की प्राप्ति होती है।

क्षायोपशमिकस्य ज्ञानाऽज्ञान-दर्शन-चारित्र-संयमासंयमवीर्यादयः।

क्षायोपशमिक भाव के प्रकार हैंह्रज्ञान, अज्ञान, दर्शन, दृष्टि, चारित्र, संयमासंयम, शक्ति आदि।

ज्ञानहकेवलज्ञान को छोड़कर ज्ञान के शेष चार प्रकारहमति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। हमारा, आपका और वैज्ञानिकों का भी ज्ञान क्षयोपशजन्य ही है।

अज्ञानहमति, श्रुत और विभंगहअज्ञान की तीनों प्रकार भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। पर यहां अज्ञान ज्ञान के अभाव का नाम नहीं, अपितु मिथ्यात्वी के ज्ञान का सूचक है। ज्ञान जब मिथ्यात्वी के पास होता है तो वह अज्ञान कहलाता है।

दर्शनहकेवलदर्शन को छोड़कर दर्शन के शेष तीनों प्रकारहक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उपलब्ध होते हैं।

दृष्टिहतत्त्व-श्रद्धा का नाम दृष्टि है। दृष्टियां तीन हैंहसम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि। ये तीनों क्षायोपशमिक भाव हैं। पर इस संदर्भ में एक-दो बातें और ज्ञातव्य हैं।

सम्यग्दृष्टि औपशमिक एवं क्षायिक भाव भी है, जिनका संक्षिप्त विश्लेषण मैं पहले कर चुका हूँ। पर यहां जिस सम्यग्दृष्टि की चर्चा है, वह उन दोनों से भिन्न है। वह सम्यग्दृष्टि दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। वर्तमान में जो सम्यग्दृष्टि है, वह बहुलांश में क्षायोपशमिक ही है। अनंतानुबंधी कषाय-चतुष्कहक्रोध, मान, माया व लोभ (चारित्रमोहनीय) तथा दर्शन-मोहनीयत्रिकहमिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय के क्षयोपशम से वह प्राप्त होती है।

आप लोग इस बात पर गहराई से ध्यान दें कि प्राणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ की विद्यमानता में कभी सम्यग्दृष्टि को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् जिन लोगों का क्रोध पेट्रोल की आग की तरह भड़कता है, मान अमरबेल की तरह वृद्धिगत होता है, माया प्रत्येक प्राणी को अपने चंगुल में फंसा उसका अस्तित्व समाप्त करना चाहती है और लोभ संपूर्ण संसार के धन को बटोरना चाहता है, वे सम्यक्त्व के लिए अपात्र हैं।

मिथ्यादृष्टि के दो प्रकार हैंहविपरीत श्रद्धा एवं यत्किंचित यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा। विपरीत श्रद्धा औदयिक भाव है। वह दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होती है।

मिथ्यात्वी की यत्किंचित यथार्थ श्रद्धा क्षायोपशमिक भाव है।

मिथ्यात्वी के पास होने के कारण वह मिथ्यदृष्टि कहलाती है। प्रस्तुत संदर्भ में इसी मिथ्यादृष्टि का उल्लेख है।

कुछ यथार्थ और कुछ अयथार्थ तत्त्व-श्रद्धा मिश्रदृष्टि कहलाती है। इसमें अयथार्थ श्रद्धा तो औदयिक भाव ही है, पर यथार्थ श्रद्धा क्षायोपशमिक भाव है। प्रस्तुत संदर्भ में यथार्थ श्रद्धा की अपेक्षा से इसे क्षायोपशमिक भाव माना गया है।

चारित्रहृच्छे से दसवें गुणस्थान तक का चारित्र (साधुत्व) भी क्षयोपशमजन्य है। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम के बिना यह प्राप्त नहीं हो सकता।

संयमासंयमह संयमासंयम काह तात्पर्यहै श्रावकपन। श्रावक ने पूर्णतः व्रती/संयमी होता है और न पूर्णतः अव्रती/असंयमी। यानी वह कुछ व्रती/संयमी और कुछ अव्रती/असंयमी होता है। इसलिए उसे व्रताव्रती या संयमासंयमी कहा गया है। व्रत/संयम की अपेक्षा से श्रावकपन को क्षायोपशमिक भाव माना गया है। यह भी चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम है।

शक्तिह हम सब में जो आंशिक आत्म-ऊर्जा प्रगट है, वह अंतराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त है।

बंधुओ! यह क्षायोपशमिक भाव इस संसार के हर एक प्राणी (बारहवें गुणस्थान तक) के प्राप्त है। आप पूछेंगे कि क्या मिथ्यात्वी में भी क्षायोपशमिक भाव है। मैं पूछता हूं, क्या मिथ्यात्वी जीव नहीं होता ? आप निश्चित मानें, संसार का प्रत्येक प्राणी, चाहे वह देव हो या नरक, मनुष्य हो तिर्यच, व्रस हो या स्थावर, सूक्ष्म हो या बादर, संज्ञी हो या असंज्ञी, हिन्दू हो या मुलसमान, स्त्री हो या पुरुष, मिथ्यात्वी हो या सम्यक्त्वी.....ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणों के न्यूनतम अंश से अवश्य संपन्न होता है। आत्मगुणों के आंशिक विकास के अभाव में जीव का अस्तित्व ही नहीं है। यह आत्मगुणों का आंशिक विकास क्षायोपशमिक भाव के बिना ही नहीं सकता।

गंगाशहर

२८ अगस्त १९७८

४५ : औदयिक भाव से प्रकार (१)

भावों का विवेचन पिछले तीन-चार दिनों से आप बराबर सुन रहे हैं। मैं मानता हूँ, भावों का ज्ञान अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि उस ज्ञान के माध्यम से हमारी बहुत-सी वैचारिक समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। बहुधा यह प्रश्न सामने आता है कि मनुष्य का उत्थान या ह्रास क्यों होता है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से सोच सकता है। पर मैं मानता हूँ, इसका वास्तविक समाधान भावों को समझने से प्राप्त होगा। व्यक्ति के उत्थान-पतन में दूसरी-दूसरी अनेक चीजें निमित्त बन सकती हैं, पर मूल कारण व्यक्ति की स्वयं की आत्मा या उसके भाव ही हैं। यदि व्यक्ति अपने भावों पर नियंत्रण कर लेता है तो मानना चाहिए कि विकास व ह्रास पर उसकी नियंत्रण हो गया।

भगवान महावीर ने कहाह

**अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठय सुपट्ठओ।।**

ह स्वयं की आत्मा ही सुख और दुःख की कर्ता और विकर्ता है। वही मित्र है और वही शत्रु। दुष्प्रवृत्तियों/पापाचरण में संलग्न आत्मा शत्रु और सत्प्रवृत्तियों/धर्म में संलग्न आत्मा मित्र है।

जिस समय हमारी आत्मा औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव में होती है, तब वह मित्र होती है और वही आत्मा जब औदयिक भाव में होती है तो शत्रु बन जाती है। दूसरे शब्दों में कर्मों का उपशमन, हलकपन और क्षय हमारे सुख का उपादन कारण है और कर्मों का उदय दुःख का। हमारी साधना का उद्देश्य कर्मों के उपशमन, हलकपन और क्षय की स्थिति प्राप्त करना है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है कि औदयिक भाव का निरोध ही हमारी समग्र साधना का

चरम ध्येय है। इस उद्देश्य को लेकर यदि व्यक्ति चलता रहे तो उसके सामने किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आ सकती। कठिनाई तभी आती है, जब व्यक्ति इस मूलभूत उद्देश्य को भूलकर, ख्याति, प्रतिष्ठा, नाम आदि वैभाविक तत्त्वों में उलझ जाता है।

साधना की बात हम दो क्षण के लिए छोड़ें, सामान्य रूप से भी आदमी कोई प्रवृत्ति करता है तो उसमें नाम की भावना ज्यादा रखता है। काम करके नाम की आकांक्षा करे, यहां तक तो व्यावहारिक भूमिका में चल सकता है, पर काम के बिना नाम या थोड़ा काम और अधिक नाम, यह मनोवृत्ति सचमुच बड़ी खतरनाक है। हम देखें, काम पशु भी करता है, पर वह कभी नाम या प्रतिष्ठा की भावना नहीं रखता।

शक्ति का सदुपयोग या दुरुपयोग

मैं मानता हूँ, मनुष्य एक विवेकशील और चिंतनशील प्राणी है। उसके पास वह शक्ति है, जिससे वह अपने जीवन को बहुत ऊंचा उठा सकता है। आत्मा से महात्मा और महात्मा बन सकता है। किंतु कठिनाई यह है कि वह अपनी शक्ति का सदुपयोग कम करता है, दुरुपयोग ही अधिक करता है। इसलिए वह शक्ति उसे अमानवीय प्रवृत्तियों की ओर जे जा रही है। पर यह शक्ति का कोई दोष नहीं है। शक्ति अपने-आपमें सर्वथा निर्दोष है। दोष है व्यक्ति के गलत उपयोग का। अच्छी-से-अच्छी वस्तु भी गलत उपयोग से मनुष्य के लिए अहितकारी सिद्ध होती है। विकास के जितने साधन हैं, वे ही ह्रास के साधन भी बन जाते हैं, जब उनका दुरुपयोग किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि आदमी जब स्वयं चिंतनशील एवं विवेकशील प्राणी है, फिर उसे पथ-दर्शन की क्या अपेक्षा है? यह ठीक है कि आदमी में चिंतन है, विवेक करने की शक्ति है, पर साथ ही यह भी मानना होगा कि खतना भी आदमी से ही सबसे अधिक है। हिंसक-से-हिंसक पशु भी आपवादिक स्थिति को छोड़कर बिना भूख या बिना प्रयोजन दूसरों के लिए खतरा नहीं बनता। पर मनुष्य से हरदम खतरा बना रहता है। वह ऊपर-से-ऊपर उठ सकता है तो नीचे-से-नीचे भी जा सकता है। इसलिए उसको पथ-दर्शन का सदा अपेक्षा रहती है।

मनुष्य के इस विकास और ह्रास को समझने के लिए भावों का ज्ञान अत्यंत महत्वपूर्ण है। हम सूत्र रूप में इस तथ्य को स्वीकार करें

कि हमें आत्मोत्थान या धार्मिक विकास की जो भी स्थिति प्राप्त होती है, वह औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों से ही प्राप्त होती है। इसके विपरीत आत्म-पतन या धर्मिक ह्रास की जो भी स्थिति बनती है, वह एकमत्र औदयिक भाव के कारण बनती है। कुछ लोग अज्ञानवश ऐसा कह दिया करते हैं कि पुण्योदय से हमें संतों के दर्शन प्राप्त हुए, प्रवचन सुनने को मिला.....उनको ख्याल रखना चाहिए कि पुण्यादेय से धन, संपत्ति, संतन आदि भौतिक सुख-सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि तत्त्व पुण्योदय से कभी प्राप्त नहीं हो सकते। ये सब तत्त्व तो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से ही उपलब्ध हो सकते हैं।

जैन-दर्शन में पांच भावों का बहुत विस्तृत विर्णन प्राप्त है। ये पांच भाव जैन-दर्शन के मूल हैं। इनको समझे बिना हम जैन दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा और धर्म को भी नहीं समझ सकते। क्यों ? यह इसलिए कि दूसरे-दूसरे अनेक दर्शनों में उत्थान-पतन, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि बातें ईश्वर द्वारा प्राप्त हैं। वे इनके लिए व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं मानते। पर जैन-दर्शन तो इन सब बातों के लिए पग-पग पर व्यक्ति के पुरुषार्थ व चिंतन को ही जिम्मेदार मानता है। तात्पर्य यह कि जैन-दर्शन आत्म-कर्तृत्ववादी दर्शन है, ईश्वर-कर्तृत्ववादी दर्शन नहीं। इसलिए मैंने कहा, भावों को समझना बहुत आवश्यक है।

पांच भावों में से औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों के प्रकारों का विवेचन मैं पिछले प्रवचनों में कर चुका हूँ। अब आप यह जानें कि औदयिक भाव के कितने प्रकार हैं।

औदयिकस्य अज्ञान-निद्रा-सुख-दुःख-आश्रव-वेद-आयुर्गति-जाति-शरीर-लेश्या-गोत्र-प्रतिहतवीर्यत्व-छन्नस्थ-असिद्धत्वाद्यः।

अज्ञान, निद्रा, सुख-दुःख, आश्रव, वेद, आयु, गति, जाति, शरीर, लेश्या, गोत्र, प्रतिहत शक्ति, छन्नस्थता, असिद्धता आदि औदयिक भाव के विभिन्न प्रकार हैं।

अज्ञानहजैसाकि मैं पहले एक-दो बार स्पष्ट कर चुका हूँ, अज्ञान के दो प्रकार हैं। कुत्सित ज्ञान (मिथ्यात्वी का ज्ञान) और ज्ञान का अभाव। इनमें से प्रथम प्रकार का अज्ञान (मिथ्यात्वी का ज्ञान) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिलता है। पर यहां जिस अज्ञान की बात कही गई है,

वह ज्ञान के अभाव का नाम है। यह अज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से नहीं, अपितु उसके उदय से पैदा होता है। आप पूछेंगे कि यह अज्ञान किसमें है? मैं पूछता हूँ, यह किसमें नहीं है? जब तक व्यक्ति केवलज्ञान को उपलब्ध नहीं हो जाता, तब तक किसी-न-किसी सीम में यह अज्ञान हर प्राणी में विद्यमान रहता है।

निद्राहनिद्रा दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। जिसके दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उसकी नींद बहुत गहरी होती है। इसके विपरीत जिसके दर्शनावरणीय कर्म का उदय अत्यंत मंद होता है, उसकी नींद भी बहुत हलकी होती है। इस तरतमता को ध्यान में रखते हुए निद्रा के पांच प्रकार बताए गए हैं१. निद्रा २. निद्रा-निद्रा ३. प्रचला ४. प्रचल-प्रचला ५. स्त्यानर्द्धि

निद्राहजो निद्रा सुख से आए और सुख से उड़ जाए।

निद्रा-निद्राहजो निद्रा आए भी कठिनाई से और उड़े भी कठिनाई से।

प्रचलाहबैठे-बैठे और खड़े-खड़े आनेवाली निद्रा।

प्रचला-प्रचलाहचलते-चलते आनेवाली निद्रा

स्त्यानर्द्धिहमौत के तुल्य गहरी निद्रा। शास्त्रों में इसका विवेचन करते हुए यहां तक बताया गया है कि व्यक्ति नींद में अपने स्थान से उठता है, वहां से चलकर हाथी से संघर्ष करता है और उसके दांतों को निकाल कर ले आता है। इसके बावजूद उसको कुछ पता नहीं चलता। इस निद्रावाला व्यक्ति नरकगामी होता है।

गंगाशहर

२९ अगस्त १९७८

४६ : औदयिक भाव के प्रकार (२)

संसार के प्रत्येक प्राणी में औदयिक भाव (चौदहवें गुणस्थान तक) और क्षायोपशमिक भाव (बारहवें गुणस्थान तक) दोनों समान रूप से चलते हैं। यदि औदयिक भाव न हो तो प्राणी मुक्त हो जाता है और यदि क्षायोपशमिक भाव न हो तो वह प्राणी नहीं रहता। कल से यहां पर्युषण पर्व प्रारंभ हो गया। हजारों-हजारों लोग अपनी शक्ति के अनुसार इस पर्व की आराधना कर अपनी आत्मा को भावित कर रहे हैं। यह क्षायोपशमिक भाव का प्रभाव है। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो इस पर्व का महात्म्य नहीं समझते, इसका सही अंकन नहीं करते, इसकी सम्यक आराधना नहीं करते। यह औदयिक भाव का प्रभाव है। जब तक यह भाव तीव्र रहता है, तब तक व्यक्ति न तो तत्त्व का सही अंकन कर पाता है और न सही आचरण ही।

मुनि भिक्षा के लिए गए। गृहपति की देने की इच्छा नहीं है। आप पूछेंगे कि क्या कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति की साधु को देने की इच्छा न हो। सब श्रावक ही होते हैं, उदार ही होते हैं सोचते हैं ? संसार में सभी तरह के लोग होते हैं। साधु-संतों का देकर प्रसन्न होनेवाले होते हैं तो साधु-संतों को न देने की भावना रखनेवालों की भी नास्ति नहीं है। पर ऐसे लोग भी लोक-निंदा के भय से मुनि को भिक्षा दे देते हैं। यह लोक-निंदा का भय औदयिक भाव का ही परिणाम है। यदि क्षायोपशमिक भाव हो तो व्यक्ति को त्यागी साधु-संतों को दान देने में सहज प्रसन्नता की अनुभूति होगी।

प्रश्न होगा कि जब औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव दोनों साथ-साथ चलते हैं, फिर हमें क्या करना चाहिए। इस प्रश्न का समाधान हर भाई-बहन को गहराई से समझना चाहिए। इस स्थिति में हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम क्षयोपशमिक भाव को तीव्र करें

और दौदयिक भाव को क्षीण। यद्यपि औदयिक भाव को चौदहवें गुणस्थान तक भी हम सर्वथा समाप्त नहीं कर सकते, तथापि उसको दुर्बल अवश्य कर सकते हैं। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अपने औदयिक भाव को इतना दुर्बल बनाएं, जिससे कि वह नगण्य-सा बन जाए। यों जब तक शरीर है तब तक थोड़ी-बहुत व्याधि रहती ही है।

और कोई व्याधि किसी के चाहे न भी हो, लेकिन भूख-प्यास और नींद की व्याधि से कोई नहीं बच सकता। पर जहां स्वास्थ्य प्रबल होता है, वहां यह अस्वास्थ्य दिखाई ही नहीं पड़ता। ठीक यही बात है भावों के बारे में। यदि हम प्रत्यत्नपूर्वक क्षायोपशमिक भाव को तीव्र कर लें तो औदयिक भाव रहकर भी बिलकुल नहीं के समान हो जाएगा।

निराशा से बचें

मुझे बहुधा पूछा जाता है कि अणुव्रत का कार्य करते आपको इतने वर्ष हो गए, क्या आपने सारे संसार को नैतिक बना दिया। ऐसा प्रश्न करनेवालों को समझना चाहिए कि कोई नैतिक आंदोलन, चाहे वह अणुव्रत हो या अन्य कोई, सारे संसार को कभी नैतिक नहीं बना सकता। आप कहेंगे, ऐसी स्थिति में आंदोलन चलाने का अर्थ ही क्या। यह सोच सम्यक नहीं है। भले सारा संसार नैतिक न बने, पर हमें तो अपना पुरुषार्थ करना ही चाहिए। हमारे प्रयत्न से जितने लोग नैतिक बनें, उतना तो अच्छा है ही। कोई कह सकता है कि यह तो निराशा की बात हो गई। नहीं, यह निराशा की बात कदापि नहीं है, बल्कि वास्तविकता को समझना है। मैं इस बात का पक्षपाती हूं कि व्यक्ति को आशा उतनी ही करनी चाहिए, जितनी संभव हो। अति आशा का परिणाम कभी सुखद नहीं होता। अप्रत्यक्ष रूप में वह निराशा को ही आमंत्रण है। इसलिए इस वास्तविकता को समझते हुए कि कुछ प्रतिशत लोग ही सुधरेंगे, सारा संसार कभी नहीं सुधरेगा, हम अपना कार्य अतीत में करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। इस वास्तविकता को समझने के कारण ही हमारे सामने कभी निराशा होने का अवसर नहीं आता। हमारा एक ही प्रयत्न है कि नैतिकता का पलड़ा अनैतिकता के पलड़े से भारी हो जाए। वर्तमान में वह अनैतिकता के पलड़े से हलक हो गया। यदि यह कार्य हो जाता है तो हम अपने प्रयत्न में पूर्ण सफल हैं।

सफलता की कसौटी

मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि संसार के सभी महापुरुषों ने

आखिर क्या किया? क्या वे सारे संसार को नैतिक य धार्मिक बना पाए? जब वे भी सारे संसार को सुधारने में सफल नहीं हुए, तब हम कैसे सारे संसार को सुधारने की बात सोच सकते हैं? पर इसमें महापुरुषों की किंचित भी विफलता नहीं है। लोगों को सुधारने के लिए उन्होंने पुरुषार्थ किया, प्रयत्न किया, पर सारे संसार को सुधारने का जिम्मेदारी कभी नहीं ली। जितनी लोगों ने उनका उपदेश स्वीकार किया, उनका सुधार हुआ। पर जिन्होंने उनका उपदेश को स्वीकारा ही नहीं, उनका सुधार वे कैसे करते? आखिर उपदेश देनेवाला उपदेश दे सकता है, रास्ता बता सकता है, पर किसी को जबरदस्ती धार्मिक तो नहीं बना सकता। इसलिए चाहे किसी भी महापुरुष का युग क्यों न रहा हो, वे अपने युग में कुछ प्रतिशत लोगों को ही सुधार पाए हैं, सारे संसार को नहीं। पर जैसाकि मैंने कहा, यदि किन्हीं महापुरुषों के प्रयत्न से अच्छाई का पलड़ा बुराई के पलड़े से भारी हो जाए तो महापुरुष अपने लक्ष्य में पूर्ण सफल हैं। परंतु ऐसा नहीं भी होता है तो उनके विफल होने का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि महापुरुष का मुख्य उद्देश्य अपने कर्तव्य का पालन करना होता है। संसार का सुधारना या न सुधारना उनकी सफलता और विफलता की कसौटी नहीं है।

हां, तो मैं आपसे औदयिक भाव एवं क्षायोपशमिक भाव की बात कह रहा था। यदि औदयिक भाव को हम अत्यंत कमहोर बना दें और क्षायोपशमिक भाव को तीव्र कर दें तो हमारे विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात और है। अखिर यह कार्य हर व्यक्ति को स्वयं ही करना होगा। दूसरा केवल निमित्त बन सकता है। और वह भी उस स्थिति में, जब व्यक्ति स्वयं इसके लिए तैयार हो। सीढ़ियां ऊपर चढ़ने में तभी सहयोगी बनती हैं, जब व्यक्ति स्वयं ऊपर जाने के लिए तैयार हो। जो स्वयं ऊपर जाने के लिए तैयार नहीं, उसके लिए सीढ़ियां कुछ भी नहीं कर सकतीं। मैं आपके औदयिक भाव को दुर्बल बनाना चाहता हूँ, समाप्त करना चाहता हूँ। उसके स्थान पर क्षायोपशमिक भाव को तीव्र करना चाहता हूँ, क्षायिक भाव लाना चाहता हूँ। मैं इसमें निमित्त बन सकता हूँ। पर यह संभव तभी है, जब आप स्वयं इसके लिए प्रस्तुत हों। अन्यथा मैं लाख प्रयत्न करूं तो भी आपमें किंचित भी परिवर्तन नहीं कर सकता। हमारा निश्चित सिद्धांत है कि अस्थान और पतन दोनों का उपादान कारण व्यक्ति स्वयं है। दूसरे

तो मात्र निमित्त बनते हैं। इसलिए आप सबको इस बात की पुनः-पुनः प्रेरणा करता हूँ कि आप अपने औदयिक भाव को कमजोर, अति कमजोर और समाप्त करने का प्रयास करें।

औदयिक भाव के कुछ प्रकारों की चर्चा मैं कर चुका हूँ। उसके अन्य प्रकारों को भी समझना है।

सुख-दुःख प्राणी संसार में विभिन्न रूपों में सुख-दुःख को भोगता है। यह वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है। सातवेदनीय कर्म के उदय के फलस्वरूप सुख और असातवेदनीय कर्म के उदय के फलस्वरूप दुःख की प्राप्ति होती है।

आश्रव जीव के कर्म-बंध का हेतु आश्रव है। आश्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें प्रथम चार आश्रव और अशुभ योग आश्रव का कारण मोहनीय कर्म का उदय है। शुभ योग आश्रव नाम कर्म के उदय की परिणति है।

वेद ह्वासनाजन्य विकार वेद है। यह भी मोहनीय कर्म के उदय के कारण पैदा होता है।

आयु जीव संसार में रहता है, यह आयुष्य कर्म के उदय का परिणाम है।

गति, जाति, शरीर प्राणी संसार में विभिन्न गतियों और जातियों में पैदा होता है। वह नाना प्रकार के शरीर धारण करता है। ये सारी प्राप्तियों नाम कर्म के उदय के फलस्वरूप हैं। शुभ नाम कर्म के उदय से यह चीजें शुभ रूप में तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से ये चीजें अशुभ रूप में प्राप्त होती हैं। किसी व्यक्ति को सुडौल शरीर मिलता है, यह शुभ नाम कर्म का प्रभाव है। इसके विपरीत किसी को बेडौल शरीर मिलता है, यह अशुभ नाम कर्म के कारण है। कोई व्यक्ति सबको प्रिय लगता है, यह शुभ नाम कर्म के उदय के कारण है। कोई सबको अप्रिय लगता है, यह अशुभ नाम कर्म के कारण है।

हम देखते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके आदेश को बिना किसी ननु-नच उसके परिवारवाले तत्काल स्वीकार कर लेते हैं। इसके विपरीत ऐसे व्यक्तियों को भी कमी नहीं है, जिनके आदेश पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता। वचन की यह आदेयता और अनादेयता क्रमशः शुभ और अशुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होती है। यदि किसी व्यक्ति

को यह आदेयत प्राप्त है तो मानना चाहिए कि उसके शुभ नाम कर्म का उदय है। इसके विपरीत यदि किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया जात तो ऐसा समझना चाहिए कि उसके अशुभ नाम कर्म का उदय है।

एक विशाल संयुक्त परिवार था। लगभग पचास व्यक्तियों के उस परिवार पर एक वृद्ध व्यक्ति का अनुशासन था। सब उसकी बात को सहर्ष स्वीकार करते थे। व्यापार-व्यवसाय अच्छा चलता था। सारा परिवार अत्यंत आनंदपूर्वक दिन गुजारता था। पर आप जानते हैं कि किसी के भी सब दिन एक समान नहीं होते। उनमें उतार-चढ़ाव आता रहता है। इस परिवार के भी दिन बदले। व्यापार में एकाएक इतना बड़ा घाटा लगा कि सारी आर्थिक व्यवस्था लड़खड़ा गई। पेट भरने के भी लाले पड़ गए। आखिर परिवार के सब सदस्य उस वृद्ध नायक के समक्ष उपस्थित हुए और उससे समस्या का समाधान पूछा। वृद्ध परिवार-नायक ने सबको अपने साथ जंगल में चलने के लिए कहा। आदेश मिलते ही सब वृद्ध के नेतृत्व में जंगल के लिए रवाना हो गए। जंगल में पहुंचकर वृद्ध ने एक ऐसे स्थान पर पड़ाव डला, जहां सरकंडों के सैकड़ों-सैकड़ों पौधे थे। वृद्ध ने सरकंडों को काटने और उन्हें कूट-पीटकर रस्सियां बनाने का आदेश दिया। बस, आदेश मिलने की देरी थी, वहां रस्सी बनाने का एक कारखाना-सा खुल गया। और देखते-ही-देखते कुछ ही समय में मोटी-मोटी रस्सियां बनकर तैयार हो गईं। तब उस परिवारवालों ने वृद्ध नायक से पूछाह 'अब क्या करें ?' वृद्ध ने आदेश दियाह 'सामनेवाले वृक्ष को बांधो।'

उस वृक्ष में एक यक्ष का निवास था। वह घबराया। वृद्ध के अनुशासन और परिवारजनों की एकता देखकर उसके मन में विश्वास हो गया कि सचमुच ये मुझे बांध लेंगे। वह तत्काल वृद्ध के समक्ष उपस्थित हुआ और बोलाह 'क्या कर रहे हो तुम लोग ?' वृद्ध ने प्रतिप्रश्न कियाह 'देखते नहीं ?' यक्ष ने घबराहट के स्वर में पूछाह 'ये रस्सियां क्यों बनाई हैं ?' वृद्ध ने कहाह 'तुम्हें बांधेंगे।' यक्ष भय से कांपने लगा। वह तत्काल वृद्ध के चरणों में गिरकर गिड़गिड़ाता हुआ बोलाह 'मुझे मत बांधो।' वृद्ध ने तेज स्वर में कहाह 'बांधें नहीं तो खाएं किसे ?' यक्ष ने आश्वस्त करते हुए कहाह 'तुम निश्चित हो घर पर जाओ। तुम्हारे किसी बात का अभाव नहीं रहेगा।'

वृद्ध अपने पूरे परिवारसहित घर लौट आया। देखते-देखते सारी स्थिति बदल गई। व्यापार दिन दुगुना और रात चौगुना बढ़ने लगा। वह मालामाल हो गया। सारा परिवार पुनः सानंद रहने लगा।

उसके पड़ोस में ही एक दूसरा परिवार रहता था। वह भी काफी बड़ा था। पर एक कमी थी। परिवार-नायक के आदेश की पालना कोई नहीं करना चाहता था। उस परिवार के नायक को जब खबर लगी कि मेरा पेड़ोसी जंगल में जाकर मालामाल हो गया है तो उसका मन भी ललचाया। उसने भी परिवार के लोगों को जंगल में चलने का आदेश दिया। पर सहर्ष चलने को कोई तैयार नहीं हुआ। आखिर काफी कड़ा कहने पर बड़ी मुश्किल से सब चलने के लिए तैयार हुए। उस परिवार के वृद्ध नायक ने भी वहीं पड़ाव डाला, जहां पहले परिवार के नायक ने डाला था। वहां जाकर उसने भी रस्सियां बनाने और उसी वृक्ष को बांधने का आदेश दिया। पर रस्सी कौन बनाए, इस बात को लेकर विवाद खड़ा हो गया। बड़ा भाई कहने लगा कि छोटा भाई बनाएगा और छोटा भाई कहने लगा कि बड़ा बनाएगा। जेठानी कहने लगी कि देवरानी बनाएगी और देवरानी कहने लगी जेठानी बनाएगी। किसी ने तो यहां तक भी कह दिया कि यह बूढ़ा बैठा-बैठा क्या करता है। हमें-ही-हमें काम करने के लिए कहता है, खुद तो कुछ भी नहीं करता। आखिर बड़ी मुश्किल से पांच-सात रस्सियां बनीं। यक्ष सारी स्थिति गौर से देख रहा था। वह आश्वस्त था कि ये कुछ भी नहीं कर सकते। वह विकराल आकृति में उस वृद्ध परिवार-नायक के समक्ष उपस्थित हुआ और उसने वही प्रश्न दोहरायाह 'ये रस्सियां क्यों बनाई हैं ?' वृद्ध ने पहले से रटा-रटाया उत्तर दियाह 'तुम्हें बांधने के लिए।' इस पर यक्ष ने आंखें लाल करते हुए कहाह 'यहां से तत्काल भाग जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें और तुम्हारे परिवार के एक-एक सदस्य को यहीं ढेर कर दूंगा। अपना परिवार तो तुमसे बंधता हवी नहीं और मुझे बांधने के लिए आए हो !'

वह परिवार-नायक घबरायाहयहां तो लेने के देने पड़ गए। अब यहां एक क्षण भी रुकना खतरे से खाली नहीं है। वह तत्काल परिवार को लेकर घर की ओर रवाना हो गया।

बंधुओ! आदेयता और अनादेयताहइन दोनों की स्थिति और परिणाम के अंतर को आपने देखा। जैसा कि मैंने कहा, आदेयता और

अनादेयता दोनों ही नाम कर्म के उदय से ही मिलती हैं। इसी प्रकार सुरूपता, कुरूपता, मधुरस्वरता, कर्कशस्वरता आदि अनेक चीजें नाम कर्म के उदय से मिलती हैं।

लेश्याह आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामज्जीं को लेश्या कहा जाता है। लेश्या भी नाम कर्म के उदय के कारण ही प्राप्त होती है। शुभ नाम कर्म के उदय से शुभ लेश्या-शुभ आत्म-परिणाम तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से अशुभ लेश्याहअशुभ आत्म-परिणाम प्राप्त होते हैं। आत्म-परिणामों के अशुभ होने में मोहनीय कर्म का उदय योगभूत होता है।

गोत्रह प्राणी विभिन्न रूपों में उच्चता और न्यूनता को प्राप्त होता है। यह गोत्र कर्म के उदय का प्रभाव है। शुभ गोत्र कर्म के उदय से उच्चता तथा अशुभ गोत्र कर्म के उदय से न्यूनता की उपलब्धि होती है।

प्रतिहत शक्तिह अंतराय कर्म के उदय से प्राणी की आत्म-ऊर्जा में रुकावट आती है।

छद्मस्थताह यह भी औदयिक भाव ही है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय कर्म के उदय से छद्मस्थता की स्थिति रहती है। जिस दिन इन तीन कर्मों का सर्वथा उदय नहीं रहता, उस दिन छद्मस्थता भी नहीं रहती।

असिद्धत्वह अघाती कर्महवेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र के उदय से असिद्धत्व की प्राप्ति होती है। तेरहवें गुणस्थान में घाती कर्मों के पूर्णतया नष्ट हो जाने के बाद भी अघाती कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं। इनके उदय के कारण ही चौदहवें गुणस्थान तक प्राणी सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता। जब ये सर्वथा क्षीण हो जाते हैं यानी इनका उदय समाप्त हो जाता है, तभी जीव सिद्ध बनता है।

औदयिक भाव की लंबी चर्चा को अब मैं संपन्न करता हूँ। इस भाव की इतनी विस्तृत चर्चा का मूलभूत उद्देश्य यही है कि आप इस भाव को गहराई से समझें। जब तक इसे गहराई से समझा नहीं जाएगा, तब तक इससे मुक्त होने का प्रयास भी कैसे हो सकेगा? और इससे मुक्त हुए बिना संसार से मुक्त होने की बात बेमानी हो जाएगी। चूंकि हम सबका लक्ष्य इस संसार से मुक्त होना है, इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि हम सलक्ष्य इससे मुक्त होने का प्रयास करें।

गंगाशहर, ३१ अगस्त १९७८

४७ : पारिणामिक भाव के प्रकार

औदयिक भाव के विभिन्न प्रकारों की चर्चा के पश्चात आज मैं आपको पारिणामिक भाव के प्रकारों पर कुछ बताना चाहूंगा। जैसाकि मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि अपने-अपने स्वभाव में परिणत होने का नाम परिणाम है। उससे होनेवाली आत्मा की अवस्था या परिणाम को ही पारिणामिक भाव कहा जाता है। प्रकृति का यह निश्चित सिद्धांत है कि कोई वस्तु अपने स्वभाव को छोड़कर परभाव में नहीं जाती। आप हजार प्रयास करें, फिर भी अग्नि कभी उष्णता के अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकती।

पारिणामिकस्य जीवत्व-भव्यत्व-अभव्यत्वादयः ।

पारिणामिक भाव के प्रकार हैं जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि।

जीवत्व जीवत्व/चेतना जीव का स्वभाव है। कोई भी जीव अपने जीवत्व के स्वभाव को छोड़कर कभी जीव नहीं रह सकता। हालांकि उसकी अवस्था में विभिन्न परिवर्तन होते हैं, तथापि जीवत्व का उसका मूल स्वभाव सदा उसी रूप में बना रहता है। प्राणी एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय बन जाता है, पंचेंद्रिय से एकेंद्रिय बन जाता है। द्वीन्द्रिय से पंचेंद्रिय बन जाता है, त्रीन्द्रिय से पंचेंद्रिय बन जाता है, पंचेंद्रिय से अतीन्द्रिय भी बन जाता है.....इसके बावजूद वह रहेगा जीव ही। किसी भी अवस्था को प्राप्त कर वह अजीब नहीं बन सकता।

पूछा जा सकता है कि प्राणी अतीन्द्रिय किस अवस्था में बनता है। प्राणी अतीन्द्रिय दो अवस्थाओं में बनता है। पहली तो उसकी इंद्रियां बेकार हो जाएं या फिर वह सिद्ध बन जाएं। इंद्रियां भी दो अवस्थाओं में बेकार होती हैं। इंद्रियों के खराब होने से या केवलज्ञान प्राप्त होने से पहले अवस्था में जब इंद्रियों की पौद्गलिक आकृति या शक्ति नष्ट हो जाती है, तब वे बेकार हो जाती हैं। दूसरी अवस्था में जब व्यक्ति केवलज्ञान

को उपलब्ध हो जाता है, तब उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है, इस अपेक्षा से वे बेकार हैं। पर इन सब अवस्थाओं में भी जीव का जीवत्व कभी नष्ट नहीं होता। यानी प्राणी चाहे संसार की विभिन्न जातियों एवं गतियों में रहे, चाहे संसार से मुक्त भी हो जाए, पर उसका जीवत्व अपरिवर्तनशील है।

भव्यत्वहमोक्ष जाने की योग्यता को भव्यत्व कहा जाता है।

अभव्यत्वहमोक्ष जाने की अयोग्यता या अपात्रता अभव्यत्व कहलाती है।

हम जानते हैं कि कोई व्यक्ति सभी दृष्टियों से योग्य या अयोग्य नहीं होता। हर प्राणी की योग्यता और अयोग्यता सदा सापेक्ष ही होती है। आप लोग व्यापारी हैं। व्यापार की दृष्टि से योग्य हो सकते हैं। पर यदि आपको कह दिया जाए कि वायुयान चलाना है तो संभवतः आप सब अयोग्य साबित होंगे। इसी प्रकार जो वायुयान का चालक है, वह वायुयान चलाने की दृष्टि से योग्य है। किंतु यदि उसे व्यापार की दृष्टि से परखा जाए तो वह सर्वथा अयोग्य साबित हो सकता है। इसलिए मैंने कहे कि योग्यता और अयोग्यता सदा सापेक्ष होती है। भव्य प्राणी मोक्ष जाने की योग्यता रखते हैं और अभव्य प्राणी मोक्ष जाने की दृष्टि से अयोग्य होते हैं। हमें यहां समझना यह है कि भव्य प्राणी कभी अभव्य नहीं बन सकते। यानी वे भव्यत्व के स्वभाव से कभी विलग नहीं होते। इसी प्रकार अभव्य प्राणी भी कभी भव्य नहीं बनते। यानी उन्हें त्रिकाल में भी मोक्ष जाने की योग्यता प्राप्त नहीं होती।

हमारी धर्म-सभा में भव्य प्राणी ही आते होंगे, क्योंकि अभव्य यहां आकर करें भी क्या ! वास्तव में धर्म और अध्यात्म के प्रति उन्हें ही अभिरुचि हो सकती है, जो मोक्षगमन की योग्यता रखते हैं। बावजूद इसके, हमारी धर्म-सभा में अभव्य प्राणियों के आने की सर्वथा नास्ति नहीं है। पर तीर्थङ्करों की सभा में कोई अभव्य प्राणी आ ही नहीं सकता। यह अनादिकालीन परंपरा है। पूछा जा सकता है, भव्यत्व किस कर्म का क्षयोपशम है और अभव्यत्व किस कर्म का उदय है। चूंकि भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों की कर्मजन्य नहीं हैं, अतः भव्यत्व किसी कर्म का क्षयोपशम नहीं और अभव्यत्व किसी कर्म का उदय नहीं। यह अनादि परिणाम (प्राकृतिक स्थिति) है। इसे हम त्रिकाल में भी बदल

नहीं सकते। हमारी बात तो छोटी है, तीर्थकरदेव भी इसे बदलने में अक्षम हैं।

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भव्य और अभव्य प्राणियों का अवस्था में परिवर्तन होता है या नहीं। अवस्था में परिवर्तन तो होता ही है। आज जो एक भव्य प्राणी एकेंद्रिय है, वह कभी द्वीन्द्रिय बन सकता है, फिर कभी पंचेंद्रिय बन सकता है, फिर कभी.....। इसी प्रकार अभव्य प्राणी की अवस्थाओं में भी नाना परिवर्तन होते रहते हैं। आन सुनकर आश्चर्य करेंगे कि एक अभव्य प्राणी मुनि, उपाध्याय और आचार्य भी बन सकता है। पर वह होगा द्रव्य उपाध्याय और द्रव्य आचार्य ही। भाव साधुत्व उसमें कभी नहीं आ सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तन सभी प्राणियों में होता है, चाहे वे भव्य हों या अभव्य। मात्र भव्यत्व और अभव्यत्व की दृष्टि से उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

बंधुओ! परिवर्तन का यह सिद्धांत शाश्वत और महत्त्वपूर्ण है। यदि परिवर्तन न हो तो संसार का कोई पदार्थ टिक नहीं सकता। दूसरे शब्दों में इस संसार का भी कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। पर आप निश्चित रहें, त्रिकाल में भी ऐसा कभी संभव नहीं है। परिवर्तन का क्रम हर पदार्थ में अनवरत चालू रहता है। इस सिद्धांत को आप गहराई से समझें। मेरा विश्वास है, यदि आप इस सिद्धांत को गहराई से समझ लेंगे तो प्रतिदिन होनेवाली परिवर्तन को देखकर कभी घबराएंगे नहीं। कठिन-से-कठिन परिस्थिति को भी जीवन की अनिवार्यता समझकर हंसते-हंसते पार कर जाएंगे।

गंगाशहर

१ सितंबर १९७८